१८४

हिन्दी-समीक्षा

डॉ॰ कृष्ण वल्लभ जोशी

नव्य हिन्दी-समीक्षा

लेखक
डॉ० कृष्ण वल्लभ जोशी

ग्रन्थम
रामबाग-कानपुर

प्रकाशक
ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर–१२

लेखक
डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी

प्रकाशनकाल
मई १९६६

मूल्य : सोलह रुपये

आवरण चित्रकार
श्री एस० मतवाला

आवरण मुद्रक
मनोहर प्रिण्टिग प्रेस, कानपुर

मुद्रक
मानक प्रिण्टर्स, आनन्दबाग, कानपुर–१

जिनके व्यक्तित्व ने मुझे गाम्भीर्य और औदार्य दिया,

तथा

जिन्हें इस प्रबन्ध को इस रूप में देखकर अपार हर्ष होता,

उन्हीं प्रातः स्मरणीय देवतुल्य

स्वर्गीय बद्री मामा जी

की पुण्य स्मृति को

सादर समर्पित

आत्म निवेदन

आलोचना साहित्य का नवनीत है। आलोचक कृतिकार की विकसित अनुभूति और संवेदन क्षमता के माध्यम से अप्रत्यक्ष और अप्रच्छन्न रूप से आये हुए उन समग्र राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और दार्शनिक तत्वों का अपनी अप्रतिम मेधा से बिलोकर पाठकों के लिए नवनीत तैयार करता है जो कृति का सार तत्व होता है और कृतिकार का अभिप्रेत। मन्थन की यह प्रक्रिया आलोचक को दोनों ओर से— पाठक की ओर से भी और कृतिकार की ओर से भी बंदी बना लेती है और वह दोनों के प्रति उत्तरदायी हो जाता है। ग्राहक की वैयक्तिक रुचि और सामाजिक स्वास्थ्य को रचनाकार तो कलात्मक रूप से अनुभूतिमय अभिव्यक्ति प्रदान करता ही है, जिसका कि पाठक-समाज के अंतर्मन पर, अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ता रहता है जो उसके लिए अज्ञेय है पर प्रभावशील अवश्य, किन्तु आलोचक तो समाज का सर्वाधिक बौद्धिक सदस्य होने के कारण अपनी मनीषा के माध्यम से पाठक के सामने सारी प्रक्रियाओं का उद्घाटन करता है, जो कि कृति का रसास्वादन करने के लिए आवश्यक होती है, वह उन सारी अवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है जो पाठकों के हृदय में सत्व का उद्रेक करती है और वह 'ब्रह्मानन्द सहोदर' का आस्वादन करता है। कृति विशेष में इस 'सत्व' का उद्रेक कितनी मात्रा में होता है? यह वही 'सत्व' का उद्रेक है जिसकी चरम परिणति 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' में होती है, अथवा रचनाकार पाठक को झुठलाता नहीं रहा है? जब आलोचक पाठक के सामने कृति का यह बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है तब केवल पाठक और आलोचक का ही सीधा-सीधा सम्बन्ध नहीं रहता अपितु आलोचक का एक साथ पाठक और रचनाकार दोनों से ही सीधा सीधा सम्बन्ध निर्माण हो जाता है और यह सम्बन्ध पूर्णतः बौद्धिक होने के कारण दोनों के लिए अत्यधिक प्रभावशील और स्थायी भी।

इन सम्पूर्ण अवस्थाओं और इस लम्बी प्रक्रिया में वह पूर्णतः निरपेक्ष रहता है और कहीं भी अपनी वैयक्तिक रुचि और आदर्शों को पाठक और लेखक के ऊपर नहीं लादता। केवल कृति और उसके अंतर्गत आई हुई वे समस्त विचारणायें फिर चाहे उनमें सांस्कृतिक अथवा दार्शनिक विचारणाओं की बहुलता हो अथवा राजनैतिक या दार्शनिक विचारणाओं का प्राधान्य, उसकी विश्लेष्य होंगी।

आलोचक का कर्तव्य केवल कृति अथवा कृतिकार का निरपेक्ष मूल्यांकन मात्र नहीं रहता, उसका लेखक के प्रति एक कर्तव्य और होता है कि वह अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत का युग सत्य की पार्श्वभूमि में अध्ययन कर रचनाकार के लिए सृजन के नये आयामों (Dimensions) का अन्वेषण करें। उसका यह कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

हिन्दी में भी कई महती प्रतिभाओं ने इस ओर प्रयत्न किये हैं और लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया है।

मेरा प्रस्तुत प्रबंध उन नये आयामों का सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि में एक निरपेक्ष विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आलोचना के इन नये आयामों का उनकी सम्पूर्ण उपलब्धियों के साथ, इतना व्यापक रूप से विश्लेषण हिन्दी में पहली बार हुआ है। आलोचक नये आयामों का अन्वेषण किन सांस्कृतिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों में करता है और किस भांति उसके द्वारा अन्वेषित,यह आयाम प्रवृत्ति विशेष का रूप धारण कर लेता है आदि का विवेचन ही मेरे प्रबन्ध का मूल अभिप्रेत है। आलोचना में नये आयामों का उन्मेष उनकी नवीन प्रवृत्तियों में रूपान्तरित होने का भी एक ऐतिहासिक क्रम (Historical Process) होता है। वादों में कुण्ठित होने के पूर्व हिन्दी-आलोचना में हम स्वतन्त्र चेता आलोचकों की अवतारणा की कल्पना ही नहीं कर सकते।

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे आठ वर्षों के अटूट श्रम का परिणाम है। यों तो आठ वर्ष क्या अपने विद्यार्थी काल से ही आलोचना में रुचि रही है और आज से कोई बारह वर्ष पूर्व भी मेरे कितने ही आलोचनात्मक निबन्ध 'साहित्य-सन्देश', 'विशाल भारत', 'नया साहित्य', 'हंस' आदि में प्रकाशित हो चुके थे

और उनमे स कई ता 'साहित्य सन्देश' और 'प्रतीक' जैस पत्रो म कई महीना तक चर्चा के विषय बने रहे।

हा, इन दिनों अवश्य लिखना कम कर दिया था, कृषि विभाग के मासिक का सम्पादक और पश्चात् अग्रेजी का प्राध्यापक, और वह भी कृषि महाविद्यालय म। किन्तु इन विपरीत परिस्थितियों म भी हिन्दी लखन, पठन-पाठन के प्रति ईमानदार रहा हू, यही सतोष है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे मैंने नवनीत को मथने का दुस्साहस किया है, कदाचित इसे मैं कुछ और परिष्कृत स्वरूप द सकू। मुझसे, जबकि मैं साहित्यिक वातावरण से दूर रहा, कतिपय विदेशो म शिक्षित कृषि के आचार्य पूछत कि मुझे आलोचनात्मक निबध लिखन म वैयक्तिक रूप से क्या मिलता है ? ठीक है सामाजिक रूप से आप अपना कर्तव्य पालन कर रहे है, पर यही तो प्रेरणा स्रोत नहीं होता ? मैं उनसे कह दू कि रचनाकार की भाति आलोचक को भी 'सृजन का सुख' मिलता है।

मुझे इस प्रबध का लिखन के बाद इसकी अनुभूति हुई है।

हिन्दी प्रबन्ध लिखने पर जो मुझे सर्वाधिक कष्ट हुआ है वह इसे टाइप करवाने का, नात नहीं अन्य शोध छात्रों को यह कष्ट होता है अथवा नहीं। एक लम्बी अवधि और बड़ी लम्बी धनराशि व्यय होन पर भी जितना अशुद्ध, अस्वच्छ यह प्रबन्ध टाइप हुआ है उसका दोषी मैं ही नहीं, हिन्दी की उपेक्षा करने वाले भी हैं।

प्रस्तुत निबन्ध मे मैंने शब्द-रचना का कई स्थानो पर व्याकरण से थोडी मुक्ति दी है पर उससे भाषा मे अधिक सुघडता और कसावट आई है। अग्रेजी मे भी ऐसे कितने ही शब्द हैं जिनकी रचना दो तरह से होती है। मैंने उसम एकरूपता लाना आवश्यक नहीं समझा।

मैंने कितने ही आलोचकों को 'पण्डित' 'आचार्य' 'महान' आदि विशेषणो से सम्बोधित किया है, यह मेरी सहज विनम्रता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेष के प्रति मेरे हृदय म कोई अनादर की भावना हो, इसे अन्यथा नहीं समझा जाये।

मैंने प्रबन्ध पूर्ण होने की आशा ही छोड दी थी और निश्चित ही यह कभी भी पूर्ण नहीं होता, यदि मेरे परम आदरणीय आचार्य श्यामसुन्दर लाल

जो दीक्षित की प्रेरणा नहीं मिलती। यह सारा उन्हीं का प्रसाद है।" त्वदीय वस्तु गोविन्दम् तुभ्यमेव समर्पये" यों भी मैं तो उनकी अद्भुत कर्मेच्छा और अतलस्पर्शी मेधा से बहुत पहले से प्रभावित हूं। उनमें मुझे सदैव एक विदग्ध साहित्यकार के दर्शन हुए हैं। मेरे लिए तो उनका प्रेरणा-स्रोत शाश्वत रहा है अन्यथा मेरा आलोचक तो कभी का मुरझा गया होता।

इस प्रबंध के लिए दूसरे प्रेरक अंग्रेजी साहित्य के निष्णात पंडित प्राचार्य डी०-एम० बोरगावकर साहब रहे हैं जो मुझे लेखन के लिए सदैव प्रेरित करते रहे हैं। मेरे जैसे निर्बल आदमी को किसने सहारा नहीं दिया यदि मेरे अग्रज आचार्य बाबूलाल शुक्ल, भाषा एवं शोध-संस्थान, विश्व-विद्यालय जबलपुर तथा प्राचार्य रमेशचन्द्र चौबे एन० इ० एम० कालेज, जबलपुर का सक्रिय सहयोग नहीं मिलता तो यह प्रबंध विश्वविद्यालय तक पहुंच सकता था ? किन्तु वे मेरे इतने निकट हैं कि उनका आभार प्रदर्शन करना अत्यधिक औपचारिकता होगी।

अन्त मे मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूं जिनकी रचनाओं, निबंधों आदि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने मे सहायता ली गई है।

देवोत्थान एकादशी, २०१९
नृसिंहदास पैलेस,
हनुमानताल,
जबलपुर (म० प्र०)

—कृष्णवल्लभ जोशी

विषय-सूची

१

शुक्ल जी का आविर्भाव

पूर्ववर्ती आलोचना साहित्य एक संक्षिप्त अनुशीलन

साहित्य युग सापेक्ष होता है। उसकी समस्त विचारणायें, विधायें और शिल्पगत विशेषतायें, युग और परिस्थितियों की जीवन्त प्रेरणाओं से अभिप्रेरित होती हैं। साहित्यकार की विकसित अनुभूति प्रवणता और संवेदन-क्षमता युग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना को भी अनुभूत करने की सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि एक युग चेता साहित्यकार अपने में युग की समग्रता समेटे रहता है और युग की समस्त चेतना को वाणी देने का प्रयत्न करता है। यह चेतना जहाँ सांस्कृतिक चिन्तना और जागरण के रूप मे होती है वहीं वस्तुपरक भी। इसी वस्तुपरक चेतना के घात प्रतिघात से हमारी संस्कृति में कुछ जुड़ता रहता है और हमारी विगत प्रगतिशील परम्परायें, युग चेतना का नवीन स्पर्श पाकर हमारे भविष्य का मार्ग प्रशस्त करती हैं। इस भाँति हमारी सांस्कृतिक परम्परायें युग और काल की तरह सदैव गतिवान होती है उनमें जड़ता नहीं अपितु गति होती है — उस सुर-सरिता की भाँति जो कूड़ा-करकट किनारों पर छोड़कर युग का नवीन प्रवाह लेकर, निर्मल जला होकर चिरन्तन प्रवाहित रहती है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने संस्कृति का जो गत्यात्मक स्वरूप निरूपित किया है वह साहित्य के सन्दर्भ

मे भी अक्षरशः सत्य है।[1] साहित्य में भी संस्कृति की भांति वर्तमान, अतीत और भविष्य तीनों अविछिन्न रूप से अनुस्यूत रहते हैं। इस भांति निम्नलिखित तीन सूत्र साहित्य और उसके रचयिता के बारे में कहे जा सकते हैं।

(१) कोई भी साहित्यकार अपने पूर्व की परम्पराओं से प्रभावित होता है।

(२) उसकी कृति मे युग-सत्य होता है।

(३) और उसमें भविष्य को पुष्पित करने की क्षमता होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व आलोचना साहित्य का श्री गणेश हो चुका था। एक नवीन सांस्कृतिक एवं राजनैतिक चेतना उद्भूत हो चुकी थी, जिसका हिन्दी साहित्य मे भी स्थान-स्थान पर संकेत मिल रहा था। वह १८५७ के बाद से ही अधिक स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है। सन् ५७ के आन्दोलन की विफलता, भारतीय जन-जीवन की भौतिक पराजय थी। भारतीय विचारको ने विच्छिन्न सांस्कृतिक अणुओं को एकत्र किया और इस सांस्कृतिक चेतना को राजनैतिक जागरण के लिये सबसे बड़ा मन्त्र बनाया।[2]

उन्नीसवी शती के उत्तरार्ध से, इस सांस्कृतिक जागरण की एक लम्बी परम्परा मिलती है जिसने भारतीय जनता के सुषुप्त आत्म-सम्मान और स्वतन्त्र चेतना को पुन. उज्जीवित किया। इसके परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।

आचार्य शुक्ल का जन्म कांग्रेस के जन्म के दो वर्ष पूर्व ही सन् १८८३ मे हुआ था। अत. शुक्ल जी जैसे युगचेता साहित्यकार एक ओर युगीन सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित हुये और जीवन के प्रति उनका एक स्वस्थ बाह्य दृष्टिकोण भी सुदृढ़ बना।

1- The past becomes something that leads up the present, the movement of action, the future something that flows from it and all three are inextricably interwined and interrelated. (The Discovery of India) —page : 8.

2- In 1857, when the great revolt against the British was crushed and India lost what ever power of Military resistance she had, sensitive souls were driven to search for new weapons of the spirit in order to combat the foreign rule and the alien culture for it stood.

—From First Decade, The Arliete Linguistic and Literary Trends in Modern India P. 276 & 28. by-K.M. Munshi

इसी काल में हिन्दी संसार में 'पत्रों' की बाढ़ आई और इन पत्रों ने प्रबुद्ध पाठकों को एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण दिया। जिनमें आलोचनात्मक दृष्टि से —'हिन्दी प्रदीप' (सन १८८४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका' काशी (सन १८९७) 'सरस्वती, (प्रयाग १९००) तथा 'समालोचक (जयपुर–१९०२) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त पत्रिकाओं में भी 'नागरी-प्रचारिणी' पत्रिका का गवेषणात्मक आलोचना की दृष्टि से तथा सरस्वती का सैद्धान्तिक मूल्यांकन एवं कवि तथा कृति के गुण-दोष विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्व है। बीसवीं शती के प्रथम दो दशक तक, क्या तो साहित्य संसार में और क्या पत्रकारिता में दोनों क्षेत्रों पर 'सरस्वती' का एक छत्र साम्राज्य दिखाई देता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसकी कायाकल्प कर दी और सरस्वती हिन्दी साहित्य के मनस्वियों की एक मात्र प्रतिनिधि पत्रिका बन गई। द्विवेदी जी ने अपने 'कवि–कर्तव्य' लेख में साहित्य की गतानुगतिक मान्य छन्द प्रणाली अलंकार योजना भाषा की दुरूहता आदि पर सम्पूर्ण शक्ति से प्रहार किया और साहित्य में भी एक नई क्रान्ति के लिए प्रबुद्ध साहित्यकारों का आवाहन किया। भारतेन्दु काल जिस रीति युगीन काव्य-शिल्प और भाषा सौष्ठव को कविता का आन्तरिक उपादान समझ बैठा था द्विवेदी जी ने उसके विपरीत काव्य की अर्थवत्ता पर जोर दिया।[१]

१— "कालिदास, भवभूति और तुलसीदास, वे काव्य सरलता के आकार हैं परम विद्वान होकर भी इन्होंने सरलता का ही विशेष मान दिया है। इसीलिए इनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्व साधारण की समझ के बाहर होता है वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए, ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ पाता।"

"कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। विषय का तादात्म्य करते हुए धारा प्रवाह से जो कुछ टेढ़ा या सीधा उस समय मुँह से निकले उसे ही रहने देना चाहिए, बलात् किसी अर्थ को लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्य बद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।"

आचार्य द्विवेदी जी में आलोचनात्मक शक्ति का जो अभ्युदय हुआ था उसका मूल कारण उनका संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन था। अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'हे कविते' में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य विश्वनाथ के "वाक्य रसात्मक काव्य" तथा पंडित जगन्नाथ के "रमणीयार्थ प्रतिपादक काव्य" का ही प्रतिपादन किया है।"[1]

युग विधायक साहित्यकार द्विवेदी ने पाश्चात्य और पूर्वीय दोनों संस्कृतियों से ग्रहण करने की बात कही है।

"इंगलिश का ग्रंथ समूह अतिभारी है
संस्कृत भी सब के लिए सौख्यकारी है
इन दोनों में से अर्थ रत्न लीजै
हिन्दी में अर्पण इन्हें प्रेमयुत कीजै"

अतः हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने जहां एक ओर संस्कृत साहित्य से लिया है वहां उन्होंने अंग्रेजी से भी लेने की बात कही है। मिल्टन के काव्य की व्याख्या से भी सहमत से दिखाई देते हैं, जिसके अनुसार काव्य में प्रसाद गुण, अनुभूति प्रवणता और सौन्दर्य (Simple sexuous and unpassioned) होना चाहिए।

द्विवेदी जी के ये शब्द कि "कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ कर अर्थ को हृदयगम कर सकें" इतने ही मार्मिक हैं जितने कि वर्ड्सवर्थ ने अपनी काव्य-पुस्तक (Lyrical Ballades) के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखे हैं।[2] इन मान्यताओं से द्विवेदी जी का समन्वयवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वे आज के आलोचकों की तरह पूर्वाग्रही नहीं ज्ञात होते। उन्होंने बराबर अंग्रेजी कवियों-'पोप', वर्ड्सवर्थ', 'मिल्टन' आदि से प्रेरणा प्राप्त की है। (देखिये रसज्ञ-रंजन पृ० ४७) हिन्दी आलोचना में द्विवेदी जी के इसी उदात्त दृष्टिकोण का ही हमें विकास दिखाई देता है।

१- हे कविते! —महावीर प्रसाद द्विवेदी।

२- The Principal object then proposed in those poems was to choose incidents and situations from common life and to relate or describe them throughout, as far as possible in a selection of language realy used by men.—Lyrical ballades by wordsworth.

द्विवेदी जी की पूर्ववर्ती हिन्दी आलोचना रीतिकाल की परिपाटी प्रवृत्तियों, नायक–नायिका भेद, नख शिख वर्णन, अलंकार-योजना, अनुप्रास और श्लेष आदि तक थी। उपाध्याय पंडित बद्रीनारायण चौधरी ने अपनी "आनन्द कादम्बिनी" में पहली बार हिन्दी–मसार का आवाहन किया। इसी पत्रिका में लाला श्री निवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत आलोचना की गई थी जिसमें दोषों का विवेचन मात्र था। 'कवि–वचन–सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१७०३) १८७४ में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि पत्रों में भी समय समय पर विभिन्न लेखकों ने रचनाकारों की कृतियों पर अपना दृष्टिकोण रखा, किन्तु इनमें या तो मात्र दृष्टिकोण था और यदि लेखक कवि अथवा नाटककार है तो वह रस, अलंकार, छंद नायक–नायिका भेद गिनाने लगता था। यों भी भारतेन्दुकाल में हम कोई भी विशुद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ नहीं मिलता है।

द्विवेदी जी ने तो अपने आलोचनात्मक लेखों में हिन्दी के लेखकों के लिए दिशा संकेत मात्र किया था। उन्होंने जो सबसे बड़ा काम किया था वह था भावी आलोचकों के लिए एक वैज्ञानिक शक्ति सम्पन्न भाषा देकर मार्ग प्रशस्त करना। उनकी आलोचना में हम नूतन का विश्लेषण नहीं मिलता। युगानुरूप उसका संकेत भर मिलता है। यही कारण है कि द्विवेदी काल के साहित्य में भाव प्रवणता, संवेदनशीलता और अनुभूति का वह तारल्य नहीं मिलता जो कि हम परवर्ती काल के साहित्यकारों में मिलता है।[1] उन्होंने हिन्दी आलोचना को चार देनें दीं।

(१) "कवि कर्तव्य", 'नई कविता का भविष्य' आदि सैद्धान्तिक निबन्ध लिखकर उन्होंने हिन्दी आलोचना की नींव रखी।

१– यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े २ कवियों का लेकर गम्भीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित व्याकरण विरुद्ध और उटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती, उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया। हि० सा० का इ० पृ० ५८८।

(२) रीतिकालीन केंचुली से कविता को मुक्त किया और भाषा की सहजता की ओर रचनाकार को उन्मुख किया।

(३) कविता के नवीन परिवेष की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया।

(४) तादात्म्य, अर्थ सौरस्य और साधारण जनता की बात कहकर आचार्य द्विवेदी ने कविता में प्रेषणीयता वाले सिद्धांत का, रचनाकारों को, महत्व प्रदर्शित किया।

द्विवेदी काल में ही 'मिश्र बन्धु' आलोचना के क्षेत्र में अवतरित हुए। किन्तु इन बन्धुओं की आलोचना का मूल उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में गुण-दोष-विवेचन ही था। मिश्र बन्धु पर अंग्रेजी साहित्य के 'क्लासिक' युग का अत्यधिक प्रभाव था, अतः 'हिंदी नवरत्न' में भी (प्र० १९११ में) वे ही प्रतिमान लेकर हमारे सामने आये हैं। उनकी दृष्टि आलोचना में रीतियुग से चली आई हुई परम्परा के अनुसार शिल्पगत ही अधिक रही। उन्होंने काव्य के बाह्य उपकरणों को ही अधिक महत्व दिया। उन्होंने इसे स्वीकार भी किया है।[1]

'कविता के दशांग', 'गुण कथन एवं भारी वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव', 'छंद-लालित्य प्रवर्द्धक' गुणों और कारणों का कथन हर एक छंद के लिये पृथक है 'इन सब बातों पर समालोचक की रुचि प्रधान है', आदि प्रतिमान रीतिकालीन ही हैं जो पाठक वर्ग के जीवन से कवि से और काव्य-वस्तु से असम्पृक्त हैं। मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में कथित प्रतिमानों का ही सहारा लिया है।

किन्तु यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मिश्र बन्धुओं का आलोचना के क्षेत्र में एक चिरस्मरणीय प्रयास है। जितने वेग और शक्ति से मिश्र बन्धुओं ने आलोचना के क्षेत्र में कलम चलाई, ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी सीमाओं के उपरांत भी, उसका अपना महत्व है।[2]

शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुओं पर व्यंग्य करते हुये कहा है—

"समालोचना के लिये विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है।"[3] किन्तु शुक्ल जी का यह सूत्र मिश्र

१-२- मिश्रबन्धु विनोद, भूमिका-पृ० ३१-३२।

३- हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ०-५८५।

बन्धुओं पर कम लागू होता है ।

शुक्ल जी मिश्र बन्धुओं की आलोचना के इतिहास के प्रकाश में नहीं देख पाये । आलोचक की ये उपर्युक्त तीन शक्तियाँ इतिहास के साथ निर्मित होती हैं । ये शक्तियाँ अपने में परम्परा लिये चलती हैं, परम्परा के अभाव में इन शक्तियों का अस्तित्व ही नहीं रहता है ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने मिश्र बन्धुओं को इतिहास की पृष्ठभूमि में रखकर बड़े ही तार्किक रूप से उनका मूल्यांकन किया है ।[1]

मिश्र बन्धुओं ने 'देव' की बात कहकर आलोचना के क्षेत्र में एक नये वातावरण का निर्माण कर दिया और लोग मिश्र बन्धुओं द्वारा रचित नया युगानुरूप प्रणीत साहित्य के नए-नए प्रतिमानों के माध्यम से साहित्य का अध्ययन करने लगे । 'देव और बिहारी' में तो जैसे होड़-सी लग गई । इन्हीं के उपरान्त बिहारी को लेकर प० पद्मसिंह शर्मा आलोचना के क्षेत्र में अवतरित हुये । पंडित जी उर्दू, फारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे । उर्दू-फारसी साहित्य जैसी चुस्ती यदि उन्हें कहीं प्राप्त हो सकती थी तो वह बिहारी में ही । उर्दू-फारसी के काव्य-मर्मज्ञ होने के कारण हिंदी-साहित्य में भी अधिकतर उनकी दृष्टि काव्य-शिल्प पर ही अधिक गई ।

अपनी इस पुस्तक में पण्डित जी ने आर्या सप्तशती" और "गाथा सप्तशती" के साथ बिहारी के कितने ही पदों का साम्य प्रदर्शित किया और स्थान-स्थान पर आपने उर्दू और फारसी के तथा अन्य हिंदी कवियों के पदों से बिहारी के दोहों का विश्लेषण किया । इस प्रकार आपने आलोचना के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया । पण्डित जी ने कहा

१— मिश्र बन्धुओं ने साहित्यिक समीक्षा का पहला रेखा चित्र हिंदी को प्रदान किया । यद्यपि इस रेखा चित्र में अनेक नवीनताएँ थीं, परन्तु साहित्य का साधार और पुष्ट विवेचन कम ही था । रीतिकाल के साहित्यिक निर्देशों से वे पूरी तरह निकल नहीं सके थे, फिर भी उन्होंने साहित्यकार की जीवनी उसके विचारों और उसकी रचनाओं का एक सम्बन्ध सूत्र अवश्य उपस्थित किया जो आधुनिक समीक्षा का महत्वपूर्ण अंग है ।—आ० हि० साहित्य ।

कि पण्डित जी ने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी-लेखकों के बौद्धिक पौरुष को चुनौती दी। इस ग्रन्थ को लिखकर पण्डित जी ने अभिव्यजना-सौन्दर्य का महत्व हिन्दी-ससार के सामने पहली बार उदघाटित किया तथा वस्तु और शिल्प की असम्पृक्तता सिद्ध की। आलोचक को इतिहास की पार्श्वभूमि मे ग्रथ का मूल्याकन करना चाहिये, इसे पण्डित जी बहुत अच्छी तरीके से जानते थे। उन्होने गाथा सप्तशती और आर्या सप्तशती के कितने ही छन्दो मे बिहारी के दोहो की तुलना करके हिन्दी-साहित्य मे चली आई हुई मुक्तक छन्दो की प्रणाली की ओर इगित किया। (देखिये हिन्दी-सा०) कही-कही पुस्तक मे बिहारी की अत्यन्त श्लाघा की गई है। किन्तु इसके उपरान्त भी यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि पण्डित जी के यश को आलोचना-साहित्य मे अक्षुण्ण रखने के लिये उनकी यह पुस्तक पर्याप्त है।

आलोचना-साहित्य मे यदि सर्व प्रथम हमे कही एक निरपेक्ष आलोचक के दर्शन होते है तो वे है कृष्णबिहारी मिश्र। आपने 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखकर यह सिद्ध किया कि आलोचक केवल आलोचना के लिये ही आलोचना नही लिखता, उसके सामने भी एक निर्माण की भूमिका रहती है। कृष्णबिहारी मिश्र ने अपने उक्त 'देव और बिहारी' ग्रन्थ मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से रचनाओ की तुलना की और एक निष्पक्ष कला मर्मज्ञ की भाँति उनकी विशेषताओ, शक्तियो तथा उनकी सीमाओ का विवेचन किया। 'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ मे तथा 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका मे दोनो ग्रन्थ उनकी पैनी आलोचनात्मक दृष्टि एव उनके मौलिक चिन्तन के प्रमाण है। उन्होने 'देव और बिहारी' के काव्य का कलात्मक और भावात्मक विभाजन कर उनकी विशेषताओ और कमजोरियो का बहुत ही सहज रूप मे उद्घाटन किया है जिसमे पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसी पक्षधर शैली न होकर एक सयत और सतुलित शैली का ही उपयोग है। किन्तु अपने युग की आलोचनात्मक उपलब्धियो से भी वे ऊपर नही उठ सके। बिहारी को नीचा दिखाने की उनकी प्रवृत्ति भी दर्शनीय है— देव जी शृगारिक कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है। अनेक स्थलो पर, भाव समानता मे बिहारीलाल देव तथा अन्य कवियो से दब गये है। देव की भाषा बिहारीलाल की भाषा मे कही आधी है।... भाषा का समुचित नियन्त्रण करते हुये गम्भीरता पूर्वक भाव का निर्वाह करने मे देव जी अद्वितीय है। एकमात्र सतसई के रचयिता के कुछ दोहे कोई भले ही शिथिल कहे पर दर्जनो ग्रन्थ बनाने वाले देव जी की शिथिल छंद कही ढूढने

पर मिलेंग, साराश यह कि हमारी राय मे शृ गारी कवियो में देव जी का स्थान बडा है और बिहारीलाल का बाद का (दव और बिहारी, पृ० १८६–२५६) यह तो उस युग की आलोचना–धारा की उसकी अपनी शैली थी, जिसके कारण वस्तुत कई प्रतिभावान आलोचक इसी तुलनात्मक आलोचना के पश म फस रह और हिन्दी के किसी अन्य सम्पक्ष का विश्लेषण नही हो सका। इसी परम्परा म हम आलोचना साहित्य के एक और विद्वान मिलते हैं। य है लाला भगवानदीन। भगवानदीन जी प्राय 'लक्ष्मी' पत्रिका म आलोचना लिखा करत थे। आपन 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक लिखकर ऐसा लगता है कि माना उपर्युक्त कथित तुलना मक दृष्टि से आलोचना लिखने वाले सभी आलोचको को उत्तर दे दिया हो। आपन मिश्र बन्धुओ म लकर कृष्णबिहारी मिश्र तक म दव और बिहारी–विवाद पर एक सुलझे हुए दृष्टिकोणो म विचार-विनिमय किया और कौन बडा तथा कौन छोटा के विवाद को सदैव के लिए समाप्त कर दिया। लाला जी न इस किताब क अलावा कुछ सैद्धांतिक ग्रन्थो की भी रचना की। इन ग्रन्थो म आपने लक्षणो की सुबोधता की ओर विशेष ध्यान दिया। रीतिकाल–सी उलझन आपके इन सिद्धांत–ग्रन्थो मे नही मिलती। प्राय उदाहरणो का चुनाव आपन प्राचीन ग्रन्थो मे ही किया। सिद्धांत–ग्रन्थों के अतिरिक्त आपन टीकाग्रन्थ तथा कुछ सम्पादित ग्रन्थ भी लिखे। टीका ग्रन्थो और सम्पादित ग्रन्थो म हम लाला जी के प्रकाण्ड पांडित्य के दर्शन होते हैं। मूल रचना की शुद्धि और उसकी व्याख्या ही इन ग्रन्थो का अभिप्रेत है। यद्यपि लाला जी ने व्याख्यात्मक आलोचना नही लिखी, किन्तु स्थान–स्थान पर आपने कवियो और उनकी कृतियो का बडा ही मार्मिक विश्लेषण किया। काव्य के मर्म को समझने के लिये उन्होने कविता की विशेषताओं को, तथा कवि के स्वरूप को समझना आवश्यक बतलाया।

वस्तुत लालाजी से हमारी आधुनिक आलोचना प्रणाली का सूत्रपात होता है। उन्होंने ही पहली बार कवि के स्वरूप को समझने की बात कहकर हिन्दी मे पाश्चात्य अन्तर्प्रवृत्तिमूलक आलोचना पद्धति का उन्मेष किया, जिसका विकसित स्वरूप हम आचार्य शुक्ल म मिलता है। किन्तु वस्तुत इस अवधि तक हिन्दी आलोचना का दृष्टिकोण परम्परामूलक ही रहा। पुरातन परम्पराओ तथा कविता के गतानुगतिक प्रतिमानो पर प्रहार करके आलोचना के लिये नया स्वरूप और स्थायी मानदण्ड स्थापित करने मे

उपर्युक्त कथित प्रायः समस्त आलोचक असफल रहे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने केवल इंगित मात्र किया जो अपर्याप्त था। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प० अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि ने अवश्य कुछ अध्ययन प्रधान आलोचनाएँ प्रस्तुत की जिनमें हमें पहली बार आधुनिक समीक्षा-प्रणाली के दर्शन होते हैं। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जहाँ पौर्वात्य साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति का भी उन्हें प्रगाढ़ अध्ययन था। उनके इसी अध्ययन ने आलोचना के क्षेत्र में साहित्यकारों को एक समन्वय-वादी दृष्टिकोण दिया। इसी काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना में अवतरित हुए। इन भारतीय आलोचकों के अतिरिक्त ग्रियर्सन, कीथ, हेलरिटी, वील्स, विलसन और हाबले अण्डरहिल जैसे मेधावी साहित्य-कार भी हिन्दी-आलोचना पर अपने महत्वपूर्ण निबन्ध लिख चुके थे। इनकी महत्वपूर्ण देन को 'निबन्ध' इसलिए कहा जा रहा है कि इन्होंने विशुद्ध रूप से हिन्दी साहित्य पर कोई आलोचनात्मक ग्रन्थ नहीं लिखा जो आलोचना के स्थायी साहित्य के अन्तर्गत आ सकता है। कुछ ने भाषा का परिचयात्मक इतिहास, कुछ ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूप रेखा, किसी ने सम्प्रदान-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए हिन्दी साहित्य का प्रासंगिक रूप से विश्लेषण किया है तथा कतिपय आंग्ल विद्वानों ने प्रान्त विशेष का समाज-शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हुये किसी कवि विशेष की कृति का उल्लेख कर दिया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन विद्वानों का ऋण हिन्दी आलोचना पर नहीं है, निश्चित ही इन समीक्षाकारों ने हिन्दी के भावी आलोचकों को प्राचीन काव्य की महत् पीठिका में आलोचना साहित्य के स्थायी मानदण्ड निर्माण करने में एक बहुत बड़ा योग दिया।

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो दशकों में इस तरह हिन्दी संसार में कई आलोचकों का प्रवेश हुआ। इन आलोचकों में कतिपय आलोचकों के अतिरिक्त प्रायः सभी आलोचकगण कविता के पुरातन प्रतिमानों छन्द, अलंकार, नायक-नायिका के पीछे पड़े रहे और उनके गुणों की वाह-वाही करते रहे। कविता में बाह्य उपादानों की ओर ही उनकी दृष्टि अधिक रही। कविता के आन्तरिक भावों को समझने में वे अक्षम रहे। कवि के 'गुणगान' में अथवा दोष-विवेचन में व्यक्तिगत अभिरुचि का ही प्राधान्य रहा। वे कविता से जीवन का सान्निध्य स्थापित नहीं कर सके। इन समीक्षाकारों में कितने ही ऐसे थे जो युग के नैतिवादी दृष्टिकोण से बँधे रहे। अतः

उन्होंने जितना पुरातन था उस सभी को हेय कहना प्रारम्भ कर दिया। यही कारण है कि रीतिकाल की मधुर रागिनी द्विवेदी काल मे आकर कणकटु बन गई। काव्य मे विषय-वैविध्य का तात्पर्य यह सर्वथा नही कि काव्य म जीवन को सतत् प्रेरित करन वाले प्रेम, जो कि जन-मन का शास्वत तत्व ह उसे सवथा निष्कासित कर दिया जाय, आवश्यकता तो थी इसके उदात्तीकरण की। 'प्रेम' तत्व का यह उदात्तीकरण हमे इस काल के आलोचको म नहीं मिलता।

सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से भी यह काय शून्य-सा प्रतीत होता है। द्विवेदी जी का कविता का विश्लेषण अधिक स्थल है जो सवयुगीन नही कहा जा सकता। युगानुरूप आलोचना का यह पक्ष अछूता सा प्रतीत होता है। जो कुछ भी हमें इस दृष्टि से प्राप्य है वह रीति युग का ही एकागी दृष्टि ही मिलता है। न तो हमारी समृद्ध सस्कृत काव्य शास्त्र की परम्पराओ के आधार पर ही इन आलोचको न अध्ययन प्रस्तुत किया और न पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर जीवन और काव्य की अविच्छिन्नता तथा उनकी एक दूसर पर प्रक्रियाएँ ही विश्लेषित हुईं। हिन्दी आलोचना की इन सीमाओं के मध्य ही आचाय रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ, उन्हे यही ऊबड-खाबड, कंकड-काटो मे सकुल आलोचना का माग मिला, जिस पर कि उन्हें चलना था और उसे राज माग का एक व्यापक रूप देना था।

शुक्ल युगीन सास्कृतिक और साहित्यिक चेतना

सास्कृतिक चेतना से स्फूर्ति पाकर ही साहित्य का सृजन होता है। राजनीति, तथा अर्थव्यवस्था जहाँ हमारे साहित्य को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, वहाँ सास्कृतिक जागरण साहित्य मे अधिक स्पष्ट रूप मे प्रतिबिम्बित होता है। वह मानव-आत्मा की शिल्पी होती है, उसका सीधा का सम्बन्ध उसकी मानस-भूमि से होता है। अत साहित्यिक तदयुगीन चेतना का अध्ययन करने के पूर्व शुक्ल युगीन तथा उसकी पूर्ववर्ती सास्कृतिक परम्पराओं का विश्लेषण करना भी अनिवाय है।

राजनैतिक पराभव के पश्चात भारतीय जनता का अंग्रेजी शासन आर्थिक रूप मे शोषण करने लगा। उसकी कृषि-व्यवस्था पर तथा उसके गृह उद्योग, पर प्रहार किए गए, जिससे उसकी आर्थिक व्यवस्था विच्छिन्न हो गई और शनै शनै केवल किसान अंग्रेजी शासको की दया पर ही जीने लगे।

किन्तु इस आर्थिक दमन के कारण भौतिक रूप से जहाँ भारतीय जनता अधिक क्षीण और दुर्बल होती गई वहीं उसके मानस में एक नए आत्मबल का प्रादुर्भाव हुआ ।[1]

भारतीय जीवन मे इस नई चेतना का उन्मेष प्रच्छन्न रूप से अँग्रेजों द्वारा ही यन्त्रो के प्रवेश से प्रारम्भ होता है । इन यन्त्रो ने मानव-मन को अधिक बुद्धि-जीवी बना दिया । यन्त्र-युग के संस्पर्श ने हमारी पुरातन सामन्तीय जीवन-प्रणाली को हिला दिया और नये जीवन-मूल्यों की संस्थापना की ।

अँग्रेजो के दमन का नग्न नृत्य बगाल ने देखा और वहाँ से फिर उनके वास्तविक स्वरूप की प्रतीति सम्पूर्ण भारत को हुई । अतः बगाल में ही हमे सबसे पहले युग-चेता मनीषियों के दर्शन होते हैं ।

ब्राह्म समाज

उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे जो देश मे एक सास्कृतिक जागरण की व्यापक लहर दीखती है, उसका बहुत कुछ श्रेय ब्राह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय को है । ब्राह्म समाज धर्म को युगानुरूप मोड़ने का ही प्रयत्न है जिसकी उस युग मे बडी आवश्यकता थी । उन्होंने हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत तीनो धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया । ईसाई धर्म के अध्ययन ने उन्हे हिन्दू धर्म की सकीर्णता से बाहर निकाल कर सोचने के लिए व्यापक दृष्टिकोण दिया । वेदान्त और उपनिषद् की आध्यात्मिक भूमिका देकर तथा ईसाई धर्म की व्याप्ति को ग्रहण कर उन्होंने ब्राह्म समाज (सन् १८२८) की स्थापना की ।

1- For whatever temporary rotting and destruction this crude impact of European life and culture has caused, it gave three needed impulses. It revived the dorment intellectual and critical impulse, it rehabilitated life and awakened the desire of new creation, it put the reviving Indian spirit face to face with novel conditions and the urgent necessity of understanding, as a assimilating and conquering them.

—'Discovery of India P. 29.'

श्री अरविन्द ने लिखा है —

"ब्राह्म समाज संस्था अपने प्रारम्भ में एक विराट विश्व बंधुत्व की भावना लिए हुए थी। उसने अपने समन्वय के लिए जो विभिन्न धर्मों से उपादान लिए वे बड़े ही उदार थे। वाह्य रूप से उसमें वेदान्त, अंग्रेजी उपयोगितावाद और ईसाई मत तथा धार्मिक बौद्धिकता एवं बुद्धिवाद का एक सुन्दर समन्वय था।"[1]

इस समाज ने बंगला साहित्य के माध्यम से हिन्दी साहित्य पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी। महर्षि देवेन्द्रनाथ के पुत्र कलागुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना का तो मूल उत्स ब्राह्म समाज ही कहा जा सकता है। जिनकी 'गीताञ्जली' ने तो हिन्दी-कविता के एक पूरे युग को बहुत दूर तक प्रभावित किया।

आर्य समाज

हिन्दू जन जीवन की प्रत्येक विधा को यदि किसी धर्म और संस्कृति के आन्दोलन ने प्रभावित किया है तो वह है आर्य समाज। उत्तरी भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महर्षि दयानन्द का (१८२४ से १८८३ ई०) योग अविस्मरणीय है। महर्षि ने आर्य समाज (सन् १८७५) की स्थापना करके सम्पूर्ण देश में पुनः वेदों की मांगलिक ऋचाओं की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर एक सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष किया। इस महान ऋषि ने भारतीय दर्शन की युगानुरूप व्याख्या की और अपने महान धर्म को ईसाई धर्म-सी बौद्धिकता और मुसलमान धर्म का भ्रातृत्व प्रदान किया। धर्म के पुरातन पूजा और कर्मवादी स्वरूप के स्थान पर उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वरूप का उद्घाटन किया। वैराग्य, मूर्ति पूजा, दान-वृत्ति आदि मिथ्या डम्बरों के स्थान पर श्रम और शक्ति की नवीन भावना की प्रतिष्ठा की।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की इस नई सांस्कृतिक और धार्मिक विचारणा के मूल में वेद थे। उनके इस आन्दोलन ने जो एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काम किया वह यह है कि आर्य समाज को उन्होंने केवल एक धार्मिक संस्था मात्र ही नहीं रखा, अपितु उसे एक सामाजिक कार्यक्रम दिया।

शुक्ल युगीन हिन्दी साहित्य पर ब्राह्म समाज की अपेक्षाकृत इसी

1– The Renaissance in India—P 4,

धार्मिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। स्वामी जी की प्रेरणा-स्वरूप सांस्कृतिक और धर्म के माध्यम से लोगों में आत्म-सम्मान, स्वदेश, स्वभाषा, स्वधर्म आदि के प्रति नई भावनायें जाग्रत हुई। साहित्यकार आत्म-निरीक्षण की अवस्था में आया। उसे अपने वर्तमान पर ग्लानि और क्षोभ हुआ और स्वर्णयुगीन अतीत को स्मरण करने लगा। वह आत्मस्थ कम बहिर्मुखी अधिक हो गया। इसी बात की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है— "इस नए युग में सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति की वाणी का था। उसीसे लगे हुए विषय लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे।" (हि० सा० इ० पृ० सं० ६५५)

इधर राजनैतिक जागरण भी सांस्कृतिक आन्दोलन को प्रभावित कर रहा था। संस्कृति के माध्यम से देश-भक्ति और एकता का पाठ भारतीय जनता को पढ़ाया जा रहा था। व्यक्ति-चेतना ने समूह-चेतना (Collective consc.ousness) का रूप धारण कर रही थी। व्यक्ति चेतना की विविध अनुभूतियों से परित्यक्त इस युग की कविता जहा उक्त युगानुरूप विषय अपने में समाविष्ट किए हुए थी वहाँ उसका बाह्य शिल्प नीतिवादी, सूक्तिमूलक और आदर्शवादी अधिक हो गया था, वह बहुत अधिक स्थूल था। कहीं-कहीं तो उसमें पद्यबद्ध उपदेश मात्र थे। शिल्प के स्थूल प्रयोग के दो कारण भी कहे जा सकते हैं—

(१) इसे हिन्दी का निर्माण और विस्तार-काल भी कह सकते हैं और

(२) इतिहास की आवश्यकता।

निर्माण और विस्तार काल में सौन्दर्य की उच्चतम अभिव्यक्ति नहीं देखी जा सकती। सौन्दर्य का चरम विकास तो भाषा के पूर्ण पुष्पित होने पर ही सम्भव है। इस काल में पन्त की भाषा की लक्षणा और आज की नई कविता की व्यंजना-शक्ति देखना एक भ्रम ही है।

इतिहास की आवश्यकता से तात्पर्य है कि वह काल जन-जागरण का था। साधारण जनता में भारत की अर्द्ध शिक्षित और अपढ़ जनता में राष्ट्रीयता का उन्मेष करना था। हिन्दी को अपने पाठकों की संख्या बढ़ानी थी और उनकी रुचि का परिष्कार करना था। फिर आर्य समाज जिसका कि इस युग पर अत्यधिक प्रभाव था अपनी बात स्पष्ट कहना था। उसमें रहस्य का भुलावा नहीं था, प्रत्यक्ष का विश्लेषण था।

युग की यह स्पन्दनशील अनुभूति सर्वप्रथम अपने सम्पूर्ण रूप में भारतेन्दु में ही प्रकट हुई। काव्य को शृंगार और रीति के पंक से भारतेन्दु बाबू ने ही मुक्त किया और देश और काल के सत्य को अनुभूत कर नवीन साहित्य की सर्जना की। भारतेन्दु जी की केवल कुछ कविताओं को छोड़कर शेष सारा साहित्य नया था उसके सारे उपादान वस्तु और शिल्प सब कुछ नये थे। युग सत्य का जिस यथार्थ की भूमि पर कबीर और तुलसी के उपरांत यदि किसी ने परखा था तो वे भारतेन्दु बाबू ही थे। इन पंक्तियों द्वारा उन्होंने पहली बार अंग्रेजों द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण की ओर हमारा ध्यान प्रेरित किया था।

> अंग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी
> पै धन विदेश चलि जात यह अति ख्वारी।[1]

यही नहीं आगे चलकर तो उन्होंने अपने ५ नवम्बर सन् १८८४ ई० को बलिया के व्याख्यान में इन अंग्रेजों द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण का बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया था। भारतेंदु जी की यह विचारणा हिन्दी संसार में बहुत दिनों तक प्रभावशील रही। सीधी-सीधी दो टूक बातें, कहीं अलंकार का व्यामोह उपस्थित नहीं किया। क्या तो गद्य और क्या पद्य सभी में हमें इसी स्पष्टता के दर्शन होते हैं।

इनके अतिरिक्त आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'शंकर', जनार्दन झा, गिरधर शर्मा प० अयोध्या सिंह उपाध्याय प० लोचनप्रसाद पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों ने राष्ट्रीय जागरण की इस चेतना को और भी उभारा और उसे व्यापक रूप दिया। गद्य के क्षेत्र में भी इस चेतना का उन्मेष इसी रूप में हुआ। गद्य के क्षेत्र में भी इस चेतना का मांगलिक अर्थ अपने सम्पूर्ण रूप में नूतन परिवेश के साथ भारतेंदु और उनके शिविर के अन्य लेखकों ने हिन्दी के अविकसित गद्य को जन-जागरण की नवीन चेतना के सम्पर्श ने उसे पल्लवित कर दिया और प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आने के पश्चात तो हिन्दी गद्य इतना समृद्ध बन गया कि उसके माध्यम से गम्भीर विषयों का भी हिन्दी-साहित्य में प्रतिपादन, प्रारम्भ हो गया। उक्त लेखकों ने अपने गद्य की विभिन्न विधाओं द्वारा युग के

१- भारत-दुर्दशा (१८८०) पृ० ५८।

सांस्कृतिक और राजनैतिक जागरण को वाणी दी। किन्तु इस युग के कवियों की ही भांति युग के बाह्य दृष्टिकोण के कारण इन गद्य लेखकों ने किसी ऐसे कृतित्व का सृजन नहीं किया जो युग की समग्रता को समेट कर उसकी सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक धाराओं का गम्भेषण उपस्थित कर युग का प्रतिनिधित्व कर सके। यह बात अवश्य है कि इन लेखकों ने युग-सत्य को पहचान कर काव्येतर अनेक समस्याओं के लिये गद्य का माध्यम पाठकों को दिया और हिन्दी गद्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए पाठक निर्माण किये। छोटे-छोटे निबन्धों, कहानियों, उपन्यासों, प्रहसनों और नाटकों ने जनता में लोकप्रियता प्राप्त की और पाठकवर्ग काव्य की तरह इनका रसास्वादन करने लगे। वास्तव में इस काल के गद्य लेखकों ने गद्य की इन विभिन्न विधाओं पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी संसार में एक ऐतिहासिक कार्य किया और एक नई भूमि निर्मित की, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी। वास्तव में आचार्य शुक्ल के आलोचना साहित्य का प्रासाद इन्हीं गद्य लेखकों के सुदृढ़ स्तम्भों पर ही निर्मित है।

वस्तुत: इस युग के साहित्य में जो हमें जन-जागरण और सामाजिक चेतना का स्वरूप मिलता है उसका सारा श्रेय इन्हीं सांस्कृतिक आन्दोलनों को है।

सामाजिक चिन्तना का साहित्य में उन्मेष

आलोचना पर प्रभाव

शुक्ल युग में यों तो कई धार्मिक, सामाजिक आंदोलन हुए, नई संस्थाओं का निर्माण हुआ, कई मनीषी नवीन सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टिकोण लेकर अवतरित हुये और उन्होंने इस युग को प्रभावित किया। ब्राह्म समाज, आर्य समाज, म० गो० रानडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज इन संस्थाओं में प्रमुख थीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, ये दो मनीषी तो ऐसे थे जिन्होंने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया। श्रीमती एनी-बेसेण्ट जो कि भारत में 'थियोसाफिकल सोसायटी' की जननी थीं उन्होंने ही पहली बार हिन्दुओं की भक्तिभावना को राष्ट्रभावना में परिवर्तित किया। वस्तुतः स्वामी रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६ ई०) और उनके महान् शिष्य विवेकानन्द की धार्मिक और सांस्कृतिक चिन्तना ही भारतीय जनता के

मध्यम वर्ग की एक लम्बी अवधि तक मूल प्रेरणा का उत्स रही। किन्तु इन मनीषियों की विचारणा हिन्दी जगत् में कलागुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर के आविर्भाव के उपरान्त ही हमारे साहित्य का विषय बन सकी। कलागुरु के आविर्भाव के पूर्व तक तो आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था रही जिसने हिन्दी के विचारकों को प्रभावित किया।

आचार्य शुक्ल के आविर्भाव काल में उक्त मनीषियों की चिन्तना हिन्दी लेखकों की अनुभूति का विषय नहीं बन सकी। इस चेतना की उदभूति शुक्ल जी के संस्कारों के निर्माण और उनकी प्रज्ञा की परिपक्वता के पश्चात ही इस नवीन चेतना का आगमन हुआ। अतः शुक्ल जी के निर्माण में, उनकी बौद्धिक और रागात्मक चेतना के सृजन में इन मनीषियों का प्रभाव प्रायः शून्य-सा ही है। यही बात हम इस काल के साहित्य के लिये भी कह सकते हैं। वस्तुतः देश के विस्तार के कारण ये सांस्कृतिक आन्दोलन एक विशेष काल तक तो प्रांत विशेष तक ही सीमित रहते हैं और तदनन्तर सारे देश में उनकी विचारधारायें फैलती हैं।

"उत्तर-पश्चिम में आर्य समाज और मद्रास में थियोसोफिकल आन्दोलनों ने इस आवश्यक सुधार का कार्य किया तथा अपने धर्म आदर्श और संस्कृति से दूर जाने वाली 'स्पिरिट' को, जो कि पश्चिमी शिक्षा के कारण पैदा हुई थी, दबा दिया।" (का० इतिहास पृ० १२)।

हिन्दी-साहित्य में इन विचारणाओं की अभिव्यक्ति होने लगी और नई जागृति के स्वर गूंजने लगे। वस्तुतः जैसा कि पूर्व विश्लेषित किया जा चुका है कि भारतेन्दु जी से ही, जिनके कि युग में इन सांस्कृतिक अनुष्ठानों का मांगलिक अथ हुआ हिंदी के कवियों ने राष्ट्रोत्थान के मंगलाचरण गाना प्रारम्भ कर दिया था। उनके बाद भी यह धारा अनवरत रूप से प्रवहमान रही। राष्ट्रोत्थान की यह धारा दो रूप में हमें मिलती है-(१) अतीत का स्तवन, स्मरण और उससे प्रेरणा लेने के लिये जनता को सम्बोधन और (२) वर्तमान के प्रति क्षोभ और ग्लानि। राष्ट्रीय मुक्ति के लिए जनता का आवाहन, जागरण और विध्वंस के स्वर थे। दोनों धाराओं का प्रेरणा स्रोत एक ही था और वह था देश का राष्ट्रीय पुनरोत्थान।

इस धारा का प्रतिनिधि काव्य-संग्रह 'भारत भारती' है। इस काव्य में इतना ओज था कि प्रकाशित होते ही 'भारत-भारती' युग की गीता बन

गई। अतीत के जिस महान वैभव का उद्घाटन मैथिली बाबू ने 'भारत-भारती' द्वारा किया उसमे पुन. हिन्दू जाति की रगो मे नए शोणित का संचार हुआ। हिन्दू सस्कृति की इस अभूतपूर्व उद्घोषणा ने देश की तद्युगीन अवनति और अधोगति से भारतीय जन मानस परिचित हुआ और उसमें नवीन कर्मेच्छा जाग्रत हुई। उसमें हमारा अतीत महिमान्वित है, वर्तमान क्षोभ के वातावरण से बोझिल और भविष्य-वर्तमान की निष्क्रीयता के कारण धूमिल आशाओ से पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और बौद्धिक दमन का इतिहास है। वास्तव मे इस युग का कवि और लेखक सामाजिक चेतना को पूर्णरूप मे अनुभूत कर चुका था। स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द जैसे महर्षियों ने भारतीय जनता के मानस मे हीनता की ग्रंथि को दूर कर दिया था और अग्रेजो के दमन और शोषण के उपरात भी उसमे नवीन आकाक्षाओ और विचारो की उद्भावनाएँ हो रही थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी युग की देन हैं। यद्यपि उनकी विचारधाराएँ किसी भी विशेष दार्शनिक अथवा राजनैतिक वाद मे सम्बद्ध नही थी, तदापि उनके व्यक्तित्व मे स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसी प्रतिभा लक्षित होती है। उनकी जीवनी से यह अवश्य लगता है कि बालक रामचन्द्र के अवचेतन मन पर स्वामी जी के सिद्धान्तों की छाप पड़ी थी।

"उस समय आर्य समाज का चारो ओर प्रबल आन्दोलन चल रहा था। स्वामी दयानन्द जी के लेखो को राह मे भी कुछ लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और दूसरो को सुनाते थे। इस समाज ने बस्ती जिले के नवयुवक कानूनगो को भी अपने रग मे रगा।"[1]

"शुक्ल जी के पिता भी विचित्र व्यक्ति थे, एक ओर तो वे मुसलमानी सभ्यता से प्रभावित थे और दूसरी ओर आर्य समाजी विचारो से। वे 'सत्यार्थ प्रकाश', 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', 'साहित्य दर्पण' (इटावे से प्रकाशित होने वाली आर्य समाजी मासिक पत्रिका) आदि आर्य समाजी विचारो से सम्पन्न पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ बराबर पढ़ते रहते थे।[2]

निश्चित ही शुक्ल जी मे उनके पिता का यह आर्य समाजी व्यक्तित्व कुछ मात्रा मे अवश्य अवतरित हुआ होगा। शुक्ल जी की नीतिवादिता और

१ जीवन वृत्त पं० केशव चन्द्र शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ११
२ आचार्य रामचंद्र शुक्ल उपक्रम, पृ० ८ —शिवनाथ

दृढ़वादिता उनके इन्हीं प्रारम्भिक संस्कारों की ही देन है। यही कारण है कि शुक्ल जी शासकीय सेवाओं में अपने आपको नियंत्रित नहीं कर सके।

शुक्ल जी तो कला के अनन्य पारखी थे। उन्होंने भारतेन्दु युग के तथा द्विवेदी काल के लेखकों की युगीन विचारणाओं का सम्मान तो किया किन्तु उनके कृतित्वों के कला-पक्ष के अभाव को वे सतत कोसते रहे। गुप्त जी की 'भारत-भारती' तथा उनके इतर लघु इति वृत्तात्मकों के बारे में इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है —

"गुप्त जी की ओर पहले पहल हिन्दी प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचने वाली उनकी 'भारत भारती' निकली। इसमें 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिन्दुओं की भूत और वर्तमान दशाओं की विषमता दिखाई गई है। भविष्य निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान कम नहीं था।"[1]

ये रचनाएँ काव्य प्रेमियों का कुछ गद्यवत रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं।[2]

शुक्ल जी ने इस भाँति इस युग के शिल्प पर भारी प्रहार किया। अतः यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी वस्तु और शिल्प में सामंजस्य चाहते थे। इस युग के राष्ट्रीय विचार पक्ष से वे स्थूल रूप में सहमत से दिखाई देते हैं। शुक्ल जी का आंग्ल भाषा का अध्ययन भी प्रगाढ़ था।

आंग्ल भाषा के इस अध्ययन ने शुक्ल जी को अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया होगा। शुक्ल जी के युग में यों तो आंग्ल साहित्य के अनुवादों की धूम थी। एडविन, आर्नल्ड, लांगफेलो, ग्रे, पोप, बायरन स्काट, गोल्ड-स्मिथ आदि अनेकों कवियों का काव्य हिन्दी में रूपान्तरित किया जा रहा था। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिकों, ब्राइट बर्क, पिट, मिल स्पेंसर, बर्कन, रस्किन, टाल्स्टाय आदि के बुद्धिवादी विचारों की भी धूम सबसे हिन्दी साहित्य में अवतारणा होने लग गई थी।

१— हि० सा० इ०, पृ० ६८३

२— वही, पृ० ६८७

फ्रांस की राज्यक्रांति (सन् १७७९ ई० में) के पश्चात् सम्पूर्ण यूरोप में विचारों की नवीन क्रांति का अभ्युदय हुआ। व्यक्तिवादी दार्शनिक धारा ने औद्योगिक क्रांति का संस्पर्श पाकर अपनी नींव और भी सुदृढ़ कर ली।

इस काल के सम्पूर्ण यूरोपीय साहित्य के मूल में यही वैयक्तिक चेतना है। व्यक्ति की स्वातन्त्र्य चेतना ने सदाचार शास्त्र के क्षेत्र में बहुजन हिताय बहुजन सुखाय (Summum Bonum) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसी विचारणा का विकसित रूप एक उदात्त मानवतावादी सिद्धान्त इस युग के साहित्य की मूल चेतना है।

इस पाश्चात्य बुद्धिवाद ने और भारतीय सांस्कृतिक चेतना की सम्यक् अनुभूति ने शुक्ल जी को बुद्धिवादी बना दिया। युगसत्य के साथ मानव जीवन से नए जीवन मूल्यों का उन्मेष हुआ। व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के बारे में परम्परा से हटकर सोचने लगा, उसमें उचित और अनुचित को परखने की शक्ति आई। आर्य समाज और ब्राह्म समाज वस्तुतः हमारी इसी बौद्धिक जागृति के ही परिणाम थे। किन्तु जहाँ ये आन्दोलन बुद्धि के मन्थन से उद्भूत थे वहाँ ये आदर्शों सेसंजीवित थे। आर्य समाज और ब्राह्म समाज दोनों ही अपने विशिष्ट आदर्शों को लिए हुये थे।

यूरोप में इन दार्शनिकों के अतिरिक्त १९ वीं शताब्दी में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक कामटे के 'पोजिटीविस्ट दर्शन (Comte's positivist philosophy) का भी पर्याप्त प्रभाव था। उसी ने दर्शन में सर्व प्रथम निरपेक्ष तार्किक प्रणाली पर दार्शनिक चिन्तना के साथ-साथ मानवता की आराधना और उसकी पूजा के भाव की स्थापना की। कामटे मानवतावादी और बहुजन हिताय के प्रतिमानों को ही प्रमुखता देता था। आर० ए० रिचार्ड्स, मैथ्यूआर्नल्ड आदि की नीतिवादिता वस्तुतः कामटे से ही प्रभावित थी वह तो स्पष्ट कहता था—समाज की पुनर्रचना नैतिकता के आधार पर हो, हमारे नैतिक मूल्य सही हो, पूंजी को नैतिक स्वरूप दिया जाय। पारिवारिक जीवन के आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा हो तथा विवाह सम्बन्धी विचारों के दृष्टिकोण का विकास हो। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति मानव-सद्प्रवृत्तियों के उन्नयन द्वारा ही हो सकती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा तद् युगीन अन्य साहित्यकार भी 'प्रकाश' को ही अधिक ज्योतित करने में संलग्न रहे। वास्तव में इस युग के समस्त—साहित्यकारों की अन्य मूल प्रवृत्तियों में

से एक प्रवृत्ति उपर्युक्त कथित आदर्शवाद भी थी जो इनके साहित्य में विपुल मात्रा मे मिलती है। आचार्य शुक्ल भी अपने युग की इस प्रवृत्ति विशेष से अलग नही रहे।

साहित्यिक परम्पराओ, युग की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो के अतिरिक्त भी साहित्यकार के मानस पर उसके प्रारम्भिक वातावरण का प्रभाव पडता है। वह किस वातावरण म पला है ? उसके मानस का निर्माण घर की किन परिस्थितियो मे हुआ है ? उसके मस्तिष्क का परिपक्व करने म बाह्य वस्तु स्थितियों के अतिरिक्त इस वातावरण का प्रभाव भी पुस्कल मात्रा मे रहता है।

यह विकास मानव धर्म द्वारा हो सकता है।

Society can only be regenerated by the greater subordination of Politics to morals, by the moralization of morals by the moralization of capital, by the renovation of the family by a higher conception of marriage and so on These ends can only be reached by higher devpt of sympathetic instincts The sympathetic instincts can only be developed by the religion of history[1]

,कामटे के इन सामाजिक विचारो ने काफी सम्मान पाया। उसके दार्शनिक पहलू को यदि हम छोड भी दें तो उसके ये सांस्कृतिक विचार स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि के विचारो के पर्याप्त समीप हैं।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व-निर्माण म थोडा सा बाह्य स्पर्श स्वामी दयानन्द के कमठ व्यक्तित्व का भी है। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। किन्तु आर्य समाजी आन्दोलन मे हमे शुक्ल जी का वह उदात्त मानवतावादी स्वरूप और वह अनन्य भक्तिवादिता 'जिसमे अध्यात्म आठ-आठ आँसू रो रहा हो' कहाँ मिलता है ? भक्ति के इस अनन्य भाव के लिए उनके जीवन के पन्ने पलटना होगा।

"इनकी माता (अर्थात् प० चन्दावली शुक्ल की धर्म पत्नी) गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि

1- Encyclopadia Britnica requoted from Mechenzis ethics P 332

प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी थे। इस प्रकार गोस्वामी जी पं० रामचन्द्र शुक्ल के सीधे मातुल वर्ग में आते है। इस सम्बन्ध में फिर कभी विस्तार से लिखा जायगा। यहा केवल इतना ही कहना है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल को अपने जीवन काल मे जितनी शक्ति तथा शान्ति गोस्वामी जी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई उतनी उन्हे और किसी भाव-भूमि में जाकर नही मिली।"

इस परिवार मे वृद्ध माता का परम उर्ज स्थान था। वे राम भक्त थी। नित्य बड़ी सुन्दर रीति से तुलसी-वैष्णव आदि के भजन गाती तथा पूजा पाठ मे निमग्न रहती।[1]

मेरे पिता जी जो हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे, प्राय. रात को 'राम-चरित मानस', 'रामचन्द्रिका' या भारतेन्दु जी के नाटक बड़े चित्ताकर्षक ढग से पढ़ा करते थे।[2]

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि शुक्ल जी—वशानुक्रम और वातावरण दोनो ही रूप से तुलसी से उनका अधिक सामीप्य था। बचपन से ही उनके अन्तश्चेतना मे तुलसी की भक्ति विह्वलता आसीन हो गई थी, जो जीवन पर्यन्त उनमे समाविष्ट रही और जिसने आगे जाकर उनका दृष्टिकोण ही तुलसीमय बना दिया।

इस भाति इस युग के साहित्य पर और शुक्ल जी की आलोचना पर विभिन्न प्रकार के धर्म, संस्कृति और साहित्य में चल रहे तद्युगीन भारतीय और पाश्चात्य आन्दोलनों का प्रभाव पडा था।

इस काल के साहित्य और आलोचना पर भी इसी प्रकार का धार्मिक सांस्कृतिक और राजनैतिक प्रभाव पड रहा था। वास्तव मे साहित्य मे तो युग की समस्त चिन्तना की विभिन्न चेतना का सश्लेषण रहता है, किसी एक का विश्लेषण नहीं।

शुक्ल जी पर प्रभाव : पूर्वीय—पाश्चात्य

शुक्ल जी के व्यक्तित्व का निर्माण जिन वाह्य और अन्तर परिस्थितियों

१— मैन्युअल आफ ईथिक्स मे एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का यह उद्धरण पृ० ३२२ पर उद्धृत है।

२— "आचार्य रामचंद्र शुक्ल" जीवन वृत्त : पृ० ११–१२।

मे हुआ था ? युग सत्य किस भाँति उनमे प्रतिबिंबित हुआ है ? इन वस्तुओ की ओर सकेत किए जा चुके हैं। यहाँ केवल यही विश्लेष्य है कि अपने आलोचना के मानदण्ड निर्धारित करने मे शुक्ल जी ने किन पूर्वी और पाश्चात्य लेखको के विचारो का दोहन किया था, उनकी आलोचना मे कौन रूप मे किन लेखको के विचारो की ध्वनि सुनाई देती है ?

या तो शुक्ल जी के एक समीक्षाकार श्री शिवनाथ एम० ए० ने शुक्ल जी ने अपने वक्तव्यो की पुष्टि म जितने उद्धरण दिए हैं, उन सबसे ही शुक्ल जी को प्रभावित बतला दिया है । यथा —

"रस–मीमासा म भावो वा मनोविकारो पर विचार करते समय वह शैंड के 'फाउण्डेशन आफ केरेक्टर' स अधिक प्रभावित जान पडते है । काव्य म लोक-मगल की साधनावस्था' नामक निबन्ध म आनन्द की जो दो अवस्थायें, सिद्धावस्था और साधनावस्था मानी हैं उनकी प्रेरणा का बीज थी, इस भी ओडोर वैट्स डटन के शक्ति काव्य (पायटी इज एन इनरजी) और काव्य कला (पोयट्री इज एन आट) मे मिलता है । अभिव्यजनावाद के सम्बन्ध म आचाय शुक्ल के वे ही विचार हैं जो आर० ए० स्काट जेम्स ने अपन 'दि मेकिंग आफ लिटरेचर' के 'एक्सप्रेशनिज्म नामक निबन्ध मे व्यक्त किये हैं ।[1]

यहा पूर्वीय साहित्य से तात्पर्य केवल सस्कृत और हिन्दी साहित्य है । प्रभाव की दृष्टि से भारतेंदु और तुलसी की चर्चा भी की जा चुकी है। तुलसीदास का प्रभाव तो उनके सम्पूर्ण आलोचना साहित्य को ज्योतित किए हुए हैं। जिसका विश्लेषण हम प्रसगवश स्थान-स्थान पर करेंगे।

आचाय शुक्ल ने पाश्चात्य और पूर्वीय दोनो साहित्य को आत्मसात किया था । विद्यार्थी काल म ही वे सस्कृत और अग्रेजी के प्रकाण्ड अध्येता थ ।

उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमदभागवत् पुराण आदि का पाठ होता था । प० विश्वेश्वरी प्रसाद के घर तो सस्कृत का निवास ही था । नित्य बहुत से विद्यार्थी माघ, कालीदास, भवभूति आदि महाकवियो

१— हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवत्तिया— पृ० ४

की कृतियों का अध्ययन करने के लिये उनके यहाँ आया करते थे। पं० प्रायः संध्या के समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो वहाँ से दो तीन मील पर है। अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी नाले के किनारे स्वच्छन्द समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यन्त सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढते। कुछ बढने पर प० रामचन्द्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर इस भावुक पुजारी के सामने घूमने निकलने लगे।[1]

यही एक बात की ओर निर्देश करना अति प्रसग न होगा। वह यह कि शुक्ल जी के संस्कृत प्रेम का आरम्भ भी यही से (प० विन्ध्येश्वरी प्रसाद के संबंध से) समझना चाहिये, और प्रतीत तो ऐसा होता है कि ये प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने वाले संस्कृत-काव्यो, यथा, 'वाल्मीकि रामायण, कुमार सम्भव, मेघदूत, उत्तररामचरित्र आदि के पढने के लिए ही संस्कृत की ओर झुके।[2]

शुक्ल जी ने अपने साहित्य-सिद्धात हवा में नहीं बनाये, न वे सिद्ध केवल निषेधात्मक है। उन्होंने भारतवर्ष के चार महाकवियों—वाल्मीकि कालिदास, भवभूति और तुलसीदास— को अपना आदर्श और आधार बनाया। इनके प्रकृति-वर्णन को, इनके लोक-हृदय में लीन होने की दशा को अपनी कसौटी मानकर वह हिन्दी संस्कृत के आचार्यों के अवैज्ञानिक सिद्धांतों और अस्वाभाविक कृतियों की आलोचना करते है। साहित्य में सदियों से प्रतिष्ठित शृङ्गार रस को एक कोने में ढकेलते हुए उन्होंने भावभूति भवभूति के महामन्त्र एकोरस. करुण रस का फिर पाठ किया... .. ।

आलोचना के क्षेत्र में भवभूति के समान धर्म आचार्य शुक्ल है।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थी काल के इस वातावरण और अध्ययन ने ही शुक्ल जी की रुचि का संस्कार किया था। शुक्ल जी के ये विद्यार्थी जीवन के संस्कार जीवन भर बने रहे। उनके आलोचना के कतिपय प्रतिमानों

१— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जीवन वृत्त . पृ० १५

२— वही : पृ० १६

३— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
—लेखक डाक्टर रामविलास शर्मा। पृ० १०

का आधार उनके विद्यार्थीकाल के ये संस्कारगत चार महाकवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास हैं। काव्य में प्रकृति-चित्रण मे तो वे प्रथम तीन कवियों का ही अनुगमन करते हैं। अत काव्य म प्राकृतिक दृश्यो की संयोजना के लिए शुक्ल जी का दृष्टिकोण परम्परागत ही है। उनका बिम्ब ग्रहण, प्रकृति का आलम्बनरूप मे ग्रहण करने का ही एक व्यापक स्वरूप है। प्रकृति के इस निरपेक्ष चित्रण को ही उन्होंने महत्व दिया है। प्रकृति पर कवि द्वारा आरोपित भावो की व्यंजना को वे केवल 'उद्दीपन भीतरी बाहरी वृत्तियां कह कर टाल देते है। शुक्ल जी आलम्बन को सर्वथा निरपेक्ष मानते हैं। वस्तुत जबकि आलम्बन स्वयं सापेक्ष होता है। कालिदास ने मेघ मे जो एक सवर्ण, आर्द्र और सजल मेघ म जिस उदात्त मानवीय भावना की कल्पना की थी, वह उनके जागरूक और संवेदनशील प्रबुद्ध मन का ही कारण था। 'वह किसी स्थल का' एक पूरा चित्र मात्र नहीं था जो 'चिर साहचर्य' द्वारा प्रतिष्ठित वासना मात्र हो। उसमे एक सांकेतिकता थी। उसमे एक उदार मानवीय संवेदना का सन्निवेश था।

शुक्ल जी कहते हैं — 'प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण म वाल्मीकि कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे दृश्यों की योजना करने मे, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने म प्रयुक्त होती थी जिसमें किसी स्थल का चित्र पूरा होता था और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलम्बन होती थी।'[1]

प्रकृति के इस परम्परागत चित्रण के प्रशंसक होने के कारण भी शुक्ल जी छायावाद म विभिन्न रूप से चित्रित प्रकृति के उदात्त स्वरूपों का समर्थन मे अक्षम रहे। मोटे रूप म हिन्दी कविता म छायावादी युग म ही प्रकृति, परम्परा से हटकर विभिन्न परिवेशो मे हमारे सामने आती है जिस पर शुक्ल जी मौन हैं। वे लिखते हैं—'यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत जान सकते हैं तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते है।'[2]

किन्तु शुक्ल जी उक्त सूत्र कहकर छायावाद के बारे म पूर्वाग्रही

१– चिन्तामणि, भाग २ पृ० १२,
इस प्रसंग के सन्दर्भ मे रस मीमांसा पृ० १२-१३ भी देखिए।
२– वही, पृ० १२

होने के कारण उसके मूल अभिप्रेत प्रकृति-दर्शन में सर्व चेतनावाद (Pantheism) की प्रतिष्ठा के बारे में एक शब्द भी नहीं बोलते हैं।

उपर्युक्त संस्कृत कवियों के प्रकृति-चित्रण का प्रभाव होने के कारण ही आधुनिक युग के हिन्दी कवियों के लक्षणगत प्राकृतिक चित्रण के लिए उनके तत्सम्बन्धी प्रतिमान ओछे पड़ते हैं। यही कारण है कि प्रसाद, पंत, निराला आदि महाकवियों द्वारा प्रस्तुत, प्रकृति के कई मार्मिक और उदात्त चित्र उनकी दृष्टि से ओझल ही रहे। अत. वे हिन्दी के इन महाकवियों द्वारा प्रस्तुत प्रतीक, विशेषण-विपर्यय तथा मानवी भावना आदि स्वरूपों में प्रस्तुत चित्रों को 'वैचित्र्य प्रदर्शन' 'सामान्य अनुभूति के मेल में होते हैं' आदि कहकर आलोचक के कर्तव्य की इति कर देते हैं।[1]

यही कारण है कि शुक्ल जी ने तद्युगीन हिन्दी साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाले और युगमानस को वाणी देने वाले छायावादी काव्य को अभिव्यंजना की शैली मात्र कहा है।[2]

वस्तुत. शुक्ल जी ने अपने उक्त आदर्शों के आग्रहों के विवर्त में आकर नए काव्य की ऐतिहासिक भावभूमि का उतनी गहन प्रज्ञा से विश्लेषण नहीं किया जैसा कि उन्होंने तुलसी और जायसी को परखने में किया।

शुक्ल जी के काव्यादर्श जैसा कि उपर्युक्त विहङ्गावलोकन से विदित है संस्कृत के इन महान कवियों वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि की रसवादी कविताओं पर ही आधारित थे, अत. संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में भी वे रसवादी आचार्यों भरत, विश्वनाथ, आनंदवर्द्धनाचार्य, पण्डित राज जगन्नाथ, आचार्य क्षेमेन्द्र आदि के अधिक निकट हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के रूपवादी आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट तथा कुन्तक आदि आचार्यों का उन्होंने अनुगमन किया।

आचार्य शुक्ल हिन्दी के प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने सर्वप्रथम संस्कृत काव्यशास्त्र की वृहत् रसवादी प्रगतिशील और वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली को आत्मसात कर उसको हिन्दी-साहित्य पर परखा और उसे व्यावहारिक

१- हि० सा० इ०, पृ० ७५०-५१

२- वही, पृ० ६२९

स्वरूप प्रदान किया। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'रस मीमासा' की प्रस्तावना मे *यह कथन सवथा उपयुक्त है—*

पण्डित राज जगन्नाथ के अनन्तर रस–मीमासा से शास्त्रीय विद्वान एक प्रकार से विरत हो गय थे। शुक्ल जी ने अपनी स्वतन्त्र चेतना द्वारा उस पुन उज्जीवित किया। भारत की किसी भी भाषा मे काव्य, रस आदि का स्वतन्त्र विवेचन आधुनिक युग मे नही मिलता। यदि कोई हठधर्मिता को त्याग कर उन्हे देखे तो वे भरत, अभिनव, मम्मट आदि की ही परम्परा म उमे दिखाई देंगे।

काव्य रचना मे दो तत्वा की अनिवार्यता, भाव और विभाव की स्वय सिद्ध है। इकाई मे इनमे से किसी भी एक मे काव्य बनने की सामथ्य नही। जहा पहला रस रूप मे अभिव्यक्त होता है वहा द्वितीय उस अभिव्यक्ति का साधन। इसीलिए वस्तुत भाव की परिपुष्ट अभिव्यक्ति ही रस दशा है। रसबीज स्वरूप भाव मे ही सन्निविष्ट है। इसी कारण नाट्य शास्त्र के आद्याचाय भरत ने कहा है—

न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रस वर्जित।[1]

जब किसी भी भाव विशेष के प्रति रचनाकार *अथवा पाठक, श्रोता*–दशक उसके साथ तादात्म्य की प्रतीति करने लग–साक्षात्कार के समय उस भाव के प्रति उसमे उसी वृत्ति की उत्पत्ति हो तब वह स्थायी भाव दशा के नाम स अभिहित की जाती है। इसी दशा का परिपुष्टि स्वरूप रस कहलाता है। इस रस की प्रथम उत्पत्ति भाव स्वरूपा ही होती है। यथा साहित्य–दपणाकार के शब्दा म 'निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथम विक्रिया।'[2]

इसी निर्विकार चित्त की प्रथम क्रिया भाव का परिपाक होने के पश्चात् रस के *उस महत् स्वरूप का आस्वादन होता है।*

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय
वद्यान्तरस्पशशून्यो ब्रह्मानन्दसहोदर।[3]

१– भ० ना० शा० ६/३६ N S Ed पृ०, ९४।
२– सा० दपण–२/९३ पृ० ८३।
३– सा० ३/२ पृ० ४८।

आचार्य शुक्ल ने भी रस का यही व्यापक स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। वे लिखते हैं—

"इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।"[1]

आचार्य शुक्ल के सामने काव्य के प्रमुख मानदण्ड यही रस दशा और हृदय की मुक्तावस्था है। किन्तु शुक्ल जी इस रस दशा को निरपेक्ष नहीं मानते। वे उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुये स्पष्ट कहते हैं—

"अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिये कर्म क्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"[2]

आचार्य शुक्ल ने रस को सर्वथा पार्थिव ही माना है। उसे ज्ञान दशा के समकक्ष में बैठाने के पश्चात् भी वे उसका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग पर ही करते हैं। यह बात विशिष्ट रूप से दृष्टव्य है कि संस्कृत वाङ्मय में अनेकों स्थलों पर रस की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। यथा — रसो वैसः, रस सार चिदानन्दप्रकाश आदि।

किन्तु शुक्ल जी ने तो काव्य को स्पष्टतः पार्थिव जगत की ही एक रागात्मक प्रक्रिया माना है और जिसका परिणाम स्वरूप रस भी एक पार्थिव आनन्द ही है। वे तो स्पष्ट कहते हैं— "अध्यात्म शब्द मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान काव्य और समीक्षा दोनों क्षेत्र में 'आध्यात्मिक' शब्द भी निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सचाई (Sincerity) की भी कम परवाह की जा रही है।[4]

१— रस-मीमांसा पृ० २२। २— वही, पृ० २२

३— वही, पृ० ६९।

४— चिन्तामणि भाग २ पृ० २१८।

उपयुक्त उद्धरणो से स्पष्ट विदित है कि शुक्ल जी अपने काव्य–रस सिद्धात की किसी अलौकिक व्याख्या के पक्षपाती नही हैं, वे तो काव्य का लौकिक विश्लेषण ही प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते है — कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धो के सकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है, जहा जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का सचार होता है।[1]

शुक्ल जी के काव्य–रस सिद्धान्तो का मूलाधार यही 'लोक सामान्य भाव भूमि' होने के कारण वे रूपवादियो की भाति काव्य को चमत्कार, कुतूहल और भामह, उद्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों की भाति अलकारो को ही काव्य का सर्वस्व नही माना है वे तो भरत के लोक भाव और तज्जनित काव्य मे प्रेषणीयता का प्रमुख स्थान देते थे। तदसम्बन्धी (भाषा, चमत्कार आदि) उनके काव्य–सिद्धात भरत के इस सिद्धात से परिचालित हैं—

> तदेव लोकभावाना प्रसमीक्ष्य वलाबलम्
> मृदु शब्दम् सुखार्थ च कवि कुर्यात्तु नाटकम्
> चेक्रीडितार्थैः शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्तिय
> वेश्या इव न शोभन्ते कमण्डलु धरैः द्विजैः।[2]

वस्तुत ये काव्य के शिल्प और रूप से ही अधिक सम्बन्धित हैं, काव्य की आत्मा इन उपादानो से कुछ भिन्न ही है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—पर ज्यो-ज्यो शास्त्रीय विचार गम्भीर और सूक्ष्म होता गया त्यो-त्यो साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया।[3]

शुक्ल जी उन कवियो का जो कि साध्य को भुलाकर इन्ही (अलकारो) को साध्य मान लेते हैं, विश्लेषण करते हुये कविता के नित्य नूतन परिवेश पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं — कौन कह सकता है कि काव्यो मे जितने रमणीय स्थल हैं सब ढूंढ डाले गये हैं, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालिया हो सकती हैं सब निरूपित हो गई अथवा जो जो स्थल रमणीय लगे उनकी रमणीयता का कारण वर्णन-प्रणाली ही थी। आदि काव्य रामायण से लेकर

१— चिंतामणि भाग १ पृ० १४८ एव रस मीमासा पृ० ६।
२— भरत ना० शा० १७/१२२, १२३। ३— रसमीमांसा पृ० ५०।

इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विभिन्न वर्णन प्रणालियां भरी पड़ी हैं जो निर्दिष्ट की गई और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।[1]

आचार्य शुक्ल की काव्यगत सौन्दर्यमूलक भावनाओं का आधार भी भारतीय रस सिद्धान्त ही है। सुकरात और अफलातून (Plato) ने सौन्दर्य को प्रयोजन के मानदण्ड पर परखा और सौन्दर्य को रूपात्मक मानकर उसे इन्द्रिय जन्य सुख से विलग किया। अफलातून ने तो दो प्रकार के ही सुख माने हैं। प्रथम इन्द्रिय जन्य सुख जो स्वार्थजनक होने के कारण अशुद्ध है और द्वितीय रूपात्मक सौन्दर्य जो निरपेक्ष होता है अतः उसमें शुद्ध सुख की उत्पत्ति होती है। बोसाक्वेट के शब्दों में:—

Plato has a clear view of aesthetic as distinct from real interest only in so far as he recognises a peculiar satisfaction attending the very abstract manifestation of Purely formal beauty.[2]

शुक्ल जी ने उपर्युक्त आचार्यों की तरह सौन्दर्य को निरपेक्ष अथवा एक विशिष्ट आत्मतोष नहीं माना, वे तो काव्यगत सौन्दर्य को कर्म और मनोवृत्ति को उभारने वाला ही एक तत्व मानते हैं और इस भांति सौन्दर्य का मूल सम्बन्ध सीधा-सीधा रसशास्त्र से जोड़ देते हैं।

कविता केवल वस्तुओं के ही रूप-रंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख-मंडल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता,त्याग, दया प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है।"[3]

वास्तव में शुक्ल जी ने कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य का निरूपण कर—काव्यगत सौन्दर्य का मनोवृत्तियों से सम्बन्ध अनुस्यूत कर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की विस्तृत विवेचनाओं को भारतीय रसशास्त्र में समाहित-करा लिया। शुक्ल जी का यह कर्म और मनोवृत्ति सौन्दर्य का निरूपण

१— रस-मीमांसा पृ० ५३ और चिंतामणि भाग १ पृ० २४।
-2 History of Aesthetic P. 53.
३— रस-मीमांसा—पृ० ३१ : चिंतामणि भाग १

रसशास्त्र और औचित्य सिद्धात पर ही आधारित है। औचित्य विचार चर्चा के प्रणेता क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य के २७ प्रभेदो द्वारा रस और औचित्य का अनन्य सम्बन्ध स्थापित कर भारतीय सस्कृति को पूर्ण वैज्ञानिक सौन्दयशास्त्र प्रदान किया। सौन्दर्य की मूल भावना भी वस्तुत क्षेमेन्द्र के इसी सूत्रात्मक श्लोक स अनुशासित है—

उचित प्राहुराचार्या सदृशे किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव तदौचित्य प्रचक्षते ॥
—औचित्य विचार चचा ७

इस भाति शुक्ल जी वास्तविक सौन्दय को रस और औचित्य की यौगिक क्रिया ही मानते हैं। वे पाश्चात्य काण्ट शिविर म सौन्दय शास्त्रीयो की भाति सौन्दय को निष्प्रयोजन एव निष्प्रमेय नही मानते। वे तो सौन्दय को शिव रूप ही मानते है। उपनिषद्कार के शब्दो म—

आनन्दाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्द प्रत्यभिसंविशन्ति।

शुक्ल जी सौन्दय के इस चरम स्वरूप आनन्द जो कि शिव स्वरूप है उसी के पक्षधर हैं, जो नित्य है मगल है। वे लिखते हैं—

"अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे स्थिर सौन्दय और स्थिर मगल कही नही, गत्यात्मक सौन्दय और गत्यात्मक मगल ही है, पर सौंदय की गति भी नित्य और मगल की भी। गति की यही मगल वास्तव मे पर्याय है।"[1]

शुक्ल जी के ये गत्यात्मक सौन्दय और मगल उनके काव्य सिद्धातो के प्राण है। उनका आलोचना प्रासाद इन्ही महत् स्तम्भो पर आधारित है। उनकी य सौंदय सम्बन्धी धारणाओ के मूल म सस्कृत साहित्य और उसका महान काव्यशास्त्र ही है जो अपने मौलिक रूप मे आदर्शवादिता लिए हुए है। सस्कृत साहित्य मे जहाँ हम एक ओर यथार्थ की सौंदयवान भूमि पर सचरण करते हैं वही हम दूसरी ओर उदात्त मानवीय आदर्शों की महती आस्थाएं भी हमारी वसाना का सस्कार करती रहती हैं। सस्कृत साहित्य के

१— चिन्तामणि भाग—२ पृ० ५३

प्रकाण्ड पंडित श्री एस० एन० दास गुप्ता ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के इस आदर्शवादी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए बड़े ही मनोवैज्ञानिक रूप से समाज और मनोविज्ञान को साहित्य से अनुस्यूत किया है।

भारतीय नाटककारों ने न केवल सामाजिक जीवन में उद्भूत वातावरण का, जो कि प्रगतिशील और स्वतंत्र था और जिसमें कि उनको विभिन्न प्रकृति के पात्र मिल जाते थे और जो संवेदनीय होते थे, चित्रण नहीं किया। उन्होंने तो यह माना था कि साहित्य का मूल प्रयोजन वास्तविक और ठोस जीवन का चित्रण भर नहीं है अपितु उन्होंने सोचा कि साहित्य का प्रयोजन तो परिष्कृत भावनाओं का समस्त बहिर्मुखी, ठोस और वास्तविक चीजों के संसर्ग से मुक्ति पाकर एक आदर्श वातावरण निर्माण करना है।

"But what I wish to urge is that writers of Indian drama had not on the one hand the environment consisting of a social life that was a progressive and free where concessions of diverse character could impress their nature on them and on the other hand they regarded that the main importance of literature was not the actuality and concreteness of real life but they thought that the purpose of literature was the creation of idealised atmosphere of idealised emotion diverted from all associations of concrete, actual and objective reality"[1]

शुक्ल जी का गद्यात्मक मंगल यही परिष्कृत भावनाओं का आदर्श वातावरण ही है।

शुक्ल जी ने कल्पना को इस अनन्त-रूपात्मक जगत के प्रति व्यक्ति मानस की प्रक्रिया स्वरूप ही ग्रहण किया है, वे उसे निरपेक्ष नहीं मानते हैं—वह भी भाव स्वरूपा है। इस नाना रूप और व्यापारमय विश्व के अतिरिक्त उसके किसी अन्य लोक की वर्ग-सा और बर्कले की दार्शनिक चिन्तना से अनुप्राणित विलियम ब्लेक, ब्रैडले तथा सूफियों की तरह इस कल्पना का

१— संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग २, पृ० ८७।

उन्होंने न तो कोई पृथक क्षेत्र ही माना और न उसकी पृथक सत्ता ही स्वीकार की। वे तो कहते हैं—

भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र के भीतर ही उसका सचार होता है। चेतना के कोन के बाहर न वह झांकने जाती है न जा ही सकती है।'

शाच आदि निरपेक्ष सौन्दर्यशास्त्रियों ने कल्पना को ही अधिक प्रश्रय दिया है, यहाँ तक कि इस प्रश्रय में भाव की सत्ता ही इन मनीषियों ने तिरोहित कर दी है। शुक्ल जी कल्पना को भारतीय रसशास्त्र की भांति *काव्य का साधन ही मानते हैं और कल्पना को भाव की अनुगामिनी।* वे लिखते है —

'योरपीय साहित्य मीमासा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं ।[1]

अतएव काव्य विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और सचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। *अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूलरूप अंग भाव-प्रधान है, कल्पना* उसकी सहयोगिनी।[2]

अतः शुक्ल जी कल्पना को इस गोचर जगत को ही वस्तु समझते है। वे इसे ही *हमारी विभिन्न बोधवृत्तियों की ही उद्भूति मानते हैं।* कल्पना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं —

"क्रोचे ने कल्पना पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप ज्ञानात्मक कहा है। हमारे यहा के रस-सिद्धात के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव कोई अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्ति-चक्र है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (cognition) प्रवृत्ति (tendency) और लक्षण (symptoms) ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती

१— *रस-मीमांसा पृ० २६*

२— चिन्तामणि भाग २ पृ० १८१

है। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस-निरूपण मे जो विभाव कहा गया है वही कल्पनात्मक और ज्ञानात्मक अवयव है जो कि भाव का संचार करता है।"[1]

अतः कल्पना रस-संचार का एक माध्यम-मात्र है, काव्य में मूल रूप भाव ही है जो कि काव्य मे निहित होता है और जिसका पाठकों में विभाव द्वारा उसका संचार होता है। अत काव्य विधान का यह दूसरा पक्ष विभाव भी उतना ही अनिवार्य है जितना कि भावपक्ष। शुक्ल जी कहते है —

'कहने की आवश्यकता नही कि काव्य में ये दोनो अन्योन्याश्रित है. अतः दोनो रहते है। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप मे रहता है।'

विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष माने गये है, आलम्बन और आश्रय। वस्तुतः विभाव ही वह तत्व है जो हमारे हृदय मे स्थायी भावो को जाग्रत कर उन्हे रस-रूप प्रदान करता है। भावो की व्यंजना अनुभावो के माध्यम से ही सम्भव है, काव्यशास्त्र के आचार्यों ने विभाव को दो प्रकार का माना है, आलम्बन और उद्दीपन विभाव। रस-चर्वणा मे मुख्य भूमिका इसी आलम्बन विभाव की होती है। अत. जहा आलम्बन उपयुक्त नही होता वहा रस निष्पत्ति भी पूर्ण रूप से नही हो पाती, वहाँ रसाभाव मात्र होता है।

उद्दीपन द्वारा सामान्य रूप से आलम्बन की चेष्टाये उद्दीप्त की जाती है। इसके दो भेद माने गये है – (१) आलम्बनगत और (२) बहिर्गत। बहिर्गत उद्दीपन का शृङ्गार मे ही विधान रहता है, अन्य रसो मे विरल। आलम्बनगत उद्दीपन, पात्र की चेष्टायें, गुण आदि होते है।

उद्दीपन आलम्बनगत भी होता है और आश्रयगत भी। वस्तुतः उद्दीपन विभाव की व्यजना अनेक रूपो से होती है। किसी भी एक पात्र की ओर से किसी एक भाव का उद्दीपन नही होता, सम्यक् परिस्थितियों मे उभय पात्रो की ओर से ही यह होता है। शुक्ल जी ने उद्दीपन विभाव आश्रयगत नही माना। वे लिखते है—

'अनुभाव-पक्ष मे आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन का और विभाव-पक्ष मे आलम्बन के रूप, चेष्टा और वचन का विन्यास होता है।'

१— चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८१
२— वही, भाग २, पृ० ८९।

शुक्ल जी ने विभाव-पक्ष में आलम्बन के रूप-चेष्टा और वचन का विन्यास और अनुभाव पक्ष में आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन का, समावेश क्या माना जब कि कई परिस्थितियों में आश्रय गत उद्दीपन विभाव ही अधिक शक्ति से व्यक्त होता है ?

शुक्ल जी केवल उक्त सूत्र कहकर ही इस विषय पर मौन हैं।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद ने लिखा है-- "शास्त्रकारों के मत से ये अलंकार अधिकतर स्त्रियों में ही रमणीय दिखाई पडने के कारण उन्हीं की चेष्टाओं के रूप में काव्य में वर्णित होते हैं, यद्यपि इनमें से कुछ नायक के भी हो सकते हैं पर अनुभाव के अन्तर्गत केवल वे ही चेष्टाएँ आ सकती हैं जो हृदयगत भाव का व्यंजना देती हों। अलंकारों के भीतर जिन चेष्टाओं का वर्णन होता है वे केवल शोभादायक होती हैं। इसलिए इन्हें उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण करना ठीक होगा।"[1]

पं० रामदहिन मिश्र ने भी उद्दीपन विभाव दो प्रकार के माने हैं, विषयगत और आश्रयगत।[2]

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने भी इसका संकेत किया है—

सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्ति विशेष पुष्णन्ति।[3]

तथा--

स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि।[4]

अतः उद्दीपन विभाव को वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए हम भी यह आवश्यक मानते हैं कि उद्दीपन विभाव आलम्बनगत और आश्रयगत दोनों प्रकार से काव्य में प्रतिष्ठित रहता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जन्मजात प्रवृत्तियों, भावनाओं आदि का रसशास्त्र के माध्यम से एक वैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित कर भारतीय वाङ्मय को एक समुन्नत मनोविज्ञानशास्त्र प्रदान किया। भावों की

१— काव्य वाङ्मय विमर्श, पृ० १६१
२— काव्य दर्पण, पृ० ७०-७१
३— सा० द० पृ० ८३
४— वही, ३। ९२-९३

बाह्य अभिव्यक्ति जिन क्रियाओं द्वारा व्यक्त होती हैं उन्हें इन शास्त्रकारों ने अनुभाव के अभिधान से अभिहित किया है। ये अनुभाव, रति, ओज, बीभत्स आदि भावों को विभिन्न रूप में अभिव्यक्त करते हैं। शुक्ल जी ने संस्कृत के आचार्यों की भांति ही भावों और अनुभावों का विशद विवेचन किया है। अनुभाव के अतिरिक्त व्यभिचारी भाव भी होते हैं, जो स्थायी भावों के साथ-साथ संचरण करते हैं। स्थायी भावों के साथ संचरण करने में कुछ आचार्यों ने इनका नाम संचारी भाव भी रख दिया। हिन्दी साहित्य में अधिकतर ये रस द्वितीय अभिधान से ही अधिक जाने जाते हैं।

उपर्युक्त भाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि की चर्चा यहां इसलिए की गई कि संस्कृत के अन्य आचार्यों की तरह शुक्ल जी ने भी भरत के नाट्य-शास्त्र के उस महत् सूत्र की चर्चा की है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में बहु-विवादित रहा है।

"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।"[1]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

उक्त सूत्र में प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति की व्याख्या संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की। इस भिन्नता के दृष्टिकोण से चार प्रकार के सिद्धांत प्रमुख माने गए। ये हैं क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, मुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद।

यहां हम विस्तार में न जाते हुए केवल शुक्ल जी के तत्सम्बन्धी सिद्धांतों पर ही विचार करेंगे। आचार्य शुक्ल ने अपने चिन्तामणि भाग १ तथा रस-मीमांसा के कई लेखों में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है:—

'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहां 'साधारणीकरण' कहलाता है।'[2]

१— भ० ना० शा० अ० ६।३१

२— चिन्तामणि पृ० ३०८

शुक्ल जी अपने सम्पूर्ण समीक्षाशास्त्र म भाव और विषय को बड़ी दृढ़ता से थामे हुए हैं—"वे आलम्बन को ही काव्य की मूल विधायक-शक्ति मानते हैं।" आगे वे और स्पष्ट कहते हैं—"साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का ही होता है।"

"साधारणीकरण" का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ क भावो का आलम्बन हो जाती है।[1]

उक्त दो उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी मूल मे आलम्बन का ही साधारणीकरण मानते हैं। डा० नगेन्द्र न शुक्ल जी की इस विचारणा का आचार्य विश्वनाथ की परम्परा म बताया है। वे लिखते हैं—'इसका मूल विश्वनाथ मे मिलता है। परन्तु यह भट्टनायक और अभिनव का मत नहीं है।'[2]

वस्तुत यह तीनो का मत नही है। साहित्य दर्पणकार न स्पष्ट कहा है —

व्यापारोऽस्ति विभावार्यै ।[3]

उनके इस उद्धरण से यह विदित है कि साधारणीकरण आलम्बन, आश्रय और उद्दीपन आदि का ही होता है।

हिन्दी के कतिपय मूर्धन्य आलोचक भट्ट नायक के वाच्यार्थ प्रतिपादन को देखकर शुक्ल जी के रस साधारणीकरण का भी उन्ही परम्परा मे मान लेते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। भट्ट जी के भोक्तृत्व व्यापार म जो रस चर्वणा है वह केवल आलम्बन की न होते हुए, आलम्बन, आश्रय और उद्दीपन आदि काव्य के सभी तत्व उसमे समाविष्ट हैं। वस्तुत उनके इस भोक्तृत्व व्यापार की परिधि रेखा उनके परवर्ती काल के ध्वनि सम्प्रदाय तक पहुच चुकी थी। इसी बात को समुद्र बन्धकार ने कुन्तक और भट्ट नायक म सीमा-रेखा खीचते हुए लिखा है—

१– चिन्तामणि, पृ० ३१३
२– विचार विवेचन, पृ० ३०
३– सा० द० ३।९–१० पृ० ५४

वक्रोक्ति-जीवितकार-भट्टनायकयोः द्वयोरपि व्यापार-प्राधान्ये अविशिष्टेपि पूर्वत्र विशिष्टाया अभिधाया प्राधान्यम् उत्तरत्र रसविषयस्य भोक्तृत्वापरपर्यायस्य व्यजनस्य ।[1]

भट्ट जी का सिद्धान्त अभिनव पादाचार्य के बहुत निकट है। शुक्ल जी जहा आलम्बन का साधारणीकरण मानते है वहा वे दर्शकों और पाठकों के भोक्तृत्व व्यापार को प्राथमिकता प्रदान करते है। अनुमितिवाद को अपनी तार्किक प्रणाली मे खण्डित करते हुए, उन्होंने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए, दो शक्तियों की कल्पना की है— (१) भोजकवृत्ति और (२) भोगवृत्ति। काव्यास्वादन से एक ऐसी शक्ति का सहज उन्मेष हो जाता है कि जिससे पाठक दूसरों को मागने की क्षमता रखने लगता है, यह शक्ति भोजकवृत्ति होती है। काव्यार्थ को ग्रहण करने की शक्ति को उन्होंने भोगवृत्ति माना है। प्रथम क्षमता से काव्य के विशिष्ट विषय का सामान्य रूप मे उदात्तीकरण हो जाता है और रस भोक्ता भी अपना वैशिष्ट्य खोकर सामान्य पाठक अथवा दर्शक रह जाता है।

वस्तुत भट्टनायक जी की भोगवृत्ति पर्याप्त रूप से व्यापक है। भोग केवल विषय मात्र का ही नही है उसकी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य और उसको प्रेषणीय बनाने वाली समस्त शक्तियो और काव्य के इतर तत्वों का भी भोगवृत्ति की व्यापक परिधि और दर्शक-पाठक की रसचर्वणा शक्ति ने उन्हें कवि की अनुभूति के साधारणीकरण तक पहुंचा दिया था। जब कि शुक्ल जी केवल आलम्बन तत्व को ही दृढ़ता मे थामे हुए हैं। यही कारण है कि शुक्ल जी को अपने 'आलम्बन के साधारणीकरण' सिद्धान्त की अवैज्ञानिकता का परिहार करने के लिए उन्हें 'शील-द्रष्टा' के नए तत्व की कल्पना करनी पड़ी है। उनके रस आलम्बन के साधारणीकरण के निर्वाह ने जब नीतिवादी शुक्ल के सामने एक सीमा रेखा खड़ी कर दी तब वे उसके अनुसमर्थन मे कुछ ढीले भी पड़ गये और यही कारण है कि कहीं तो वे 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की बात करते हैं और कहीं आलम्बन के साथ साधारणीकरण की। आचार्य रामदहिन मिश्र ने इस विषय पर लिखते हुए कहा है:—

"आश्रय के साथ तादात्म्य की बात लेकर ही 'शील-द्रष्टा' आदि की

१— अ०० मर्श० म० वन्य० का० पृ० ९

वान उठती है। यह विचार विषय को स्पष्ट बनाने की अपेक्षा और अस्पष्ट बना देता है।"[1]

यह भी दृष्टव्य है कि आचार्य शुक्ल इस तत्व का विश्लेषण करते-करते यह कह बैठे हैं,—"तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में बनलाता है उसके प्रति उसका कुछ-न-कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है।'[2]

इन उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का साधारणीकरण सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक नहीं था जितना कि ध्वनिवादी अभिनवपादाचार्य का और एक बड़े अंश में भट्टनायक का। वे अपने आलम्बन के साधारणीकरण सिद्धान्त पर भी उतने आस्थावान हैं, जैसे 'तुलसी' और काव्य में अभिव्यंजनावाद आदि विषयों पर।

श्री शिवबालक एम० ए० ने शुक्ल जी और भट्ट नायक की समानता का उद्घाटन करते हुए लिखा है—"आचार्य शुक्ल की साधारणीकरण के विषय में भट्टनायक की सी ही धारणा है।"[3]

केवल शुक्ल जी के इस उद्धरण पर 'जब तक किसी भाव का विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन बन सके।'

यह कह देना कि 'शुक्ल जी इस विषय में भट्टनायक की-सी ही धारणा रखते हैं',[4] कम समीचीन जान पड़ता है। भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित दो वृत्तियाँ भावक और भोग, शुक्ल जी की उक्त धारणा से अधिक व्याप्ति लिये हुए हैं।

अभिनवपादाचार्य के अनुसार 'स्थायी भाव आलम्बन, उद्दीपन आदि के साधारणीकरण के कारण रस भोक्ताओं के कारण सुषुप्त वासना उद्भूत

१– काव्य दर्पण पृ० १७५
२– रस-मीमांसा, पृ० ३१४
३– हिन्दी के आलोचक—शुक्ल जी का रस सिद्धान्त।
४– शुक्ल जी का रस सिद्धान्त–हिन्दी के आलोचक, सम्पा० शचीरानी।

हो उठती है--ये वासनाएं अव्यक्त रूप मे पहले से ही सहृदयों में स्थित् रहती है और रसास्वादन से उनकी उचित चर्वणा होती है, और इस भांति काव्य के प्रदर्शन से केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुतः अभिनवपादाचार्य का उक्त मत सर्वमान्य है और अधिक वैज्ञानिक भी। साधारणीकरण का उक्त क्रम जहां अपने आप में एक वैज्ञानिक और तार्किक समाधान रखता है वहीं उसमे एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। उपर्युक्त साधारणीकरण--सिद्धात को आधुनिक युग के संस्कृत के निष्णात पण्डित श्री एस० एन० दास गुप्ता ने प्रतिपादित करते हुए लिखा है.-

"In the subconscious and unconscious regions there are always lying dormant various types of emotio-motion complexes, when through artistic creation a purely universal emotional fear amour etc. are projected in the mind they become affiliated to those types of emotio-motion compleses and the mutual affiliation or appreciation or implict recognition of identity immediately transformer the presented artistic universal in to artistic joy or rasa. It is for this reason that in the rousing of artistic joy there is instinct and identity among all are-enjoyers.[1]

मनुष्य के अवचेतन और उप-चेतन मे सदैव ही साधन रागात्मक वृत्तियों का वास रहता है। जबकि इन भय, रति आदि रागो की जो कलात्मक सर्जना के माध्यम से उद्‌भावना होती है तब उन अन्तःवासिनी भावनाओं के साथ ये सार्वजनीन और सार्वभौमिक रूप में अनुस्यूत हो जाती है, और यह अन्योन्याश्रित सार्वजनीन तद्रूपता शीघ्र ही कालात्मक आनन्द अथवा रस मे परिवर्तित हो जाती है। इसी हेतु समस्त रसभोक्ता रसचर्वणा के समय एक सामान्य भावभूमि पर अवस्थित् होते है।

शुक्ल जी अपने मौलिक प्रतिपादन के विवर्त मे पड़कर रस के इस मनोवैज्ञानिक पहलू पर कम विचार कर सके। उनकी मौलिकता की अन्वेषी प्रज्ञा न तो सम्पूर्ण रूप में भारतीय आलोचना शास्त्र को ही ग्रहण कर सकी और न पाश्चात्य को। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की भी एक धारा विशिष्ट ने ही,

1- History of Sanskrit Literature P. 603

जो कि उनके विचारों के अधिक निकट थी, आकृष्ट किया।

पाश्चात्य प्रभाव

संस्कृत साहित्यशास्त्र की भाँति शुक्ल जी ने अंग्रेजी साहित्यशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया था। उनके इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही उनके साहित्यगत विश्वासों और सिद्धान्तों मे एक विद्रोह-सा दिखाई देता है उनके विचारों मे एक गत्यात्मकता है। उनकी अपनी सीमाओं (जो कि उनके वातावरण की देन थी) के उपरांत भी असन्दिग्धरूप से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों में अपने प्रयास भर सार-सार ही ग्रहण करने का आयास किया।

शुक्ल जी की पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की विशालता हमें उनके कतिपय निबन्धों में बहुत ही स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। जिसमें सहज ही यह विदित होता है कि शुक्ल जी पाश्चात्य दार्शनिक विचारणाओं और तद्देशीय साहित्यिक चिन्तनाओं की विभिन्न धाराओं और उनकी विधाओं से भी खूब परिचित थे।

अपने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में शुक्ल जी जहाँ भारतीय चिन्तन-प्रणाली और तज्जन्य हिन्दी-साहित्य का विश्लेषण करते हैं वहाँ उन्होंने पाश्चात्य काव्य-जगत की इस पद्धति विशेष का भी अपनी गहन और छिद्रान्वेषी प्रज्ञा द्वारा बड़े ही तार्किक रूप में उद्घाटन किया। उन्होंने सूफियों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ, पाश्चात्य अधिदृश्यनवादी तथा तत्सम्बन्धी धाराणाओं की भी विस्तृत व्याख्याएं की है। उक्त सन्दर्भ में आप पाश्चात्य विचारणाओं का विश्लेषण करते हुए कहते है —

"विलायती काव्य क्षेत्र में सुख-सौंदर्य की भावना को अज्ञात और अव्यक्त के क्षेत्र मे ले जाकर पूर्णता पर पहुचाने का इशारा किधर से मिला, थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए। यह इशारा, जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' से मिला। जिसके प्रवर्तक काट थे। उन्होंने मनुष्य के ज्ञान की विस्तृत परीक्षा करके यह प्रतिपादित किया कि इन्द्रियों की सहायता से मन के जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं, किसी बाह्य वस्तु के नहीं। परमार्थ पक्ष में ईश्वर जगत और आत्मा को पक्ष-विपक्ष दोनों के प्रमाणों के खण्डन

द्वारा, असिद्ध ठहराकर, व्यवहार पक्ष में उन्होंने ईश्वर, अमर आत्मा और अनन्त जीवन सब का प्रतिपादन किया।"[1]

कांट के उक्त दुरुह तत्वचिन्तन का विश्लेषण शुक्ल जी का आंग्ल साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण है। शुक्ल जी ने आगे चलकर कांट के उक्त तर्क को काटा भी है। उन्होंने बतलाया कि अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता नहीं। अव्यक्त, निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है।

शुक्ल जी का यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि रहस्यवाद धर्म और दर्शन का विषय तो हो सकता है पर इसकी शुद्धता काव्य के क्षेत्र में सन्दिग्ध ही है। वे कहते हैं:—

"यहाँ इतना ही कहने का प्रयोजन है कि अव्यक्त, अगोचर ज्ञान काट का विषय है हमारे यहाँ न वह उपासना-क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्य क्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।"

शुक्ल जी की विश्लेषण-निरपेक्षता अद्वितीय थी, वे यह कह कर भी रहस्यवाद के उत्कृष्ट स्वरूपों और संकेतों को जो कि उन्हें अंग्रेजी साहित्य में मिले बड़ी ही उदारता से स्वीकार किया। शैले और वर्डस्वर्थ के प्रकृति-चित्रण के माध्यम से किए गये रहस्यवादी संकेतों का उन्होंने खूब स्तवन किया है। वे कहते हैं :—

सिद्धांती या साम्प्रदायिक रहस्यवादियों के अतिरिक्त योरोप के प्रसिद्ध कवियों में भी बहुत से ऐसे कवि हुए हैं जिनकी कुछ रचनाओं के बीच-बीच में बड़ी सुन्दर स्वाभाविक रहस्य भावना पाई जाती है। वर्डस्वर्थ (Wordsworth) और शैली (Shelley) इसी प्रकार के कवि थे।[3]

जिस भाँति उन्होंने हिन्दी कवियों के रहस्यवाद को उनकी आत्म-छलना कहा है ठीक उसी भाँति उन्होंने यूरोपीय कवियों के सिद्धांती और साम्प्रदायिक काव्य-स्वरों को निम्नकोटि का बतलाया है। कालरिज, विलियम ब्लेक, डब्ल्यू० बी० ईट्स, मिस मकाले आदि की रहस्यवादी कविताओं

१— चिन्तामणि, पृ० ७९ २—वही पृ० ८१।
३— वही भाग २, पृ० १३१

को उन्होंने साम्प्रदायिक ठहराकर मेरी स्टजन की पुस्तक 'Studies of Con temporary' में से कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं।

It (the book) is curiously interesting since it may be regarded as the testament of mysticism for the year of its appearance nineteen hundred and fourteen That is indeed the most important fact about it, though no one need begin to fear that he is to be fobbed off with interior poetry on that account

पर इससे किसी को यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि अब निम्न कोटि की कविता का पाखंड सामने रखा जायगा।[1]

शुक्ल जी इन रहस्यवादी कवियों की कविता में भावों की सच्चाई का अभाव और व्यंजना की कृत्रिमता का उद्घाटन करते हुए कहते हैं —

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोक बद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुंचाना यही कला का लक्ष्य होता है।"[2]

मेथ्यु आर्नल्ड भी उक्त स्वरों में स्वर मिलाकर कहता है —

And this State (World and Society) of things is the true basis for the creative powers exercise, in this it finds its data its materials truly ready for its hand all the books and the reading in the world are only valuable as they are help to this[3]

सजनात्मकशक्ति की अभिव्यक्ति का वास्तविक आधार यही (लोक और समाज) है। सजनाशक्ति इसी में अपनी वस्तु और सत्य ग्रहण करती है जो कि उसकी सजना के लिये सही रूप में तत्पर रहते हैं। सभी ग्रंथ और पठन-पाठन का प्रयोजन और मूल्य वहीं तक है जहां तक वे इनके सहायक हैं।

शुक्ल जी के इस वस्तुवादी दृष्टिकोण पर वस्तुतः पाश्चात्य साहित्य चिन्तना की ही छाप है। उनके साहित्य सम्बन्धी सिद्धांतों में वे यों तो उन समस्त पाश्चात्य समीक्षाकारों के हिमायती हैं जो बेनेडोटे क्रोंचे और मजहबी

१— चिन्तामणि भाग २, पृ० १२१ २— वही, पृ० १२२
३— Matheu Arnald ' Funct on of Criticism P 5,

रहस्यवाद के विरोधी हैं तथा जो काव्य की मूल अभिव्यक्ति लोक और जीवन से अनुप्राणित नहीं मानते हैं। किन्तु तदपि उनकी साहित्यगत मान्यतायें और विश्वास आई० ए० रीचार्डस को भी शुक्ल जी ने जम कर उद्धृत किया है।

शुक्ल जी के कई विरोध तो उन्हीं विचार रेखाओं पर हैं जिनका कि आई० ए० रीचार्डस् ने विरोध किया था और जो भारतीय साहित्य चिंतन पद्धति के विपरीत ठहरते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं.—

कविता के सम्बन्ध में कई प्रवाद जो कुछ दिनों से योरोप में प्रचलित चले आरहे हैं, उनकी नकल हिन्दी में भी इधर-उधर सुनाई पड़ने लगी है, इन प्रवादों में एक यह भी है कि 'कला का उद्देश्य कला ही है।" इस उक्ति के अनुसार कविता का क्षेत्र–जीवन क्षेत्र से बिल्कुल अलग है। कविता विचार करते समय जीवन की बातों को तो लाना ही नहीं चाहिए। कला का मूल्य निर्धारित करने में बाहरी बातों के मूल्य का विचार व्यर्थ है। कला का तो अपना मूल्य अलग है। कला सम्बन्धी यह वाद सन् १८६६ ई० में फ्रांस में चला।..................अंग्रेजी में उपर्युक्त मत का बहुत स्पष्ट प्रतिपादन डा० ब्रैडले ने अपनी पुस्तक (Lectures on poetry) में किया है। हर्ष की बात है कि इस मत का तथा इसी प्रकार के और प्रचलित वादों का निराकरण रिचर्डस् ने अपने काव्य समीक्षा के सिद्धान्त में बहुत अच्छी तरीके से कर दिया है।"[1]

ब्रैडले ने अपने उक्त ग्रन्थ में काव्य के रसास्वादन के बारे में लिखा है:—

"First this experience is an end itself, is worth having, on its own account, has an intrinsic value. Next its poetic value is this intrinsic worth alone....for its name is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself, independent, complete and autonomous.

पहले यह रसानुभूति अपने आप में ही एक प्रयोजन है, स्वतः की

१— चिन्तामणि भाग १, पृ० १०६–१०७

अनिवर्चनीयता के कारण इसका अपना एक आन्तरिक मूल्य है। द्वितीय इसका काव्य मूल्य ही सर्वथा उसका प्रयोजन है। उसकी प्रकृतिगत विशिष्टताओं के अनुसार न तो वह लोक का अंग है न उसकी प्रतिच्छाया किन्तु अपने आप म स्वय पूर्ण है स्वतन्त्र है और आत्म प्रेरित। रिचार्ड्स ने भी उक्त उद्धरण अपने 'Principles of criticism' के पृष्ठ ७४ पर उद्धृत किया है। ठीक इसी भांति रिचाड्स् द्वारा उद्धृत क्लाइव बेल द्वारा रचित ग्रन्थ 'कला' का भी उद्धरण शुक्ल जी ने दिया है।[1] क्लाइव बेल ने इस प्रकार लिखा है—

To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs no tamdiarity with its immotions and to not forget the knowledge of life can help no one to our understanding

अत यह स्पष्ट है कि उक्त समस्याओ पर शुक्ल जी का विवेचन रिचाड्स् की ही चिन्तन दिशा मे है।

यही नही अपने हि० सा० के इतिहास म शुक्ल जी ने ब्रेडले की प्रत्यालोचना करते हुये आइ० ए० रिचाड्स को उद्धृत किया है।

"यह सिद्धात कविता को जीवन से अलग समझने का आग्रह करता है। पर स्वय डाक्टर ब्रेडले इतना मानते हैं कि जीवन के साथ उसका लगाव भीतर-भीतर अवश्य है। हमारा कहना है कि यही भीतरी लगाव असल चीज है। जो कुछ काव्यानुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। काव्य-जगत की शेष जगत से भिन्न कोई सत्ता नही है और न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम हैं। उसकी योजना बिल्कुल वैसे ही अनुभवो से हुआ करती है जैसे और सब अनुभव होते हैं। प्रत्येक काव्य एक परिमित अनुभव खड मात्र है जो विरोधी उपादानो के ससर्ग से कभी चटपट और कभी देर मे छिन्न भिन्न हो जाता है। साधारण अनुभवो से उसमे यही विशेषता होती है कि उसकी योजना बहुत गूढ़ और नाजुक होती है। । उसकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह एक हृदय से दूसरे हृदय म पहुचाया जा सकता है। बहुत से हृदय उसका अनुभव बहुत थोड़े ही फेर-फार के साथ कर सकते हैं। काव्यानुभाव से मिलते-जुलते और भी अनुभव

१– चिन्तामणि भाग २ पृ० १०६
Civil bell Art 25

होते हैं, पर वे इस अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता है यही सर्वग्राह्यता ।[1]

रिचार्डस् की मीमांसा का यह सारांश स्पष्ट रूप से इस सत्य का सूचक है कि शुक्ल जी के 'लोक और काव्य', 'पेषणीयता' तथा 'साधारणीकरण' आदि के सिद्धान्तो, उनके अन्योन्याश्रित सन्दर्भों मे अप्रत्यक्ष रूप से अथवा उक्त सिद्धान्त उनके अपने जीवन-दर्शन की परिधि मे आने के कारण, स्थान-स्थान पर व्यंजित हुए है ।

"लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का जन्म होता है ।"

"एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुचाना यही कला का लक्ष्य होता है ।"

शुक्ल जी के उक्त दो सूत्र ही नही अपितु ऐसे कितने ही सूत्र हैं जो रिचार्ड की विचार-सारणियो मे आते है ।

शुक्ल जी कहते है— 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धो के सकुचित मडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहां जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का संचार होता है । इस भूमि पर पहुचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता । वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता मे लीन किये रहता है ।'[2]

रिचार्डस की भी उक्त सम्बन्ध मे ऐसी ही धारणाये है। वे लिखते है:—

At the same time since more of our personality is engaged the independence and individuality of other things become greater. We seem to see and all round' them, to see them as they realy are; we see them apart from anyone particular interest which they may have for us.

शुक्ल जी के ये सूत्र 'कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता' सूत्र' 'लोक सामान्य भावभूमि' रिचार्ड के उक्त कथित Apart from any one particular interest तथा to see all round them as they really are ही है ।

१— हि० सा० इ० पृ० ६१२-१३

2—Principles of Literary Criticism. P. 51. 52.

शुक्ल जी की भाषा म यही 'हृदय की मुक्तावस्था है।'

प्रवृत्तिगत समानताओ की दृष्टि से शुक्ल जी मैथ्यूआर्नल्ड के अधिक निकट हैं। दोनो आलोचक मकल्पी हैं और उन्ह अपन निर्णयो पर गहरी आस्था है। अत जहाँ कही और जिस किसी रचनाकार क सम्बन्ध म वे लिखते हैं अथवा उनकी कृति का मूल्याकन करत हैं तो उनके हर शब्द मे एक अप्रतिहत विश्वास रहता है।

शुक्ल जी के आदश तुलसी थे और आर्नल्ड के गेटे। दोनो जगत जीवन के वास्तविक मीमासक थे और दोनो के काव्य म जगत और जीवन की सूक्ष्म विवेचना मिलती है। अत जिस भाति शुक्ल जी पत प्रसाद निराला महादेवी आदि हिन्दी के सुधी रचनाकारो से समझौता नही कर सके उसी भाति आर्नल्ड भी शेली, टेनीसन कीट्स आदि अंग्रेजी क गीति कवियो मे समझौता करने मे अक्षम रहे। तुलसी की विचारणा वास्तविक जीवन दशाओ के मार्मिक पक्षो क उदघाटन की ओर थी काल्पनिक वैचित्र्य विधान की ओर नही'। तुलसी म जगत और जीवन का जो वैविध्य प्रकट हुआ है वह शुक्ल जी को अधुनातन कवियो म कम देखने को मिला। मैथ्यूआर्नल्ड को भी यह आम शिकायत रही है—

Everyone can see that a poet for instance ought to know life and the world before dealing with them in poetry and the life and the world being in modern times very complete things, the creation of modern poet to be worth much, implies a great critical effort behind it else it must be a comparatively poor, barren and short lived affair This is why Byron s poetry has so little endurance in it and Goethe s so much both Byron and Goethe had a great Productive Power, but Goethe was nourished by a great critical effort providing the true materials for it and Byron's was not, Goethe knew life and the world, the Poet s necessary subject much more comprehensively and thoroughly than Byron [1]

इस प्रथिल जीवन और जगत को जानने और उसे भली भाति समझने की आज के अधुनातन कवियो को आवश्यकता है अन्यथा उनकी सजनाये

1- Tha function of Criticism P 3—4

उतनी उर्वरा और स्थायी नहीं हो सकती। यही कारण है कि बायरन के काव्य में विश्व और जीवन की मीमांसा का आयास कम है और गेटे में इनकी विवेचनायें अधिक यद्यपि दोनों में सृजना-शक्ति सम्यक थी। किन्तु गेटे की काव्य-वस्तु उसके जगत और जीवन की महान विवेचनाओं से अनुप्राणित है और बायरन की नहीं। गेटे ने बायरन की अपेक्षा जगत और जीवन को भली-भांति जाना जो कि एक कवि के लिए अधिक आवश्यक है।

आचार्य शुक्ल का भी यही दृष्टिकोण है जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष प्रकट किया है।

शुक्ल जी और मैथ्यूआर्नल्ड दोनों नीतिवादी और आदर्शवादी हैं। शुक्ल जी के नैतिक मान तुलसीदास के नैतिक मान है, जिसका हम अन्यत्र विश्लेषण करेंगे। वे अपनी इन नैतिक आस्थाओं को छोड़कर एक चरण भी चलने को तत्पर नहीं है।

मैथ्यूआर्नल्ड भी नीतिवादी और आदर्शवादी थे। काव्य के जगत में वे समाज के नैतिक मूल्यों का शुक्ल जी की भांति ही सम्मान करते थे। वर्ड्सवर्थ पर लिखते हुए उन्होंने कहा है:—

A Poetry of revolt against moral ideas is a Poetry of revolt against life; Poetry of indifference towards moral ideas is a Poetry of indifference towards life.

शुक्ल जी और मैथ्यूआर्नल्ड के ये वस्तुवादी नैतिक विश्वास उनके आलोचनात्मक साहित्य के प्राण हैं। बहुत कुछ दोनों की विचार धारा एक ही दिशा में प्रवहमान हुई थी। दोनों के सिद्धान्तों को उनके अपने युग में तथा परवर्ती युग में सन्दिग्ध रूप से देखा गया। किन्तु दोनों की शक्तियां उनके अपने विश्वासी निर्णय इतने सशक्त है कि आज भी वे अपने स्थान पर अमर हैं। हडसन् के शब्दों में:—

Even if we should find Arnold's utterances on this or that Poet unsatisfying, even if they prove of little or no service to us as means to an end, they will still remain interesting as his utterances and what is true, of course, in regard of all great critic.

यहाँ तक कि यदि अर्नाल्ड के इस अथवा उस कवि के बारे में कहे गये शब्द असन्तोषप्रद हैं और वे साधन रूप में मंतव्य की प्राप्ति में कम

उपयोगी अथवा निरूपयोगी है तो भी वे सदैव रुचिकर रहेंगे क्योंकि ये उसके शब्द हैं और वस्तुतः यही सत्य सब महान आलोचना के लिए घटित होता है। आलोचना का मैथ्यूआनन्ड के सिद्धान्तों की उपादेयता पर सन्देह हो किन्तु शुक्ल जी की तो आज भी हर शब्द की उपादेयता है।

शुक्ल जी का अध्ययन विशाल था, वे पाश्चात्य चिन्तना प्रणाली और उसके वस्तु सत्य से भी उतने ही निकट थे जितने कि भारतीय वाङ्मय में। स्पिनाजा, ह्यूम काण्ट, बकले आदि दार्शनिकों का उनका अध्ययन भी उतना ही प्रगाढ़ था जितना कि शंकर, रामानुज, निम्बार्क आदि का। इन सभी के अनुशीलन का ही यह महत प्रभाव है कि शुक्ल जी ने भारतीय चिन्तना पद्धति के अनुकूल उसकी प्रगतिशील विचार-सरणियां में पाश्चात्य जगत की महती विचारणाओं का अनुस्यूत कर हिन्दी आलोचनाशास्त्र को एक सामंजस्यवादी दृष्टिकोण देकर उसे एक समुन्नत वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया।

शुक्ल जी का मौलिक चिन्तन

साहित्य में मौलिकता सापेक्ष होती है। इस मौलिकता की उद्भावना प्राप्त सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं, युगीन सत्यों और कृतिकार की उनके प्रति प्रतिक्रियाओं तथा उसकी संवेदना क्षमताओं द्वारा ही होती है। अतएव यह स्वयंसिद्ध है कि साहित्य में और विशिष्टतः आलोचना-साहित्य में मौलिकता अपने आप में कोई अलग से इकाई नहीं होती अपितु वह तो विभिन्न आयामों से समन्वित एक सामूहिक सृजन है।

शुक्ल जी का पहला मौलिक चिन्तन भारतीय रस-शास्त्र के साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान का समन्वय कर उसे वैज्ञानिक स्वरूप देने की दिशा में प्रयास है। इस प्रयास में वे अपनी सीमाओं के उपरान्त भी बहुत कुछ सफल हुए। यदि शुक्ल जी की अवतारणा हिन्दी-साहित्य-जगत में नहीं होती तो हिन्दी आलोचना पाश्चात्य दिशा की ओर अनुधावित हो गई होती।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी की आलोचना का मूल्यांकन करते हुए, उक्त सत्य को उद्घाटित किया है।[1]

१– हिन्दी-आलोचना की इसी आरम्भिक किन्तु नव चेतन अवस्था में पंडित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार शास्त्र को

शुक्ल जी ने भारतीय काव्य-शास्त्र के मनीषियों द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत को एक ऐसा मोड़ दिया कि उसे उन्होंने पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्र के विकसित स्वरूप तक लाकर खड़ा कर दिया। शुक्ल जी का यह कार्य साहित्य में अपना ऐतिहासिक स्थान रखता है। भाव, स्थायी भाव, अनुभाव आदि की वैज्ञानिकता, उन्होंने मनोविज्ञान में प्रचलित इनके पर्यायों Immotions, instincts, Sentiment के आधार पर की और इस बात का उद्घाटन किया कि भारतीय चिन्तना मनोविज्ञान से शून्य नहीं है, भले ही वह यहां पृथक रूप से शास्त्र-रूप में ग्रहीत नहीं किया गया हो।

शुक्ल जी ने दूसरा मौलिक कार्य रस के अपार्थिव-पारस्परिक स्वरूप को लौकिकता प्रदान करने का किया और काव्य को सर्वथा लोक और जीवन की संवेदनात्मक प्रक्रिया ही माना। इस लोक और जीवन से परे न तो कोई अनुभूति होती है और न कोई काव्य। शुक्ल जी का यह सिद्धान्त आज भी सर्वमान्य है। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर काव्य को लोक-जीवन के निकट लाकर रख दिया और उसे शिव और आनन्दस्वरूप सिद्ध कर रस भोक्ताओं के लिये उन्होंने एक अभिनव उदात्त मनोभूमि प्रस्तुत की।

शुक्ल जी ने ही, जिसे वास्तविक रूप में सैद्धांतिक आलोचना कहा जा सकता है, सैद्धान्तिक आलोचना का प्रारम्भ किया। किन्तु आज भी उन आलोचनाओं में निरूपित सिद्धान्तों, विवेकपूर्ण और अकाट्य तर्कों तथा उनकी सूझों को देखकर कौन कहेगा कि काव्य के ये सिद्धान्त हिन्दी में प्रथम बार प्रतिपादित हुए हैं। शुक्ल जी ने उनके अपने प्रतिमानों को अपनी मूल्यांकन सम्बन्धी आलोचनाओं में बड़ी सफलता से प्रयुक्त किए हैं। सिद्धान्त और व्यवहार की इस सम्यकता का निर्वाह शुक्ल जी जैसे सुधी आलोचकों का ही

नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिये यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए। —हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी पृ० ५८-५९।

नैपुण्य है, जो वस्तुतः एक आलोचक का गुण होता है। यद्यपि उनके इन सैद्धान्तिक प्रतिमानों की उदभावनायें उन्होंने उन प्रायोगिक कृतियों द्वारा ही की हैं जिन पर कि वे अपने इन सिद्धान्तों का प्रयोग में लाये हैं। किन्तु उन कृतियों में से उद्भूत शुक्ल जी के ये प्रतिमान मोटे रूप में उनकी आलोचनात्मक कृतियों में एक सामान्य रूप धारण किये हुए ज्ञात होते हैं जिनके माध्यम से उन्होंने समस्त हिन्दी-साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है।

कृतियों के मूल्यांकन के लिये सामान्य प्रतिमानों की सर्जना और उनका प्रयोग, उस युग में, उन परम्पराओं में जो कि मौन हों, जिन में साहित्य के सिद्धांतों और उसके मूल्यांकन के सन्दर्भों में लेखक को नायक और नायिका, अलंकार और छंदों की तालिका परम्परा में मिली हो उस समय शुक्ल जी द्वारा आलोचना का एक नया भवन खड़ा करना उन्हीं का साहस था।

यद्यपि शुक्ल जी की आलोचना की पीठिका संस्कृत काव्य-शास्त्र और अंग्रेजी पीठिका द्वारा निर्मित है किन्तु इसके उपरांत भी उनकी अपनी उपपत्तियाँ उतनी ही मौलिक हैं जितने कि ये शास्त्र—डाक्टर नगेन्द्र ने श्यामसुन्दर दास जी की मौलिकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में यही कहा है।[1]

वस्तुतः शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धान्तों में इतनी सम्यक्ता है कि उन पर न तो पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त ही इतने छाये हुए हैं और न

१— पंडित रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धांतों को बुद्धि से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे वरन् शुक्ल जी की अपनी अनुभूति का अंग भी बन गए थे। उनकी साहित्यिक-चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नए से नए अथवा बड़े से बड़े सिद्धान्त के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कस कर ही उसका निश्चयपूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी।

—विचार और विवेचन पृ० ८६-८७

पौर्वात्य ही। उन्होंने तो प्रत्येक सिद्धान्त को अपने विवेक की आंच द्वारा शुद्ध किया, उसमे से कुन्दन निकला तो उसे ग्रहण किया अन्यथा परित्याग।

उनकी मूल्याकन सम्बन्धी आलोचनाएँ उनके ही काव्य-सिद्धान्तो की आत्मा हैं। ये काव्य सिद्धान्त हिन्दी में तुलसी, जायसी, संस्कृत में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति तथा पाश्चात्य साहित्य में गेटे, मिल्टन आदि द्वारा ही अभिनिर्मित होते हैं। वस्तुतः इनका काव्य ही उनके प्रतिमान है, ये ही उनके आलोचनात्मक सिद्धान्त हैं। शुक्ल जी के साहित्य—गत मौलिक सिद्धान्त वास्तव मे इन्ही कवियो द्वारा उपजीवित हैं।

उनकी सूक्ष्म और पारदर्शी दृष्टि

महान आलोचक की दृष्टि सूक्ष्म और पारदर्शी हुआ करती है। उसकी इस दृष्टि मे वह कविता के मार्मिक स्थलो को पहचानता है।

शुक्ल जी मे आलोचक का यह महान गुण अवस्थित था। तुलसी और जायसी पर लिखते हुए उन्होने ऐसे कई स्थलो का उद्घाटन किया है जो कि अभी तक अनपहचाने थे। यहाँ तक कि जायसी को तो शुक्ल जी के पूर्व साहित्य मे वह स्थान ही नही प्राप्त हो सका था जिसके कि वे वास्तविक भाजन थे।[1]

शुक्ल जी की दृष्टि छायावादी कविता के क्षीर वाले अंश पर भी टिकी, यह नही कहा जा सकता है कि इनकी पारदर्शी दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का यह महत् आन्दोलन ओझल ही रहा। किन्तु यह सब उन्ही कवियो पर जो कि इसके वास्तविक पात्र थे। सुमित्रानन्दन पन्त के बारे मे उन्होंने लिखा है।

"गुंजन" के पीछे तो पन्त जी वर्तमान जीवन के कई पक्षो को स्वीकार चलते दिखाई पड़ते हैं, उनके 'युगान्त' मे हम देश के वर्तमान जीवन मे उठे

१— शुक्ल जी ने एक ऐसे कवि को जिसे, हिन्दी के पाठक बहुत कम जानते थे, तुलसीदास के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस तरह शुक्ल जी ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को और समृद्ध किया है, साहित्य के इतिहास के क्षितिज को और विस्तृत किया है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना पृ० ८९

हुए स्वरो की मीठी प्रतिध्वनि जगह-जगह पाते हैं। कही-परिवतन का प्रबल आकाक्षा है, कहीं श्रमजीवियो की दशा की झलक है। कहीं तक-वितक छोडकर श्रद्धा विश्वासपूवक जीवन पथ पर साहस के साथ बढते चलने की ललकार है, कहीं बापू के प्रति श्रद्धाजली है। युगान्त मे कवि स्वप्नो से जागकर यह कहना हुआ सुनाई पडता है।[1]

प्रसाद के बारे मे वे लिखते हैं —

"जैसा कि पहले सूचित कर आये हैं, 'लहर' मे प्रसाद जी ने अपनी प्रगल्भ कल्पना के रग मे इतिहास के कुछ खडो को भी देखा है। जिस वरुणा के शान्त कछार मे बुद्ध भगवान ने धमचक्र का प्रवतन किया था उसकी पुरानी झाकी 'अशोक की चिन्ता' 'शेरसिंह का आत्म समपण' 'पेशोला की प्रतिध्वनि' 'प्रलय की छाया' ये सब अतीत के भीतर कल्पना के प्रवेश के उदाहरण है। इस प्रकार 'लहर' मे हम प्रसाद जी को वतमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोस भूमि पर अपनी कल्पना ठहराने का कुछ प्रयत्न पाते हैं।'[2]

इसी भाति शुक्ल जी ने निराला के काव्य-क्षेत्र के विस्तार को स्वीकार किया है।

कहने का तात्पय यह है कि शुक्ल जी की दृष्टि उनके अपने पूर्वाग्रहो के उपरान्त भी काव्य और कवि की विशिष्टताओ पर अवश्य टिकी है। उन्होंने तो बराबर उन छायावादी कवियो की भत्सना की जिनका अपना कुछ नहीं रहता है। वे कहते हैं —

इस अभिव्यजनावाद के प्रभाव मे मूतविधान का बडा ही दुरुपयोग होने लगा है। अग्रेजी मे तो कम, पर बगला मे—जो हर एक विलायती नालेन्दुर पर नाचने के लिये तैयार रहती है—यह बात बहुत भद्दी हद तक पहुची। कही लालसा मधुपात्र लिए हृत्तन्त्री के नीरव तार झनझना रही है कही स्मृति वेदना करवट बदलकर आँखें मल रही है इत्यादि। इस प्रकार लडकों के खेल-से निराधार विधान वहाँ चल पडे, जिनकी नकल हिन्दी मे भी बडी धूम से हो रही है। 'छायावाद' समझकर जो कविताएँ

१— हि० सा० इ०, पृ० ७९२

२— हि० सा० इ० पृ० ७६५-६६

हिन्दी में लिखी जाती है उनमें से अधिकांश का 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध नही होता है।[१]

शुक्ल जी का यह कटु यथार्थ था। वस्तुतः उस युग मे हिन्दी में मन, तन, क्षितिज, उषा सन्ध्या, मन, यामिनी, जीवन आदि शब्दो को लेकर हिन्दी में हर कवि अपने आपको छायावादी कहा करता था।

शुक्ल जी की पैनी तीक्ष्ण दृष्टि उनके दो निबन्धो— "काव्य मे रहस्यवाद" तथा "काव्य मे अभिव्यंजनावाद" मे विशेष रूप से दृष्टव्य है। दोनो निबन्ध उनकी सूक्ष्म दृष्टि के मुखर प्रमाण है। उनके उक्त निबन्धो मे निरूपित विवेकी तर्कों और गुरु-गम्भीर विश्लेषण के सामने अपने तर्कों को रखने का साहस नही होता।

किन्तु उनकी इन दृष्टियो को हमे उनके अपने विश्वासो और पूर्वाग्रहो के प्रकाश मे ही देखना होगा कि शुक्ल जी की साहित्य सम्बन्धी प्रारम्भिक मान्यतायें क्या है ? उनकी उन आस्थाओ की परिधि मे तो उनसे कुछ छूटा नही है ?

यदि हम उक्त पार्श्वभूमि मे उनके विश्वासो और पूर्वाग्रहो को स्वय सिद्ध मान लेते है तो हमें यह सहज ही ज्ञात होगा कि शुक्ल जी की दृष्टि मे कोई वस्तु ओझल नही हुई। उन्होने रचनाकार की कृति, आलोच्य सिद्धांतो को तह से पकडने का प्रयास किया है और बराबर सम्यक् रूप से उन्होने अपने सिद्धांतो, काव्यगत प्रतिमानो को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया है।

आदर्श और नीतिवादिता

शुक्ल जी के आदर्श तुलसी के आदर्श थे। 'रामचरित मानस' उनके लिए न केवल एक आदर्श महाकाव्य था अपितु उनके आदर्शो की गीता थी, वे उसमें मानव जीवन की समग्रता के दर्शन करते थे। वे समाज में लोकधर्म की प्रतिष्ठा का आदर्श लेकर चलते हैं, जिसके उन्नायक राम हैं। राम-काव्य के आदि गायक वाल्मीकि के बारे मे शुक्ल जी कहते है :—

"वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्य काव्य का आदर्श मानता हूं।

१—चिन्तामणि भाग २ पृ० ९९

उसमें राम के रूप गुण, शक्ति, स्वभाव, तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है।[1]

संस्कृत का यह आदर्श काव्य हिंदी में शुक्ल जी को 'रामचरितमानस' में ही दृष्टिगत हुआ। शुक्ल जी के संस्कार, उनकी अनुवंशिकता वातावरण और सांस्कृतिक विरासत ने रामचरितमानस की विचारणाओं पर ही उनके व्यक्तित्व को संघटित किया। यहां तक कि उन्होंने जो पाश्चात्य साहित्य से ग्रहण किया वह वैसा ही और उतना ही जितना कि उनकी रस 'रामचरित मानस' द्वारा निर्मित रुचि के अनुकूल था।

क्या धर्म, क्या नीति और शील, क्या लोक और समाज सभी के शिल्प और आकृति का— तुलसी द्वारा निर्मित समाज की इन समस्त विधाओं को उन्होंने बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किया है। अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' में वे कहते हैं —

"धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य, जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्याबुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सके, यदि पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।[2]

शुक्ल जी ने इसे ही लोकधर्म कहा है। उनका यह लोक धर्म का स्वरूप तुलसी के धर्म की तरह ही अधिक बाह्य है।

शुक्ल जी ने काव्य में शील दशा की संयोजना को भी आवश्यक कहा है, उसका विशिष्ट कारण महाकाव्य के प्रति प्रेम है। वे कहते हैं—मुक्तक या उद्भट में जो रस की रस्म अदा की जाती है उसमें शक्ति-दशा का समावेश नहीं होता। उसका उद्देश्य तो क्षणिक मनोरंजन मात्र होता है। पर उच्च लक्ष्य रखने वाले, मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखने वाले प्रबंध-काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार 'शील-दशा' ही है।

वे आगे कहते हैं— जिसमें शील को देख कर सुनकर इस प्रकार के

१— रस-मीमांसा, पृ० ११०

२— गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७४

अनुभाव न प्रकट हो, गोस्वामी तुलसीदास जी उसे जड समझते है। वे साफ कहते है कि—

> सुनि सीतापति शील सुभाऊ
> मोद न मन, तन, पुलक, नयन जल सो नर खेअर खाऊ।[1]

इस प्रकार शुक्ल जी तुलसी के उक्त पद की ये दो पंक्तियां उद्धृत करने के पश्चात् विनय पत्रिका मे से राम के शील स्वभाव का चित्रण करने के लिए लम्बा पद उद्धृत करते है।

शुक्ल जी के ये तुलसी द्वारा निरूपित 'लोकधर्म' और 'शील दशा' के सिद्धांत जड से प्रतीत होते है। जहाँ तक तुलसी के लिए यह सत्य था, मध्ययुग की जीवन प्रणालियों के अनुकूल था, उन सब मे वह सत्यात्मकता नही है जो सार्वयुगीन और सार्वदेशीय बन जाये। शुक्ल जी ने अपने सिद्धातो का निरूपण करते समय आज के जीवन के तेजी से बदलते हुए जीवन मूल्यों को अपनी दृष्टि से सर्वथा ओझल रखा।

यही कारण है कि वे तद्‌युगीन प्रचलित गीतिकाव्य की छायावादी परम्परा के इतने विरोधी रहे। यहाँ नही शास्त्रों से मर्यादित शुक्ल सूरदास जैसे निरपेक्ष सौन्दर्य द्रष्टा कवि से भी समझौता करने मे अक्षम रहे।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी के इन सिद्धांतो की मीमांसा करते हुए उक्त निर्णयों की ओर ही संकेत किया है।

शुक्ल जी का लोक-धर्म का सिद्धात मध्य वर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओ से ओतप्रोत है जो बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी। अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य के कारण शुक्ल जी 'रामचरित मानस' के महा काव्योचित प्रसंगो मे रम गये थे। इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि आधुनिक समय के लिए उनकी कोई चिन्तना नही थी।

दूसरी बात यह है कि आज की विचारणा वर्गो के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशो मे स्थित है। शुक्ल जी के विचारो मे हिन्दू-समाज-पद्धति और

१— रस-मीमांसा, पृ० १८९-१९०

आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचारधारा और शब्दावली से मेल खाती है यह और भी अलग प्रश्न है।"[1]

शुक्ल जी की चिन्तना भूमि का निर्माण द्विवेदी युग के आदर्शों द्वारा निर्मित हुआ था, जो मूलतः ब्राह्मणवादी थे। तदयुगीन बाह्य परिस्थितियाँ और प्रचारात्मक भौतिक उत्थानों द्वारा अभिनिर्मित सांस्कृतिक चेतना ने उनके मानस का निर्माण किया था। फलतः उनकी दृष्टि व्यक्त व बाह्य पक्ष पर ही गई। वे काव्य की उस अतल गहराई तक पहुँचने में अक्षम रहे जहाँ महान कवियों की समवेदनीय मार्मिक अनुभूतियाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों की इयत्ता का तिरोभाव कर देती है।

शुक्ल जी के उनके अपने आदर्शों नैतिक मान्यताओं और उनकी वैयक्तिक रुचियों द्वारा निर्मित साहित्य के प्रतिमान विद्यापति, सूर घनानन्द प्रसाद पंत, निराला आदि महान कवियों के काव्य का मूल्यांकन करने के लिए संकीर्ण से लगते हैं। अतः उन मूल्यों में उस सामान्यता का उदय नहीं हो सका जिसकी कि शुक्ल जी जैसे महान और निरपेक्ष आलोचक से आशा थी।

प्रत्येक आलोचक की उसकी अपनी विचारणायें उसके अपने सिद्धान्त उसके अपने नैतिक प्रतिमान, आदर्श और विश्वास होते हैं। शुक्ल जी के भी उनके अपने सिद्धान्त थे। किन्तु उन्होंने प्रत्येक कृति और सिद्धान्त को उनकी अपनी रुचि और विश्वासों के माध्यम से ही परखा। जिसके परिणामस्वरूप उनके अपने विश्वासों और आदर्शों की नींव ही हिलती-सी नजर आने लगी।

किन्तु इसके उपरान्त भी असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि तदयुगीन सांस्कृतिक चेतना उस युग की सीमा में शुक्ल जी ने जिन साहित्यिक सिद्धान्तों का निरूपण किया, जिन नैतिक मानों की स्थापना की वह उनकी महान प्रज्ञा का ही परिचायक है। युग की उस सीमा में ऐसे महान आलोचक का जन्म होना ही हमारे आज के उन्नत आलोचना साहित्य के मूल में है।

प्रगतियाँ

शुक्ल जी के आविर्भाव ने हिन्दी आलोचना का स्वरूप निर्धारित किया और भविष्य के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य

१— हिन्दी साहित्य— बीसवीं शताब्दी, पृ० ६२–६

को एक नयी दिशा दी जिस पर चलने को वह बाध्य हुआ जिसमे उन्होंने यह निर्देश किया कि हमारी आलोचना का वास्तविक मेरुदण्ड भारतीय रस-शास्त्र ही है, हां वह पाश्चात्य आलोचना साहित्य से उसका उन्नत मनोवैज्ञानिक तत्व ग्रहण कर सकते हैं । किन्तु वह भी उतना ही जितना कि हमारे रस-शास्त्र के माध्यम से साहित्य को परखने मे सहायक हो ।

शुक्ल जी ने रस को लौकिक स्वरूप प्रदान कर उसे एक बुद्धिवादी और वैज्ञानिक आधारशिला दी जिससे कि आज के वैज्ञानिक युग मे भी उसका अपना स्वरूप स्थित है । ऐसा करने मे शुक्ल जी ने काव्य को लोक और समाज मे अविच्छेद रूप से अनुस्यूत कर दिया और इस तरह काव्य के लिए विवेक का वातायन खोल दिया ।

उन्होंने लोक और काव्य की असम्पृक्तता सिद्ध कर, युग, समाज और संस्कृति को कवि का स्रष्टा माना । कवि का वास्तविक निर्माण उन्होंने उन्हीं तत्वों से माना है । ये ही तत्व उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का नियमन करने वाले होते हैं । कृति के पूर्व कवि को जानने की आवश्यकता होती है-उसका मानस विश्लेषण करना आवश्यक है-शुक्ल जी ने अपनी आलोचना मे समीक्षा के इस आवश्यक तत्व का उन्मेष कर दिया था ।

शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य में नव प्रचलित अभिव्यंजनावाद पर प्रहार कर, साहित्य मे वस्तु सत्य की प्रतिष्ठा की । जिसके फलस्वरूप साहित्य मात्र अभिव्यंजना न रह कर लोक और जीवन की ठोस और सशक्त अभिव्यक्ति की ओर अनुधावित हुआ । इस भांति काव्य-वस्तु की क्षितिज-रेखा का विस्तार हुआ और वह युग और कवि की जीवन्त अनुभूतियों के अधिक निकट आ गई ।

शुक्ल जी ने साहित्य की मूल ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का सर्वप्रथम विश्लेषण कर हिन्दी मे समस्त बिखरे हुए साहित्य को एक सूत्र मे अनुस्यूत किया । शुक्ल जी द्वारा रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' हिन्दी की पहली ऐतिहासिक कृति है जिसमे कालानुरूप हिन्दी-साहित्य को व्यापक रूप से परखने और उसे वैज्ञानिक स्वरूप देने का प्रयास किया गया है ।

अपनी प्रयोगात्मक-मूल्यांकन सम्बन्धी आलोचनाओं मे स्वयं के द्वारा निरूपित समीक्षा के सिद्धांतों को बड़ी ही सफलतापूर्वक प्रयोग करके उनमें

एकरूपता की प्रतिष्ठा की तथा भावी आलोचकों का मार्ग-निर्देश किया कि साहित्य के प्रतिमान कहने भर के नहीं होने चाहिए, वे इतने व्यावहारिक और सटीक हों कि उनके माध्यम से हम न केवल अपने स्वदेशी साहित्य का मूल्यांकन कर सकें, अपितु, विदेशी साहित्य को भी उनसे मापन में हम सक्षम हों। शुक्ल जी का यह उक्त कार्य आलोचना-साहित्य के लिये विशिष्ट महत्व रखता है।

शुक्ल जी ने जायसी पर आलोचना लिखकर आलोचक की निरपेक्षता सिद्ध की और एक सच्चे साहित्यमर्मी का परिचय दिया। जायसी की आलोचना प्रकाश में नहीं आने तक जाने कितने आलोचकों को यह शक रहा होगा कि शुक्ल जी के प्रतिमान यहां पर टूट जायेंगे अथवा लचर तो अवश्य हो जायेंगे या शुक्ल जी अपने प्रतिमानों का 'पद्मावत' का मूल्यांकन करते समय उन सारे मानों का खुलकर प्रयोग नहीं कर सकेंगे जैसा कि उन्होंने अन्यत्र किया है। किन्तु जब हम इसे देखते हैं तब यह भ्रम सिद्ध होता है। उन्होंने उसमें न केवल अपने साहित्य-सिद्धान्तों का प्रयोग बड़ी सफलता से किया अपितु अपनी अद्भुत प्रज्ञा और अकाट्य तर्क-शक्ति द्वारा जायसी को सूर और तुलसी के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ आसन पर लाकर आसीन कर दिया। शुक्ल जी द्वारा जायसी के महत्व का उद्घाटन करने के पश्चात हिन्दी में कई विद्वानों को जायसी और सूफी मत पर विश्वविद्यालयों से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

शुक्ल जी द्वारा हिन्दी में प्रथम बार अनुविश्लेषणवादी आलोचना का सूत्रपात हुआ। आलोचना में किस भांति साहित्य में क्रमशः प्रत्येक तत्व लेकर उसकी अतल गहराई तक पहुंचा जाता है, इसका शुक्ल जी से ही प्रारम्भ हुआ। प्राक्शुक्ल हिन्दी आलोचना तो गुण-दोष का वर्णन मात्र थी।

शुक्ल जी ने हिन्दी-जगत को आलोचना की एक ऐसी गुरुगम्भीर शैली दी जिसमें कृति के सत्य का निरूपण करने की पूरी क्षमता थी। ऐसी गठन और ऐसी सूत्रात्मकता शुक्ल जी के पूर्व तो थी ही नहीं, आज भी हिन्दी के कतिपय आलोचकों को छोड़कर कम देखने को मिलती है। उनकी यह शैली उनके महान चिन्तन और उनकी अद्भुत तार्किक शक्ति दोनों को व्यक्त करने में सक्षम है। उनकी इस शैली में उनके व्यक्तित्व के तीन महान् गुण दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता, हर वाक्य में आभासित होती है।

शुक्ल जी की भाषा उनकी चिन्तना, विचारणा और शैली मे अनुकूल ही सुगठित और सस्कृतनिष्ठ-सामाजिक है। जिसमें गम्भीर से गम्भीर विषय को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से विश्लेषण करने की क्षमता है। उनकी भाषा और शैली मे जहा दार्शनिक सिद्धान्तों, साहित्य के प्रतिमानो और कृति तथा कृतिकारो की विशिष्टताओं को सम्यक विश्लेषण करने की सामर्थ्य है वहा उनमे व्यग्य करने की भी अद्भुत शक्ति है। विरोधी उनके व्यग्यों से तिल-मिलाते हुए नजर आते हैं। उनके निबन्धों और आलोचनात्मक लेखो मे कही भी ऐसा निरर्थक अथवा अतिरिक्त शब्द नही होता जो किसी विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन नही करता हो।

उन्होंने हिन्दी-आलोचना को एक वैज्ञानिक शैली और भाषा दी जो आज साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि की किसी भी विधा का विश्लेषण करने मे पूर्ण सक्षम है।

सीमाएं

शुक्ल जी अपने रूढिगत सस्कारो, वैयक्तिक रूढियों, आदर्शों और नीतिवादी सिद्धान्तो के कारण समीक्षा के ऐसे मानो की अवतारणा करने मे अक्षम रहे जिसमे अपने युग और उसके पूर्ववर्ती काल की समस्त सास्कृतिक सारणियो और उनकी उपलब्धियों का मूल्याकन करने की एक सम्यक क्षमता हो। उनके अपने आदर्शों और नीतिवादी सिद्धान्तो से यदि कोई भी कवि उन्हे रच मात्र दूर दिखाई देता है तो वह उनको कम सहन है। मैथिलीशरण जी के 'साकेत' के बारे मे, विशिष्टत उन दृश्यों को जिनकी कि उन्होंने परम्परा से कुछ हट कर सयोजना की है, कहते हैं.—

"किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन मानते हैं।"[१]

शुक्ल जी की पौराणिकता और उनका पूर्वाग्रह ही था। वस्तुतः अपने युग को सूर की भावगरिमा तक भी नही पहुचने का यही कारण था।

शुक्ल जी अपने युग की सशक्त साहित्य धारा, छायावाद को केवल 'अभिव्यजना की शैली मात्र' कहकर उसके भाव-पक्ष को जानने और परखने

१— हि० सा० इ० पृ० ६८६

म अक्षम रहे। उन्होंने अपने इस युग की काव्यानुभूति को समाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चेतना की पृष्ठभूमि म नही देखा वे उसका कारण केवल अभिव्यजना शक्ति मे ही खोजते रहे, जब कि उन्होंने अपने प्रिय युग भक्ति-काल के लिऐ विस्तृत सास्कृतिक और राजनैतिक भाव भूमि का निरूपण किया। इसीलिए श्री शिवनाथ न लिखा है—

"जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्राय ऐसा का १९वीं सदी के सन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ के विचारक हैं। व प्राय मध्यवर्गीय और यत्र-तत्र मध्यकालीन सस्कृति के हिमायती है। आचार्य शुक्ल की रुचि भी ऐसी ही *सस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी।*'[1]

श्री शिवनाथ जी के उक्त कटु यथार्थ विवेचना पर शुक्ल जी की आलोचना मे सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि खोजने वाले डाक्टर राम विलास शर्मा भी मौन है।[2]

शुक्ल जी के दोनो प्रतिष्ठित प्राप्त निबन्ध 'काव्य म रहस्यवाद' और 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' अधिकतर नकारात्मक ही हैं। उनके दोनो निबधो की शैली पूर्वचिन्तित शैली का क्रम लिए हुए है। जबकि तुलसी के रामचरित मानस से अपने काव्य के प्रतिमानों का निर्माण किया। इन दोनों निबन्धो मे बहुत कुछ वह अग्रेजी कहावत चरितार्थ हुई है कि 'घोडे के पास गाडी को खींचकर लाना'—शुक्ल जी के उक्त प्रकार की काव्य-धारा को केवल धर्म और मजहब की प्रक्रिया मानते हैं जबकि वस्तुत काव्य की सर्जना किसी विधा विशेष की प्रक्रियास्वरूप नहीं होती वह तो जीवन और जगत की जाने कितनी इकाइयो के सश्लेषण से होती है। यहाँ न उन्होने इन विशिष्ट धाराओं के शिल्प पक्ष पर ही विचार किया और न समाज और सस्कृति के महत् पहलू पर। यही कारण है कि वे महर्षि लीओ टाल्स्टाय और कलागुरु टैगोर की उदात्त मनोभूमि तक पहुचने मे अक्षम रहे।

शुक्ल जी ने हिन्दी-गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओ का उनकी

१— आलोचना अक्टूबर ५३

२— देखिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना,
प्रा० विनोद पुस्तक।

गहराई और व्यापकता से विश्लेषण नही किया, जैसा कि उन्होंने काव्य का किया।

शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में केवल हिन्दी-गद्य का उत्स उसके विकास का स्वरूप आदि कुछ स्थूल विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने अपने कर्तव्य की इति श्री मान ली, इस क्षेत्र में भी हमें उनसे बहुत कुछ अपेक्षा थी। शुक्ल जी के जीवन काल में ही आधुनिक युग की गद्यधारा ने पर्याप्त रूप से प्रगति कर ली थी। उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, प्रसाद, उग्र, जैनेन्द्र कुमार आदि की तथा नाटकों में जयशंकर प्रसाद, प्रेमी, उदय शंकर भट्ट, लक्ष्मी नारायण मिश्र आदि लेखकों की महती कृतियां प्रकाश में आ चुकी थीं। हिन्दी के सुधी पाठक शुक्ल जी से युगीन सन्दर्भों में इन विधाओं और कृतिकारों पर भी उनके उतने ही विस्तृत रूप से समीक्षा चाहते थे जितनी कि शुक्ल जी ने जायसी, सूर, तुलसी, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद आदि कवियों और विषयों पर की। शुक्ल जी प्रसाद के महान नाटकों के सम्बन्ध में केवल इतना कहते हैं—

यह देख कर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है कि प्रसाद जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेषता है— प्राचीन काल के रीति-व्यवहार, शिष्टाचार, शासन-व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास-सम्मत चित्रण। वस्तु-विन्यास और शील-निरूपण का कौशल भी उत्कृष्ट कोटि का है। उनके रचे 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों को लेकर आज हिन्दी पूरा गर्व कर सकती है।[1]

शुक्ल जी का उक्त वक्तव्य चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर की साहित्य परिषद के सभापति पद से दिया हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उन्होंने इस महान् नाटककार का विस्तृत रूप से विचार नहीं किया।

शुक्ल जी का यह परिमाणात्मक अभाव अवहेलना और पूर्वाग्रह तक पहुंच जाता है, जो कि शुक्ल जी जैसे महान् आलोचक के लिए कम समीचीन है।

१— चिन्तामणि भाग २, पृ० २३४

शैली की दृष्टि से शुक्ल जी कहीं-कहीं अवैज्ञानिक हो जाते है। जहाँ उनका रुचि वाला विषय होता है उनकी शैली वैज्ञानिक विश्लेषण का पथ त्याग कर अधिक भावुक हो जाती है और कवि की सराहना अथवा विषय विशिष्ट की स्तुति में वे पृष्ठ पर पृष्ठ लिखन लगते हैं। शुक्ल जी की यह विशिष्टता 'कविता क्या है', 'काव्य म प्रकृति चित्रण', 'गोस्वामी तुलसी दास' आदि स्थानो पर देखी जा सकती है।

वे उन आलोचका अथवा रचनाकारो या जिनसे कि उनका मत वैभिन्नय है उनके प्रति उतने सहृदय नही रहते जितने कि मतैक्य वालों के साथ। आई० ए० रिचार्ड्स को वे महान् तथा अय विशेषणो से विभूषित करते हैं जब कि अरस्तू, अफलातू आदि को यवनाचाय आदि के विशेषणा से। शुक्ल जी की यह व्यग्य करने की प्रवृत्ति कहीं-कहीं अति तक पहुँच जाती है। हिदी के भी कितन ही लेखको पर उन्होने एसे ही व्यग्य-बाण छोडे है।

शुक्ल जी अपनी इन सीमाओ म भी महान् थे। उनकी आलोचना म उनक व्यक्तित्व की भाति ही प्रखरता, गाम्भीय और शक्ति थी। हिन्दी आलोचना के लिए उन्होंने युगान्तरकारी काय किया।

२

शुक्लोत्तर नवीन आलोचना

एक नई संस्कृति का अभ्युदय

शुक्ल जी जिस समय मध्य-युग के भक्त कवियों के अध्ययन में व्यस्त थे और उनके साहित्य से अपने आलोचना के प्रतिमानों को निश्चित कर रहे थे, उस काल में हमारे साहित्य, संस्कृति और राजनैतिक परिस्थितियों में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे जो हमारे जीवन मूल्यों, पुराने सांस्कृतिक, साहित्यिक और नैतिक प्रतिमानों को भी शनैः शनैः बदल देना चाहते थे। यह क्रान्ति उतनी बाह्यवादी अथवा स्थूल नहीं थी जितनी कि अन्तर की सूक्ष्म। वस्तुतः यह क्रान्ति मूलतः सांस्कृतिक क्रान्ति थी जिसने युग के नए सन्दर्भों में अपनी पुरानी सांस्कृतिक सरणियों को परखा और उन्हें ग्रहण किया जो कि मनुष्य की परिवर्तित आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और उसके सपनों के अनुकूल थीं।

हमें स्वयं को मनुष्य जाति की समस्त उपलब्धियाँ प्राप्त करना है और दूसरे व्यक्तियों तक उन ओजस्वी अनुष्ठानों में सम्मिलित होना है जो अतीत की अपेक्षा आज अधिक उत्प्रेरक हैं जिन्होंने राष्ट्र की ओछी सीमा, पुरातन भेद की दीवारें तोड़ दी हैं और आज सर्वत्र मानव जाति सामान्य है।[1]

यह नई संस्कृति मनुष्य संस्कृति है जो राष्ट्र की सीमा को तोड़

1- The Discovery of India P. 623

चुकी है और जिसने मानव-आत्मा को एक नवीन संवेदनात्मक दृष्टि दी है। इस संस्कृति ने सामन्तीय जीवन प्रणाली पर जो कि अभी भी अपने पुराण वादी ज्ञान को लेकर दम्भ किया करती थी प्रहार किये और मनुष्य मे मनुष्य के प्रति नई आस्था का उन्मेष किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी नई संस्कृति से उदभूत जो कि मूल मे भारतीय है विश्लेषण करते हुए मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य कहा है।[1]

द्विवेदी जी द्वारा निरूपित साहित्य के इस लक्ष्य पर ही नूतन संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई। 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीपित न कर सके जो उसके हृदय को पर दुःख कातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।[2]

महावीरप्रसाद द्विवेदी काल के साहित्यकारों ने मध्य युग की संस्कृति को अपनाया था जिसमे भव्य और विशाल को युग की बाह्य चेतना के सन्दर्भ मे देखने का प्रयत्न था। *सीता, राधा और उर्मिला के पौराणिक* तथ्यों के साथ उनका जन-सेवी स्वरूप उदघाटित किया गया जो अधिक सीमित, स्थूल और एक देशीय था। इस काल के इन साहित्यकारों ने मध्य युग की बाह्य चेतना तो ग्रहण की किन्तु उनकी प्रज्ञा और अनुभूति का विकास उतना नहीं हो पाया था—उस संवेदना के धरातल तक ये साहित्यकार नहीं पहुंच पाए जिसके द्वारा सौन्दर्य का यह बाह्य पक्ष (Aesthetic form)—उनका यह भव्य विशाल काव्य-पट केवल काव्य पर ही बना रहा जिसे कि मध्य कालीन कवियों ने अपनी महान प्रज्ञा द्वारा एक विशाल कल्पना-संसार का निर्माण किया था जिन्हें कि उन्होंने अपनी अद्भुत संवेदना-क्षमता द्वारा आत्म-सात करके युग की धड़कन को वाणी दी थी।

इसका तात्पर्य यह सर्वथा नहीं कि द्विवेदी-काल का साहित्य जीवन के कम निकट है, हां उन्होंने अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार मध्य युग की संस्कृति को कालानुकूल अभिव्यक्ति दी।

१— अशोक के फूल पृ० १०२
२— अशोक के फूल, पृ० १७१

युरोप में भी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के पूर्व साहित्यिक गतिविधियां भी कुछ इसी प्रकार की थी। डा० एस० पी० खत्री ने लिखा है:—

"परन्तु जब अठारहवी शती के अनुकर्ताओं ने प्राचीन कवियों का अनुकरण किया तो स्वभावतः उन्होंने उनकी भाषा तथा अलंकार अपना तो लिए परन्तु उस प्रकार की सफल भाषा लिखने तथा सफल अलंकार प्रयोग के लिए उनकी उन्नत भावना तथा उन्नत कला भी नितान्त आवश्यक थी। वह इनके लिए न हो सका। उनकी अनुभूति तथा उनका कल्पना संसार इनकी पहुंच के बाहर रहा और ये केवल उनमें भाषा प्रयोग को ही ग्रहण कर सके जिसका फल यह हुआ कि इस प्रकार निर्मित काव्य नीरस तथा निष्प्राण हो गया"।[1]

वस्तुत: इनमें न तो वह सहज अनुभूति ही थी और न वह दृष्टि जिसमें जीवन को समग्र रूप में देखने की क्षमता हो। अतः इस युग का साहित्य नीरस बुद्धि और काव्य के बाह्य परिवेश की ओर ही अधिक अनुधावित हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, रामचरित उपाध्याय, हरिऔध और एक बड़े अंश में मैथिलीशरण गुप्त इसके मुख्य प्रमाण हैं।

नई संस्कृति ने मध्य युग की इस संस्कृति को, जो कि मानव-जीवन में नए परिवर्तनों के आने के कारण पुरानी पड़ गई थी और भारतीय जनता के गतिवान रथ को आगे बढ़ने से रोक रही थी, उसके प्रतिमानों को झूठा सिद्ध किया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को मापने उसे परखने के नए मूल्यों का निर्माण किया।

प्रथम महायुद्ध के परिणाम स्वरूप विश्व में एक भारी निराशा का वातावरण व्याप्त हो गया था। यूरोप का प्रत्येक देश इस महायुद्ध से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा था। भारत ने इसी समय आत्म पर्यवेक्षण किया और देखा कि हम भी विश्व से इतने दूर नहीं हैं जितना कि सोचते हैं, हम उस महान मनुष्य जाति के अविच्छेद्य अंश हैं जो केवल भारत में नहीं रहती अपितु समस्त विश्व जिसका आवास-गृह है, इसी के कल्याण में अपना कल्याण है।

इस युद्ध ने भारत को अपने को समझने का अवसर प्रदान किया।

१— आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ० २६८

हम पाश्चात्य सस्कृति क निकट आए, उसके विकसित साहित्य, भाषा और विज्ञान का अनुशीलन किया गया। इस भाँति हमार ज्ञान और चिंतन की परिधि का विकास हुआ। वास्तव मे यह एक प्रकार का आत्म चिंतन था, आत्मालोचन था, जिसके द्वारा भारतीय मनीषा अधिक-आत्म-केन्द्रित हुई, द्विवेदी युग का स्थूल दृष्टिकोण, सूक्ष्मता की ओर अनुधावित हुआ।

डाक्टर नगेन्द्र न अपनी 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक म इस नए युग का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और जन सामान्य की वस्तुस्थितियो–राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो की अतृप्ति का ही इस नई प्रकार की सस्कृति को जन्म देने का कारण बनाया है।

आचार्य शुक्ल न भी भक्ति आन्दोलन के पूर्व जन मानस की मनोदशा का कुछ ऐसा ही विश्लेषण किया है—

"इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनो तक उदासी सी छाई रही। अपने-पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[1]

निश्चित ही आत्म केन्द्रस्थ हमारे साहित्यचेता युद्ध की विभीषिका और उससे भी भीषण उसके परिणामो स निर्लिप्त रहे। अन्य परिस्थितियो की भाँति युग क इस कटु–जीवन यथार्थ ने भी उनकी चेतना के मर्म को छुआ और व्यावहारिक जगत मे – उनके अन्तर्मुखी दृष्टिकोण होने के कारण – उसका हल न मिल सकने के कारण वे आध्यात्मिक तथा बौद्धिक–चेतना की ओर बढे। वस्तुत यह परिवर्तन जितना अन्तर्मुखी था, उतना ही बौद्धिक भी। मेरा मत है इन कवियो की कलाभूमि सर्वथा काल्पनिक और वायवी नही रही है। उसके पार्श्व म एक सशक्त बौद्धिकता, एक ऐसी लक्ष्य बोध प्रेरणा रही है जो युगीन परिस्थितियो, विश्व मे हो रहे वैज्ञानिक परिवर्तनो की देन थी जिसके समानान्तर म परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का सक्रिय आध्यात्मवाद भी अपना आलोक बिखेर रहा था और बगला स धीरे-धीरे हिन्दी समाज को भी दीपित करने लगा था।

१–हि० सा० इ०, पृ० ६८

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप सीमित राष्ट्रीय चिन्ता–धारा अपना व्यापक रूप ग्रहण कर चुकी थी और राष्ट्र की सीमाएं विज्ञान के नित्य नूतन विकास–चरणों के कारण टूक–टूक हो रही थी। भारत के जन–जीवन में इसी काल में औद्योगिकता का भी उन्मेष होने लगा था जिसने सामन्तवादी आर्थिक प्रणाली पर भी भारी आक्रमण किया। इस आर्थिक प्रणाली ने आदमी को और बौद्धिक बना दिया, जिसके फलस्वरूप उसके चिन्तन और मनन को एक नई भूमि मिली। फिर भले ही यह सारा चिन्तन इस अति बौद्धिकतावाद के विरोध में ही हो।

हिन्दी–साहित्य–सी उपर्युक्त विश्लेषित क्रान्ति योरोप में भी हुई थी। दोनों क्रांतियों के कतिपय कारण एक से–हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी–साहित्य–संसार में हमने सारा का सारा अनुवृत्ति के रूप में नहीं ग्रहण किया। यों भी कोई भी साहित्य अनुभूति स्वरूप होकर किसी भी देश में अपने पांव नहीं जमा सकता–वहां की जनता उस देश विशेष के साहित्य के साथ तो साधारणीकरण करने में सक्षम होगी किन्तु उन अनुभूतियों के साथ नहीं, उन विशिष्ट भावों के साथ नहीं जो कि उसकी मिट्टी में नहीं पनपे हैं, जिसे यहां का जल–वायु प्राप्त नहीं है और उन्हें यहां का घोषित कर दिया गया है। *अतः यह समझना कि हमारा छायावाद 'रोमांटिसिज्म' का ही रूप है–भ्रम है।*

फ्रांस की राज्य–क्रान्ति ने ईसाइयों और सामन्तवादियों की ह्रासोन्मुखी संस्कृति को, उनकी धार्मिकता तथा उन सामाजिक और नैतिक मूल्यों को पूर्णतः झूठे सिद्ध कर दिये थे। रूसो की 'सोशल कान्ट्रैक्ट' तथा 'एमली' ने जीवन के हर क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचारणाओं से प्लावित कर दिया था और समस्त प्राचीन मान्यताओं तथा आस्थाओं की दीवार को हिला दिया था। वास्तव में यह अभिजात वर्ग की ही क्रांति थी। किन्तु इस वर्ग को किसी क्रान्ति की भाव–भूमि देने वाला वर्ग, रूसो, वाल्टेयर, देना आदि मध्यवर्ग की स्थिति यथावत् थी।

लेखक अपने और विश्व के प्रेम और विश्वासों में निरन्तर विरोध पाता है। किन्तु वह अपनी आन्तरिक अनुभूति के प्रकाश में एक ऐसे काल्पनिक लोक की सृष्टि करता है जहां सदैव प्रेम का महोत्सव होता है। अंतिम रूप से इसी लोक की विजय होनी चाहिए। और उसकी कल्पना उस

आन्तरिक सत्य के बारे में संकेत करती है जिससे वह बाह्य जगत की अपूर्णता से अपने आपको विलग करदे, अपितु वह तो इस बाह्य जगत की अपूर्णता का निराकरण कर स्वयं के आन्तरिक सत्य की प्रतिष्ठा करता है। उसके काल्पनिक संसार का अंत में अपने अन्तर्गृह से बाहर निकलना है और इस बाह्य जगत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसका पुनर्गठन करना है।[1]

इस काल्पनिक संसार के निर्माण के लिए इन्होंने नई भाषा और नये छन्दों की संयोजना की। यह भाषा इनके कल्पना-लोक की तरह ही मदुल, स्निग्ध, रेशमी– इन्द्रधनुषी और अवास्तविक थी। यद्यपि वर्ड्सवर्थ शेली आदि कवियों ने गद्य और पद्य दोनों की भाषा में एकरूपता लाने का प्रयत्न किया किन्तु हमारे यहां तो उक्त काल में भाषा के नये प्रयोग हुए। भाषा की दृष्टि से जहां स्वच्छन्दतावादी लेखक सहजता और लोक जीवन के निकट सहज प्रेषणीय भाषा की ओर धावित हुए वहां हमारे यहां मदुलता स्निग्धता और रेशमी—इन्द्रधनुषी शब्दावली के लिए लेखक नये शब्दों का निर्मित करने लगा। यहां तक कि पंत जी तो हिन्दी में कोई गत तीन दशाब्दी में ही शब्द-शिल्पी माने जाने लगे।

इन स्वच्छन्दतावादी कवियों ने भाषा के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ के दृष्टिकोण को ही आदर्श माना

उनका प्रमुख उद्देश्य जन साधारण की घटनाओं और उनकी स्थितियों पर काव्य रचना करना और उन्हें जहाँ तक सम्भव हो सके जन समुदाय की भाषा में वाणी देना था।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी कहे जाने वाले कवियों ने उक्त पथ नहीं अपनाया। हाँ, पंत की कुछ उस समय की कविताओं में यह तत्व मिलता है जब कि छायावाद अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था। दिनकर ने भी इन स्वच्छन्दतावादी कवियों के काव्य को अपनाकर कहा था— 'कवि चल गावों की ओर'।

यह तो पाश्चात्य चिन्ता धारा थी जो विश्व को प्रभावित करने वाली फ्रांस की राज्य क्रांति और औद्योगिक क्रान्ति से उद्भूत थी। इस चिन्ता-धारा

१—अबरक्राम्बे– 'रोमाण्टीसीज्म' पृ० १११-११२

ने हमारे देश को भी प्रभावित किया ही था, विलम्ब से भले ही। किन्तु ये विचारणायें उसी समय उन्मेषित हुईं जब देश ने प्रथम महायुद्ध का सामान्य प्रभाव तथा औद्योगिक क्रांति को अनुभव किया।

इन दोनो भौतिक प्रभावो के साथ-साथ हमारे यहा राजनीति मे गाधी जी और सस्कृति मे रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, प्रभृति मनीषियों का प्रभाव भी हमारी सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित कर रहा था। इस भाति सामाजिक और राजनैतिक चिन्तना की विभिन्न विधाओं मे हमारी संस्कृति का एक नया स्वरुप सँवर रहा था जो अपनी पूर्ववर्ती सारणियों मे भिन्न था।

ब्राह्म समाज की आध्यात्मिकता और परमहस रामकृष्ण का सर्वात्मवाद—उनका प्रकृति का निश्छल स्वरूप जो बहुत अशो मे दार्शनिक वादो से परे था, हमारी चिन्तना का प्रमुख अग बनने लगा।

तर्क और वादो से परे ईश्वर का निश्छल स्वरूप स्वामी रामकृष्ण ने प्रतिपादित किया जिसमे कि धर्म का वह पारस्परिक रूप जिसमे ईश्वर को भी वादो मे बाँध दिया गया था, परिहार हुआ और इस क्षेत्र मे मध्ययुग की समर्पणवादी भक्ति से अलग एक अनुभूतिमय ईश्वरोपासना की प्रतिष्ठा हुई।

धर्म की निश्छल अनुभूति और एक अद्भुत प्रज्ञा लेकर स्वामी विवेकानन्द की अवतारणा हुई। स्वामी रामकृष्ण मे जहाँ धर्म और ईश्वर के प्रति एक अनुभूतिमय आस्था थी जिसे उन्होने आत्म-संयम और यौगिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त की थी वहा विवेकानन्द मे इस आस्था और विश्वास के साथ–साथ सम्पूर्ण भौतिक जीवन उसमे हो रहे मनुष्य के नैतिक पतन और धार्मिक मूल्यों के विघटन आदि समस्याओं और उनके निराकरण के लिए भी उनका अपना दृष्टिकोण था। अत. उनकी विचार–भूमि अधिक विस्तीर्ण थी।

इतना होते हुए भी विवेकानन्द जीवन की समस्याओं को सुलझाने मे आधुनिक थे और देश के अतीत और वर्तमान दोनो को अनुस्यूत करने के लिए एक सेतु का काम कर रहे थे।

भारतीय चिन्ता का यह महान प्रतिनिधि द्रष्टा हमारी तद्कालीन परम्परा पर ऐसा अप्रतिहत प्रभाव छोड गया कि कलागुरु रवीन्द्र, अरविन्द घोष और एक बड़े अंश मे निराला पन्त आदि भी प्रभावित हुए बिना नही रह सके।

इस महती विचारधारा के उन्मेष के कुछ ही वर्ष पश्चात् रवीन्द्रनाथ टैगोर को १९१८ ईस्वी में नोबल पुरस्कार' प्राप्त होने से सम्पूर्ण देश उनकी विचारणाओं के अध्ययन में व्यस्त हो गया और उनमें ग्रहण करने का प्रयास करने लगा। इस 'नोबल पुरस्कार' से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि देश के विचारक पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की ओर बढ़े और प्रच्छन्न रूप में योरोप और भारत में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग खुला।

बंगला ही नहीं जिसमें उन्होंने स्वयं लिखा है, बल्कि देश की सभी आधुनिक भाषायें एक बड़े अंश में उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। किसी भी भारतीय की अपेक्षा उन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य आदर्शों का समरस करने में अधिक सहायता की। हमारी राष्ट्रीयता की परिधि का अधिक विस्तीर्ण किया।

इस भांति नई संस्कृति के निर्माण में टैगोर का सहयोग बेजोड़ है। बंगाल की इस बृहत्त्रयी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर का ऋण हिन्दी कविता पर अपार है और फिर अभी-अभी का हिन्दी-काव्य तो अरविन्द घोष से भी कम प्रभावित नहीं।

इधर गांधी जी सन् १९१५ में अफ्रीका से लौट आए थे। अफ्रीका में ही उन्होंने कुछ अपने महत् साधना, सत्य अहिंसा और उन उभय तत्वों में उद्भूत सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन आदि का प्रयोग कर चुके थे। और यह परखा जा चुका था कि अनात्म पर आत्मा की विजय हो सकती है, सत्य और आत्मपीडन का आनन्द उसका अपना होता है।

गांधी जी ने आते ही राष्ट्र की अगणित ज्वलन्त समस्याओं को लेकर देश के कोने-कोने में सत्याग्रह छेड़ दिये। १९१७ ई० में चम्पारन सत्याग्रह ने उन्हें बिहारी किसानों का एकमात्र लोकप्रिय नेता बना दिया था। उसके पश्चात तो गांधी जी ने अंग्रेजों के कई कानूनों का अपने सत्य, अहिंसा के आग्रहों से सामना किया। रौलट बिल' तथा अन्य दमनकारी बिलों का उन्होंने सामना किया और उन्हें अपने इन सात्विक आन्दोलनों द्वारा विजय श्री प्राप्त हुई। गांधी जी ने अपने सत्याग्रह पर विवेचन करते हुए अपने ५ अप्रैल १९३४ के पत्र में लिखा है—"सत्याग्रह सोलह आना आध्यात्मिक वस्तु है इसका उपयोग पार्थिव दिखाई देने वाले उद्देश्य से भी हो सकता है।"[१]

१— कांग्रेस का इतिहास भाग–१ पृ० ४१०

इन विशिष्ट सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों द्वारा जन–जीवन में एक नई चेतना का उन्मेष हो रहा था। बाह्य तो दमन और पीडन के बाद बुझ–सा गया था, किन्तु अन्तर बराबर सुलग रहा था। अतः समस्त बाह्य चेतना सिमट कर अन्तर्मुखी हो गई थी, जिसमें बाह्य के श्रेष्ठीकरण के साथ–साथ युग की उद्‌बुद्ध सांस्कृतिक चेतना जिसका स्फुरण परमहंस राम–कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, कलागुरु रवीन्द्र और महात्मा गाधी ने किया था वह भी अन्तःसलिला की भांति जन–मानस में प्रवहमान थी।

इस नई सस्कृति के ये ही आधार थे जिसके महत् तत्व को लेकर हिन्दी मे नये साहित्य का सृजन हुआ और उपर्युक्त सांस्कृतिक, राजनैतिक मूल्यों के आधार पर उसकी परख हुई।

नैतिक मूल्यों और आदर्शों में क्रांति

युग में वस्तु–सत्य एवं तद्‌युगीन विचारणाओं की नूतन उद्‌भावनाओं से टकराकर नैतिकता और आदर्शों मे भी भारी प्रगतिमय क्रांति आ जाती है और वे भी तेजी से बदलने लगते है। शुक्ल जी को महर्षि लीओ टालस्टाय और रवीन्द्र की कला तथा छायावाद जैसी नवनोन्मेषिनी साहित्यिक धारा अच्छी नही लगने का प्रमुख कारण यही है कि इस कला में उन्हे न तो तुलसी का वह 'शीलनिरूपण' ही मिला और न वे मध्य युगीन आदर्श ही। फिर युद्धोत्तर साहित्य में उन्हें जायसी और तुलसी–सी प्रबन्ध–पटुता भी तो नहीं मिल पाई।

युद्ध मे मनुष्य के नैतिक आदर्श हिल जाते है और हिंसात्मक वृत्तियों का उभार प्रारम्भ हो जाता है। पार्थिव स्पृहाओं जिनमें यौन–लिप्सा और अर्थ–लिप्सा का भी सम्मिलन है–आदि की बहुलता हो जाती है और ऊँचे आदर्शों का विघटन होने लगता है। इस महायुद्ध के पूर्व विज्ञान द्वारा उद्‌भूत औद्योगिकता यूरोप के जन-जीवन मे प्रवेश पा चुकी थी और वे वैज्ञानिकता और औद्योगिकता में अपने जीवन, साहित्य, कला और सस्कृति आदि तत्वों का चरमोत्कर्ष मानते थे। किन्तु इस प्रथम महायुद्ध ने उनके यन्त्रों द्वारा निर्मित काल्पनिक ससार और तथाकथित चर्मोत्कर्ष का जो भयानक दृश्य उपस्थित किया उसके परिणामस्वरूप योरोपवासियों की सारी सभ्यता और सस्कृति की नीव हिल गई और उन्होने भी वैज्ञानिक आदर्शों और

तज्जन्य नैतिकता को अधूरी और अमनोवैज्ञानिक स्वीकार किया।

यह नैतिकता मशीनी थी जिसमें मानवीय उदात्त भावनाओं तथा ऊँचे आदर्शों का अभाव था। भौतिक विकासों में ये बुद्धिवादी विचारक आदर्शों और आस्थाओं में उतने ही काल्पनिक थे। अतः युद्ध के बाद उनकी ये आस्थायें और आदर्श भी टूक-टूक होने लगे, और वैज्ञानिकता का गलत दिशा में विकास उनकी आकांक्षाओं को उभारता तो लगा पर वह पूर्ति में बाधक ही रहा।

युद्ध के पश्चात् इधर सभी देशों की चिन्तना में एक अस्थिरता का समावेश हो गया और युग के विचारक पुनः विश्व के चौराहे पर अपना मार्ग खोजने के लिए खड़े हो गये। यह अस्थिरता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में थी। जीवन को मापने का, मनुष्य का हित उसका उच्चतर दृष्टिकोण क्या हो?

इधर भारत में महायुद्ध के उपरान्त एक घोर आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। सहस्रों व्यक्ति जो युद्ध में हिंसा और बर्बरता के लिए प्रशिक्षित किए गए थे बेकार हुए—नौकरी से पृथक कर दिए गए और बेकारी की समस्या जटिल हो गई। उच्च वर्गीय समाज पूँजीपति वर्ग ने अपना शोषण-यन्त्र और भी तेज कर दिया। औद्योगिकता के उन्मेष ने जीवन के प्रत्येक ऊँचे आदर्श को एक निष्प्राण वस्तु के रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया। ईश्वर और आत्मा को विज्ञान के प्रतिमानों पर परखने का प्रयत्न किया गया। अतः धर्म और विज्ञान के बीच, कलात्मक सृजन और औद्योगिक-सृजन के बीच तथा सुन्दर और कुरूप के बीच एक खाई बनने लगी।

पश्चिम की इन नई आस्थाओं का भारत पर प्रभाव तो पड़ा किन्तु वह इन्हें मौलिक रूप में ग्रहण नहीं कर सका। प्रथम महायुद्ध में वह विज्ञान और औद्योगिकता का नग्न ताण्डव देख चुका था। वह इस सत्य से अपरिचित नहीं रहा कि ये बड़े-बड़े प्रेताकार यन्त्र जो धरती की छाती पर रखे गए हैं, मानव का हित करने में कम सक्षम हैं। यह विकास बाहर से तो लगता है किन्तु भीतर से सर्वथा खोखला है। जीवन के निरन्तर उदात्त सत्य धीरे-धीरे लोप हो रहे हैं और बहिरंग विकास, जिसने आज के आदमी को अभिभूत किया है, झूठे हैं।

विश्व की इस बहिरंगता से लड़ने के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहंस,

विवेकानन्द, रवीन्द्र और गांधी प्रभृति मनीषियों का आध्यात्मिक चिन्तन जो कि अपने अर्थ में वैज्ञानिक भी था भारतीय जन-चेतना को प्रेरित करने लगा।

अतः इस युग मे नैतिक आदर्श इन विभिन्न इकाइयो द्वारा अभिनिर्मित किये थे। स्थूल और बाह्य औद्योगिक एवं वैज्ञानिक चेतना द्वारा उद्भूत नैतिक आदर्शों की परख प्रथम महायुद्ध मे हो चुकी थी। जिसने असंख्य, निरपराधियों, शिशुओं, माताओं, युवा और युवतियों को मृत्यु के मुख में झोंक दिया था। भारत की भी इस युद्ध मे एक महान भूमिका रही थी।

अतः भारत ने इस औद्योगिकता के विरुद्ध प्रारम्भ से ही अपने स्वर को ऊंचा उठाया। इस विरोध का चरम स्वरूप हमें कामायनी मे मिलता है। जिसमें वैज्ञानिकता, औद्योगिकता और बुद्धिवाद के विरुद्ध श्रद्धा-भाव की प्रतिष्ठा है। हमारे युद्धोत्तर नवीन आदर्शों का जिनका स्वरूप युग-सत्य के समानान्तर मे आध्यात्मिक था, अपने सम्पूर्ण रूप मे इस युग के काव्य में ध्वनित हुआ।

इन आदर्शों की वैज्ञानिकता इसी मे थी कि उन्होंने ईश्वर के उस स्वरूप को जो कि अंध विश्वासों, ह्रासोन्मुखी पुराणों आदि पर आधारित था पूर्ण रूप में खंडन किया और उपनिषदों के ब्रह्म की प्रतिष्ठा की, जिसकी ह्यता को सिद्ध करने के लिये उनके पास तर्क थे—एक सुस्पष्ठ वैज्ञानिक विश्लेषण था। इस ह्यता की स्वीकृति जिसकी परमहंस रामकृष्ण ने अपनी अनुभूति से की थी, विवेकानन्द ने तर्क और प्रज्ञा से तथा तिलक और गांधी ने व्यवहार मे की।

पाश्चात्य जगत की अति वैज्ञानिकता, उसका पार्थिव दृष्टिकोण जिसके द्वारा वह जीवन का सर्वस्व प्राप्त करने और उसका चरम विकास मानने का दावा करता था वे आत्मघाती सिद्ध हुए। यूरोप वासियों की वैज्ञानिक उपलब्धियों और उनके ऊँचे काल्पनिक सिद्धान्तों जिनको कि उन्होंने फ्रांस की राज्य क्रान्ति और औद्योगिक आन्दोलन के पश्चात् मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया था वे साकार नहीं हो सके और कल्पना बन कर ही रह गई।

भारत की उक्त राजनैतिक और सांस्कृतिक भाव-भूमि मे न तो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् योरोप में प्रचलित स्वच्छन्दतावाद को ही उसने

मौलिक रूप म पनपने दिया और न उन मध्ययुगीन आदर्शों का जिन्ह कि स्वामी दयानन्द सरस्वती अपन महान व्यक्तित्व और अद्भुत 'प्रज्ञा' स उपदेशित कर रह थे।

वैज्ञानिकता और औद्योगिकता के ससपश स ये मध्ययुगीन जीवन मूल्य तो सवथा ही टूटने लग गय थे। समाज राजनैतिक और आर्थिक रूप से ग्रस्त होने पर भी उसम नए परिवतन का उन्मेष हो रहा था। रूढिवाद, सकीर्णतावाद तथा तदयुगीन राजभक्ति आदि ह्रासोन्मुखी जीवन-प्रणालियो का शनै शनै अवसान हो रहा था। बीसवी शताब्दी के इस प्रथम दशक ने भारतीय जन-मानस को सजग कर दिया था। उस अपनी रुग्णता का बोध हो चुका था और अब वह उससे मुक्ति पाने के लिए बचैन था। उसके मारे वे झूठे विश्वास कि उसका अतीत महान था वह विश्व-गुरु था और उसके पास एक अप्रतिम प्रज्ञा है य सारी मान्यताए उसकी टूक टूक हो चुकी थी। नई औद्योगिकता और युद्धोत्तर जीवन सत्यो स टकराकर धीरे-धीरे वह अधिक अन्तमुखी होने लगा। किन्तु इस भाव-वाद क उपरान्त भी वह युग के दाशनिक और वस्तुवादी विचारो स अछूता न रह सका। उसकी व्यक्ति-चेतना ने अब नारी को रूप और सज्जा म गहीत नही किया। नारी यौन-लिप्सा की परितृप्ति क अतिरिक्त भी कुछ है। जो कुछ 'यह सामने है' यह बाह्य रूप से कितना ही तोषप्रद हो पर वस्तुत वैसा नहीं है। उसके आदश की परिधि मध्ययुग की आदश-परिधि से अधिक विस्तीर्ण हो गई और उसकी सृजन मूलत वैयक्तिक होने पर भी आदश रूप मे वह सम्पूर्ण मानव के हित को लेकर उपस्थित हुआ। प्रथम महायुद्ध, रूस की राज्य-क्रान्ति आदि महान परिवतनों ने उसे राष्ट्रीय से अन्तरराष्ट्रीय बना दिया। वह स्वय की प्रक्रियाओ को वर्गातीत, समाजातीत और राष्ट्रातीत मानकर सम्पूर्ण विश्व से उसे अनुस्यूत कर अभिव्यक्त करने लगा। इस महान अनुष्ठान के लिए—अपने चिन्तन की ऐसी निरपेक्ष परिधि का निर्माण किसी महान असाधारण प्रज्ञा द्वारा ही हो सकता था। अत इस युग के साहित्य मनीषियो का यह दावा तो उनका बहाना मात्र रहा और फिर उस युग मे जब कि युगीन परिस्थितियाँ समकालीन मनीषा को प्रभावित करने के लिए क्षिप्र से क्षिप्रतर हो रही हैं।

अत यह स्पष्ट है कि उसके ये आदश वस्तु-स्थितियो और तज्जन्य

चेतना की स्वीकारात्मक प्रक्रिया से अभिनिर्मित नहीं थे। उसने उन आदर्शों को ही गृहीत किया जो वेदान्त द्वारा पोषित थे, किन्तु वह इस वेदान्त की उस व्यावहारिकता का विकास नहीं कर सके जिसका कि युगीन सत्यों की पार्श्व-भूमि में स्वामी विवेकानन्द ने बीजारोपण किया।

इन परिस्थितियों में साहित्यकार के आदर्श, उसके नैतिक मूल्य, उसके स्वयं के द्वारा निर्मित हुए। ये परिस्थितियां उसके अन्तर्मन की बहुत दूर की पर्त पर अवस्थित हुई और जो कुछ उसने इस विषमता को अभिव्यक्त किया वह बहुत ही प्रच्छन्न रूप से।

आदर्श जब कर्म में अभिव्यक्त नहीं होता है तब तक उस युग का इतिहास भी उतना ही क्षीण रहता है। प्रथम दशाब्दी में रचना किए हुए ये वैयक्तिक आदर्श जो व्यक्ति, विश्व और प्रकृति तीनों की भावात्मक सत्ता से अभिपोषित थे 'कामायनी' के निर्माण के बाद इनमें गत्यावरोध उत्पन्न हो चुका था। यद्यपि यह भावात्मक सत्ता असन्दिग्ध रूप से मानवतावादी रही है, किन्तु अपने मूल रूप में एक वैयक्तिक चेतना होने के कारण जन-जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित नहीं कर सकी। इसमें सम्पूर्ण 'जन' नहीं आ सका। आदर्श की अवतारणा जब तक 'जन' में और 'जन' के लिए नहीं होगी तब तक उसकी व्यावहारिकता और व्यापकता सदैव ही सन्दिग्ध रहेगी। वस्तुस्थितियों की नकारात्मक स्वीकृतियों ने साहित्यकार को युग-सत्य से दूर कर दिया। वह अव्यावहारिक, स्वप्न दृष्टा, और अहंवादी हो गया। वह अपनी ही केंचुली में ग्रस्त और त्रस्त होकर प्रज्ञाचक्षु बन गया।

जनमानस और उसका मनोविज्ञान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का विशिष्टतः भारतेन्दु काल के परवर्ती साहित्य का अध्ययन तद्युगीन राजनैतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक, परिस्थितियों के प्रकाश में नहीं किया। यही कारण है कि द्विवेदी काल के जो कि अपने मूल रूप में परम्परावादी था, उसके बाद की सम्पूर्ण साहित्यिक चेतना उन्हें पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित 'आध्यात्मिक प्रतीकवाद' का अनुकरण अथवा बंग भाषा की रहस्यात्मक कविताओं का सजीला और कोमल मार्ग ही लगा।

प्रथम महायुद्ध में विजयश्री भले ही किसी देश विशेष ने वरण की हो किन्तु उसके द्वारा विनाश का जो भयावह-स्वरूप मनुष्य के सामने आया उसकी

प्रतीति प्रत्यक स्पन्दनशील प्राणी न की। सारा विश्व विनाश की भीति मे स्तब्ध हो गया। मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वग गहरी निराशा और उदासीनता की प्रतीति कर रहा था। भारत को तो अग्रेजो ने जन-आन्दोलनों को क्रूर हिसात्मक तरीका से दमन करके एव सन १९१९ की अन्य पाशविक घटनाओ जलियावाला बाग, १६ अप्रैल १९१९ आदि द्वारा और भी उदासीन बना दिया था। इस काल के जन-मानस की वास्तविक स्थिति का चित्रण हम २६ जनवरी १९३० के स्वाधीनता का घोषणा-पत्र मे मिलता है— 'भारत की आर्थिक बर्बादी हो चुकी है। जनता की आमदनी का देखते हुए उसस बेहिसाब कर वसूल किया जाता है।"

"हमारी औसत दैनिक आय ७ नय पस है । संस्कृति क लिहाज स, शिक्षा प्रणाली न हमारी जड ही काट दी है और हम जो तालीम दी जाती है उसस हम हमारी गुलामी की जजीरो को ही प्यार करन लग हैं।"[1]

प्रथम महायुद्ध ने देश म स्थित सामन्तीय जीवन मूल्यो एव तद्भूत सामन्तीय समाज-व्यवस्था की नीव को भी हिला दिया। इस युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि अब सामन्तीय समाज प्रणाली के दिन लद चुके हैं और मनुष्य अब उस तग घेरे में नहीं रह सकता है। अत हमे इस युग विशेष का मनुष्य जहाँ अपनी वतमान परिस्थितियो के प्रति उदासीन और निराशाजनक वातावरण पाता है वहाँ उसका मानस सामन्तीय जीवन मूल्यो के प्रति भी एक विद्रोह की भावना भी लिये हुए है। डा० रामविलास न अपनी 'संस्कृत और साहित्य' शीर्षक पुस्तक म छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए लिखा है —

"तीनो युगो मे ही यान्त्रिक पंजीवाद म उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थितियो के प्रति घोर असन्तोष ह, इसके साथ ही पूंजीवाद ने पुरानी शृंखलाओ को झकझोर कर आत्म-विश्वासी पथिकों के लिये नये सगठन और नई प्रगति का माग निश्चित किया, उसकी चेतना भी इन कवियो म विद्यमान है। सामाजिक पृष्ठभूमि मे समानता है तो समाज का प्रतिबिम्बित

१— कांग्रेस का इतिहास—भाग १

करने वाले साहित्य में भी समानता होनी अनिवार्य है।"[2]

डॉक्टर रामविलास ने प्रथम युद्ध के बाद जो पूंजीवाद के उन्मेष से आत्मकेन्द्रित काव्य का श्रीगणेश बताया है, वह वस्तुतः आंशिक सत्य का ही प्रतिपादन है। वह भारतीय कांग्रेस द्वारा संगठित जन-आन्दोलनों और उनकी प्रक्रिया तथा तद्युगीन प्रचलित सांस्कृतिक धाराओं के समन्वित प्रभावों को अपने मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धांतों के प्रतिपादन में भूल से गए।

वास्तव में आलोच्य अवधि के भारतीय मानस का निर्माण इन्ही तत्वों के समन्वित प्रभावों से हुआ था। जहां वह युद्धोत्तर परिस्थितियों और जन-आन्दोलन के पाशविक दमन के कारण हताश और उदासीन हो गया था, वहां स्वामी विवेकानन्द और गांधी के सक्रिय अध्यात्मवाद में अभि-जाग्रत भी।

इस भांति, इन विशिष्ट युग परिस्थितियों एवं जन-मानस की रुझान ने द्विवेदीयुगीन स्थूल साहित्य के समस्त प्रतिमानों को चूर-चूर कर दिया और नये युग के नये प्रकाश में नवीन साहित्य और उनके नवीन प्रतिमानों की रचना प्रारम्भ हुई। जन-मानस युग के कठोर वस्तु सत्य से टकराकर अंतर्मुखी हो गया और बाह्य सत्यों से अपने आपको विलग कर लिया। ऐसी मनोदशा में उसे आत्म-मन्थन और आत्म-पर्यवेक्षण के अधिक अवसर प्राप्त हुए और वह स्वयं ही अपनी कविता का मूल उत्स हो गया।

युग के कठोर वस्तुसत्य से जूझने में अक्षम साहित्यकार अपने विक्षोभ और आत्म-पीड़ा को अभिव्यक्त करने लगा। उसके सम्मुख एक ओर तो पारम्परिक संस्कृति थी और दूसरी ओर अपने युग का निर्मम और कठोर सत्य। इधर परम्परागत सत्यों पर स्वामी विवेकानन्द प्रहार कर सक्रिय वेदांत दर्शन का प्रतिपादन कर ही चुके थे और दूसरी ओर जन-मानस में

१— दरबारी कवि ने 'जय साह के हुकुम' से प्रेरणा पाई थी, भक्त ने इष्ट के 'तरुण अरुण वारिज नयनों में'। परन्तु छायावादी युग में वह परम्परा टूट गई। कवि भक्त नहीं है, न वह नराधीश का चाटु चाकर। अपनी कविता का स्रोत तो वह स्वयं है, अथवा किसी रहस्यमयी शक्ति की व्यंजना का माध्यम बनाकर स्रोत को वह अलौकिक बना देता है।

अपने काल की निमम परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति शेष नहीं रही थी। अत अब इन दो नकारात्मक और स्वीकारात्मक परिस्थितियो मे उसके सम्मुख एक ही विकल्प था कि वह आत्मवादी दार्शनिक विचारणाओ की पृष्ठभूमि मे ही स्वय को अभिव्यक्त करे।

अत, हमे इस युग विशेष का जन मानस अधिक अन्तमु खी लगता है। ऐसा लगता है कि हारा हुआ व्यक्ति युग के बदलते हुए प्रतिमानो क प्रकाश म नई शक्ति जुटाने का पुन स्वय मे लौट आना चाहता है। वह अपने वातावरण और परिस्थितियो के प्रति जहा उदासीन है वहा दूसरी ओर उनके प्रति उसका विक्षोभ और ग्लानि भी है। वह इस वातावरण और परिस्थितियो को जूझकर बदलने की अपेक्षा उसमे अपनी आत्म चिन्तनाओ द्वारा परिवतन उपस्थित करना अधिक श्रेयस्कर समझता है, क्योकि इन सबका बाह्य रूप उसे इतना घृण्य और असह्य-सा लगता है कि वह अपने आपको इनसे सर्वथा अलग कर लेता है। यही कारण है कि इस युग की साहित्यिक चिन्तनाओ म हम पलायन के भाव मिलते है। इस पलायन मे वस्तुत हार क भाव कम हैं पर हाँ सामाजिकता के प्रति एक तीव्र ग्लानि अवश्य है। हार के ही भाव होते तो हमारे छायावादी काल मे जो एक तीव्र गत्यात्मकता है वह नही होती और हमारा साहित्य वही थक कर जड हो गया होता।

पलायनवाद के दो प्रमुख कारण हैं। हम अपने पर इसलिए लौट सकते हैं कि हम डरते हैं। किन्तु पीछे हटने का एक दूसरा भी कारण है—समूह, समाज और विश्व के प्रति अयमनस्कता, ग्लानि और एक ऊबन। कुछ ऐसी मान्यतायें जो एकाकी मन मे जाग्रत होती हैं, उनका यह एकाकीपन भी कभी-कभी उसे कुछ ऐसी वस्तु दे देता है जो महान और उत्कृष्टतर होती है जिन्हें वह अपने आपको समाज मे तिरोहित कर देने पर नही प्राप्त कर सकता।

ऐसी ही भावनायें इस युग के जन-मानस की थी। वह सामाजिक परिस्थितियो को तद्युगीन वातावरण से ऊब रहा था। अत वह व्यक्ति जो कि प्रथम महायुद्ध मे बम, टैंक और तापो की छाँह म मुस्कराया था और जलियावाला बाग जैसी घटना के लिये तत्पर था, उन्ही मे का *मध्यवर्गीय* बुद्धिजीवी आत्मस्थ होकर शेष जगत से विरक्त हो गया और कल्पनाओ एव वायवी विश्व मे ही अपने सपनो को मूर्तित करने लगा।

वस्तुतः यह मनःस्थिति तो उन व्यक्तियों की थी जो जीवन में मात्र भावुक और आत्मवादी होते थे। जो एक छोटे से तृण को भी सहने में अक्षम रहते हैं। अत. इनमें से कतिपय व्यक्तियों ने अतीत की शरण ली और वस्तु-जगत को पीड़ा का संसार कहना प्रारम्भ किया। कुछ शुद्ध वायवी और काल्पनिक जगत में विचरण कर विश्वात्मवादी के महत् आदर्श का प्रतिपादन करने लगे। ये ब्राह्म समाज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के केवल भावनात्मक सिद्धांतों के ग्राही थे।

एक सामान्य व्यक्तियों का वर्ग और था जो इन भीषण परिस्थितियों में भी हारा नहीं था। जिनकी अभी भी संघर्षों में सघन आस्था थी। ये वस्तु-स्थितियों से ऊबे नहीं थे। युग के कठोर सत्य को इन्होंने वायवी भाव-भूमि पर न अनुभूत कर यथार्थ की कठोर भावभूमि पर परखा था। भारतीय दर्शन इन व्यक्तियों के लिये केवल तर्क और विवेक का विषय नहीं था अपितु वह एक सक्रिय जीवन दर्शन था। इस सक्रिय जीवन-दर्शन के मूर्तरूप थे स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी। यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में दोनों की विचारणायें भिन्न-भिन्न थीं,—एक तो वेदान्त-दर्शन के प्रतिपादक थे और दूसरे वैष्णव-धर्म की दार्शनिक विचारणाओं के पोषक। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में दोनों का मिलन एक ही रंगमंच पर था। वास्तव में गांधी जी ने कभी भी किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्तना को संकीर्ण रूप में स्वीकृत नहीं किया। जहां वे वैष्णव भक्ति-मार्ग के अनन्य उपासक थे वहाँ प्रच्छन्न रूप से (उनकी उदारमना राजनीति के कारण) सर्वात्मवाद भी उनकी चिन्तना का एक अविच्छिन्न अंग था।

यह सर्वात्मवाद और ईश्वर के प्रति ऐसी अप्रतिम आस्था इस युग के साहित्य का प्राण है। युग का जनमानस भौतिक रूप से पराभूत हो गया था। किन्तु उसकी अन्तश्चेतना इन पीड़ाओं और यातनाओं से और भी दृढ़ हुई—उसमें एक नई संकल्पात्मक शक्ति का उदय हुआ जो केवल आत्मगत नहीं थी अपितु सर्वात्मगत थी। इस शक्ति की अनुभूति सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्द और पश्चात् महात्मा गांधी ने की थी।

इस युग का जनमानस विभिन्न मनीषियों द्वारा प्रदत्त चिन्तन-धाराओं के बानों से बुना हुआ था। इनके अन्तश्चेतन में जिस उदार विश्वात्मवाद की भाव-गंगा बह रही थी वही युग के साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में

प्रवाहित की ओर जनमानस का और अधिक उवर किया।

नये वादो और नवीन प्रवृत्तियो का उद्‌भव और विकास

जीवन और जगत की उपयुक्त वर्णित विभिन्न परिस्थितिया और तदनिर्मित जन–चेतना द्वारा दशन और राजनीति मे प्रभावित होकर साहित्य मे भी विभिन्न वादो और नवीन प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुत नवीन वादो का उद्‌भव और नवीन प्रवत्तिया का उन्मेष जन–चेतना और साहित्यकार की बौद्धिक जागरूकता का ही प्रतीक है। शुक्ल जी इस दृष्टि से परम्परावादी ही थे। जीवन और जगत के विभिन्न मोडो का उन्हान अध्ययन तो अवश्य किया, किन्तु उनके साथ उन्होंने कही भी उदारमना होकर इनसे समझौता नही किया जो कि हमे परवर्ती समीक्षाओ और समीक्षको सवश्री डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर नगेन्द्र और आचाय नन्द–दुलार वाजपयी मे दृष्टिगत होता है।

शुक्ल जी के जीवनकाल मे ही छायावाद तथा उसके विभिन्न स्वरूपो का चरम *विकास हो गया था। साहित्य मे प्रगतिवाद के स्वर भी यत्र–तत्र* सुनाई पडने लग गय थ। छायावाद के परिवेश मे राष्ट्रवादी साहित्य सबधी प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, प० माखनलाल चतुर्वेदी, प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि साहित्य मनीषियो द्वारा सम्पूर्ण शक्ति स प्रकाश म आ रहा था। स्वामी रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, गुरु रवीन्द्रनाथ टगोर आदि की महती चिन्तनायें जनता की अन्तश्चेतना प्रविष्ट हो चुकी थी। पौर्वात्य जीवन–मूल्यो को पाश्चात्य जीवन–मूल्यो मे श्रेष्ठ नहीं ता समकक्ष अवश्य घोषित किया जा चुका था और उसे सावभौमिक स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी। साहित्य म उन्मेषित ये विभिन्न प्रवत्तिया साहित्य म जीवटता की ही परिचायिका थी किन्तु शुक्ल जी के परम्परावादी दृष्टिकोण ने उनके चिन्तन को पर्याप्त रूप से सकीर्ण बना दिया था। 'हिन्दी आलोचना का धरातल' शीर्षक निबन्ध मे देव राव जी न हीनभाव से प्रताडित होकर जो कुछ लिखा है वह कम–से–कम तीस वर्ष पूर्व ता सत्य था ही–

यहाँ हम कह दें कि हिन्दी मे किसी भी लेखक का भारतीय एव योरोपीय सस्कृति से उतना प्रगाढ परिचय नही रहा जितना कि रवीन्द्र और राधाकृष्ण का। सम्भवत उनम से कोई भी 'प्राचीन साहित्य तथा 'रिलीजन

आफ फेथ' जैसे आलोचनात्मक एवं चिन्तन पूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत करने योग्य न था। रविबाबू का कालिदास और उपनिषदों से जितना गहरा एवं सहानुभूति-पूर्ण परिचय था, वैसा ही वैज्ञानिक विकासवाद तथा हैगेलियन अध्यात्म-वाद में भी।[1]

वास्तव में देवराज जी का यह निष्कर्ष आज से तीस वर्ष पूर्व तो कुछ तर्क सगत था किन्तु आज निश्चित ही नहीं।

शुक्ल जी के द्वारा दिशानिर्देशन करने के पश्चात् आज हिन्दी में ऐसे समीक्षाकारों का अभाव नहीं है जो भरत, कुन्तक, वामन, रुद्रट, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य के साथ-साथ काण्ट, हीगेल, बर्कले मार्क्स, फ्रेरबाख, फ्रायड, क्रोचे आदि पर भी समान गति रखते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ल-युग के पश्चात् ही जन-चेतना में विभिन्न विचारणाओं का समावेश हुआ, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवि बाबू की महती मेधा के प्रकाशन के पश्चात् ही तो साहित्य में विभिन्न विचारणाओं का संचरण हुआ।

यही युग सर्वाधिक समन्वय का युग रहा है। जब कि हमने हमारी संकीर्णतावादी मनोवृत्तियों का त्याग कर जो भी हमें सत्य अथवा उपादेय प्रतीत हुआ, हमने उदारमना होकर उसे ग्रहण किया।

यों तो साहित्य की रीतिकालीन प्रवृत्तियों पर—रूढ़िवादिता के ऊपर द्विवेदीयुग सम्पूर्ण रूप से प्रहार कर चुका था, किन्तु उस काल की अपनी साहित्यिक आस्थाएँ अपने स्वय में 'रीतिवादिता' का ही एक रूप बन गई थी, जिसका समाहार स्वय शुक्ल जी भी नहीं कर सके। जीवन और जगत की बदलती हुई परिस्थितियों पर कभी भी जड़ता स्वीकार नहीं की जा सकती। और फिर जैसा कि पूर्व निरूपित किया जा चुका है हमारे देश की परिस्थितियों में—क्या सांस्कृतिक, क्या राजनीतिक और क्या साहित्यिक सभी क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन हो रहा था।

इस युग के नवीन कवियों एवं साहित्यकारों ने जब अपनी नवीन कृतियों द्वारा साहित्य में प्रविष्ट किया तो कई आलोचकगण उनके साहित्य

१—'प्रतीक'—६ बसन्त

का मूल्यांकन करने के लिए उन्हीं पुराने मानों का उपयोग करने लगे। साहित्य में देश-काल (जिसमें युग की सांस्कृतिक आस्थाएँ भी सन्निहित हैं) पार्श्वभूमि में साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति का और तज्जनित कविता के नूतन परिवेश का साधारणीकरण करने में अक्षम हिन्दी के कई आलोचक उन्हीं पुराने मूल्यों से अभिनव साहित्य का भी मूल्यांकन करने लगे। पंत जी ने अमुक लक्षणा का उपयोग किया है। ऐसे लक्षणात्मक प्रयोग घनानन्द में भी मिलते हैं। 'प्रसाद, पन्त, निराला आदि द्वारा रचित काव्य केवल शैली मात्र ही है आदि आदि। इन सबका वास्तविक कारण यह था कि वे आलोचक द्विवेदी युग की उथली नैतिकता, संकीर्ण नैतिक मान्यताओं परम्पराओं, व्यक्ति पूजा, शिष्टाचार तथा शिल्प में विशिष्ट प्रकार के छन्द वही इतिवृत्तात्मक शैली आदि से जकड़े हुए थे।

विश्लेष्य युग के कवियों ने जब यह देखा कि यह परम्परा का चश्मा इन आलोचकों की आँखों पर से सहज उतरने वाला नहीं है तब उन्होंने स्वयं अपने काव्य-ग्रन्थों में 'आत्म निवेदन' लिखा, अलग से निबन्ध लिखे और अपना दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

यही घटना अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिसिज्म के आविर्भाव के समय भी घटित हुई थी और शैली वर्ड्सवर्थ आदि को भी या तो अपनी पुस्तकों के आत्मनिवेदन में कुछ कहना पड़ा अथवा उन्हें अलग से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना पड़ा।

इन कवियों ने न तो द्विवेदी-युग के स्थूल काव्य सिद्धान्तों को स्वीकृति ही दी और न ग्रहण ही किया। वे तो सभी बन्धनों से मुक्त होना चाहते थे। अपनी स्वतन्त्र प्रवृति के साथ सौंदर्य सधान ही उनका मुख्य लक्ष्य है। प्रसाद जी ने सन् १९१० में 'इन्दु' के प्रथम अंक में एक स्पष्टोक्ति की है—

"साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता और उसके लिए कोई विधि या बन्धन नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है।"

आचार्य शुक्ल एवं उनके वर्ग के समीक्षाकारों को परम्परागत साहित्यिक मानों एवं सामाजिक बन्धनों से मुक्ति कुछ अबौद्धिक-सी ही प्रतीत हुई। इसका प्रमुख कारण यह था कि यह संक्रान्तिकाल भाव प्रवणता का ही युग था। इस भावप्रवणता का बौद्धिक कारण भारतीय संस्कृति के चिन्तकों

एव राजनीति के मंच पर कतिपय उदारमना चिन्तकों एव राजनीतिक प्रतिमाओं का आगमन ही था, जिनका कि विश्लेषण पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है।

इन मनीषियों द्वारा अनुभूत एव प्रकाशित जीवन-प्रणालियां जो कि काल-सापेक्ष थीं, जन-सामान्य के हृदय-प्रदेश तक पहुंचने लग गई थीं। साहित्यकार ने जो कि समाज और संस्कृति का सजग प्रहरी होता है इन परिवर्तनों की सर्वप्रथम प्रतीति की और उसे वाणी दी। वे इन परिवर्तनों को जो कि युग के साथ-साथ उनके हृदय प्रदेश में भी हो रहे थे अभिव्यक्त करने के लिए बेचैनी प्रतीत कर रहे थे। यह बेचैनी जैसा कि पहले विश्लेपित किया जा चुका है, अन्तर्मुखी थी, बाह्यमुखी नहीं। हमारे राजनैतिक संघर्ष वास्तविकता की साम्राज्यवादी सरकार द्वारा बुरी तरह दमित किए जा चुके थे और बौद्धिक रूप में हम कुछ हारे-हारे से प्रतीत होते थे। किन्तु इसके उपरान्त भी हमने साहस नहीं खोया था। बाह्य पराजय ने हमारे अन्तस् को और भी शक्ति प्रदान की थी, हमने अपनी अन्तस् की समस्त शक्तियों को और भी जुटाया था। अत. इस युग की विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों—छायावाद की विभिन्न चेतन-शक्तियों में पराजय और तीव्र असंतोष के भावों के साथ-साथ निराशा और पलायन के संवेगों के साथ-साथ आत्म-विश्वास की भावना भी इनमें विद्यमान है।

विश्लेपित युग का साहित्य इन्हीं परिस्थितियों और जीवन के इन्हीं विभिन्न मोड़ों पर चल कर संघटित हुआ है।

३

छायावाद और उसके व्याख्याकार

हिन्दी मे काव्य धारा रवि बाबू की गीताजली क पश्चात ही अपन पूण वेग से प्रवाहित हुई। किन्तु इसका यह तात्पय नही कि इस प्रकार के काव्य का अस्तित्व ही नही था।

काव्य के पूव आलोचना म 'नया साहित्य' अवतरित हो चुका था। प्रसाद जी द्वारा सम्पादित 'इन्दु' काव्य की इस अभिनव धारा का प्रतिनिधि पत्र बन गया था। इस काल तक हिन्दी मे छायावादी काव्य अपन स्पष्ट रूप म नही आ पाया था। प्रसाद जी 'इन्दु' की प्रस्तावना म लिखते हैं– 'वह (साहित्य) किसी की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता। ससार म जो कुछ भी सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौंदय की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित और सौंदय का पूण रूप से विकसित करता है। आनन्दमय हृदय के अनुशीलन म और आलोचना म उसकी सत्ता देखी जाती है।'[1]

इस सूत्र द्वारा प्रसाद जी ने ही छायावादी आलोचना का भी श्री गणेश किया था। 'इन्दु' के प्रकाशन के पश्चात तो हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं मे छायावाद पर कई लेख निकले। इसमें सरस्वती' भी प्रमुख थी। यद्यपि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावाद की काव्योपलब्धियों

१– 'इन्दु' कला १, किरण १, १९०९।

और उसके नूतन परिवेश से सहमत नहीं थे किन्तु इसके उपरांत भी 'सरस्वती' मे छायावादी काव्य और तद्सम्बन्धी धारणाएं निरन्तर प्रकाश मे आती रही। मुकुटधर पाण्डेय ने अपने एक लेख में लिखा था।—

"वस्तुत सौंदर्य और उसके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणा ही कविता की जड है। यही कविता मे 'अव्यक्त' का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है जो कभी विच्छिन्न नही होती। इस रहस्यपूर्ण सौन्दर्य-दर्शन मे हमारे हृदय सागर मे जो भाव तरगें उठती है वे प्रायः कल्पनारूपी वायु-वेग मे ही ज्ञात होती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्राय अस्पष्टता लिए होते है। इसी स्पष्टता का दूसरा नाम छायावाद है।"[1]

ये छायावाद-रहस्यवाद को समझने के प्रारम्भिक आयास थे। प्रारम्भ मे जिन कवियो अथवा समीक्षकों ने छायावाद की व्याख्या करने का और उसे जन सामान्य तक पहुचाने का प्रयत्न किया वे या तो स्वय छायावादी कवि थे अथवा वे आलोचक जो छायावाद की एक विशिष्ट शैली और शिल्प को आलोचना मे भी अवतरित कर रहे थे। उनके पास जो आलोचना के लिए प्रज्ञा थी वह काव्य की सहगामिनी ही थी। अत उसके उषा-काल मे वैज्ञानिक विश्लेषण से वचित रहा और आलोचनायें भी अन्तर्मुखी होने लगी।

"स्पष्टत. एक ओर तो हिन्दी के यह समीक्षाकार संस्कृत के रसवादी कवि एवं हिन्दी के भक्तिकाल के पारम्परिक-काव्य से प्रेरणा लेकर उनके द्वारा निरूपित काव्य के सिद्धान्तों की आलोचना मे अवतरित कर रहे थे और दूसरी ओर वे कवि थे जो स्वतन्त्र चेता थे और युग-सत्य एवं तज्ज-नित सांस्कृतिक चेतना के स्पन्दन को अनुभूत कर उसे अपनी अनुभूति बना-कर अभिव्यक्त किया करते थे। महादेवी जी ने छायावाद की पूर्वपीठिका का विश्लेषण करते हुए लिखा है.—"कविता के बन्धन सीमा तक पहुंच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"[2]

अत' काव्य का वह स्थूल सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप जो

१— सरस्वती, दि० १९१२।

२— छायावाद-महादेवी वर्मा।

कि द्विवेदी युग का प्राण था धीरे-धीरे तिरोहित होता गया और वैयक्तिक चेतना प्रबल होती गई। यह वैयक्तिक चेतना जो साहित्यिक क्षेत्र मे इस विश्लष्य युग मे दृष्टिगत होनी है वह अग्रजी क स्वच्छन्दतावादी युग मे भी अप्रतिम रूप मे प्रवहमान थी। कला की मूल चेतना प्राचीन (क्लासिक) साहित्य म टूटकर नवीन परिवेश म दृष्टिगत होने लगी थी। कला के महान समीक्षा कार श्री विलियम आरफन' न इस युग की कलात्मक जागृति का चित्रण करत हुए अपन विशाल ग्रन्थ दी आउट लाइन आफ आर्ट' म लिखा है।[1]

वास्तव म हमार यहा क इस काल के साहित्य न भी जीवन की कल्पनागत अभिव्यक्ति हा दी। अत विदशी साहित्य म इस काल न अधिकत शैली, वर्ड्सवर्थ कीट्ज, बायरन आदि क काव्य मे ही प्ररणा ग्रहण की।[2]

छायावाद का यह स्वरूप काव्य जगत चिन्तन जगत म पहल प्रविष्ठ हुआ। चिन्तन-जगत म यह कोई वाद का स्वरूप लकर नहा आया, जैसा कि प्रगतिवादी साहित्य। कहा जा सकता है कि छायावाद न जो जीवन रस ग्रहण किया था वह स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवकान द और महात्मा गाधी का विचारणाओ म। वह जो पल्लावत और पुष्पित हुआ

1– On one hand were the defenders of tradition of the grand style of the academic painting, defenedrs of the classic ideal based on the sculpture of anci-nt Greece and Roam, on the other were ardent young reformers, intoxicated with the colour and movement of life itself, who found there inspiration, not in the classics but in Romantic literature, in Dante, Shakespeare, Goethe, Byron and Scot, Passion, movement the imagination impression of life were the aim of this group of artists, who became known as romantics

The Outline of art

२– १९ वी सदी का उत्तराध इग्लण्ड म मध्यमवर्गीय संस्कृति का चरमोत्कर्ष युग रहा है। महायुद्ध के बाद उसम विश्लेषण के चिह्न प्रकट होन लगे। छायावाद और उत्तर युद्धकालीन अंग्रेजी कविता दोनो भिन्न-भिन्न रूप म इस सक्रान्ति युग क स्नायविक विक्षोभ की प्रतिच्छवियां हैं।
—सु० पत, 'आधुनिक कवि' २ पर्यालोचन पृ० १२-१३।

उसके पार्श्व में एक सशक्त विचारधारा थी; उसकी जड़े भारतीय संस्कृति की तह में थी। किन्तु यह संस्कृति वह पुराणों की संस्कृति नहीं थी जो मिथ्या आचार, थोथी नैतिकता और नाना अंध-विश्वासों में पोषित हो। छायावाद की विचारणा तो वेदों और उपनिषदों के मेरुदण्ड पर अवस्थित है।

इस काव्य-धारा में जो हमें सर्वात्मवाद के दर्शन होते है वह उपनिषदों की ही देन है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस काल के साहित्यकारों ने उपनिषदों का ही अनुगायन किया। इस काल में जो व्यक्ति—मानस अधिक आत्मवादी हो गया था उसे अपने भावों और विचारों के विकास की जिस परम्परा का बहाना बन गया था वे उपनिषद् और स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द की विचारणायें ही थी। अन्यथा वेद और उपनिषद् की विचारधारा छायावाद काल के लिए सेकन्ड थाट् के ही रूप में मानी जायेगी।

आलोचना में व्यक्तिवाद का अभ्युदय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है:—

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि तक ले जाती है।"[1]

इसके विपरीत प्रसाद जी का कथन है— "साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता और उसके लिए विधि का कोई निबन्धन नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है।"[2]

अत: छायावाद के प्रथम विश्लेषक प्रसाद जी स्पष्टत: साहित्य के क्षेत्र में दो शिविर सस्थापित कर देते हैं:—

(१) वह शिविर जो साहित्य का प्रयोजन यह मानता हो कि साहित्य वह है जो मनुष्य को लोक-सामान्य भावभूमि तक ले जाकर उसके भावों का परिष्कार करने वाला हो और

(२) वह शिविर जो साहित्य का ऐसा कोई विशिष्ट प्रयोजन न मान उसे वैयक्तिक अनुभूति का प्रकाशन मात्र मानता हो। अत: काव्य एक वैयक्तिक भावक्रिया है। साहित्यकार का यह

१— रस मीमासा, पृ० ६।
२— इन्दु कला १, किरण १।

स्वाभाविक धर्म है कि उसका भाव प्रवण हृदय सूक्ष्म-सूक्ष्म घटना की भी अनुभूति करने मे सक्षम होता है और उसके जीवन की समस्त आत्म-घटित अथवा परिघटित घटनाओ का भी सवेदनीय बना लेना है। ये सवेदित घटनायें उसके अतमन को बराबर आलोडित-विलोडित करती रहती हैं। बाह्य जीवन की अन्य गतिविधियो मे कुछ क्षण के लिए ये घटनायें उसके बाह्य चेतन से विस्मृत हो जाती हैं किन्तु अन्तश्चेतन म इन घटनाओ का मथन होता रहता है और नवीन भावो की अनुभूति का प्रक्रियास्वरूप कविता उद्भूत हो उठती है। काव्य वैयक्तिक अनुभूति मात्र है। उसमे लोक और समाज की व्याप्ति खोजना निरर्थक होगा।

"आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति का नाम ही काव्य है।"[1]

हिन्दी के इसी युग के कवि डा० रामकुमार वर्मा भी प्रसाद जी द्वारा निरूपित काव्य-परिभाषा के इस आत्म-पक्ष को ही स्वीकार करते हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि छायावाद की दार्शनिक भावभूमि सर्वात्मवाद रही है। सर्वात्मवाद सैद्धान्तिक रूप म जीवन और जगत की अपने आप म एक समग्र व्याप्ति को समेट हुए है। कला-गुरु रवीन्द्र के द्वारा काव्य के तीन शाश्वत तत्व सत्य, शिव और सुन्दरम् तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए एक व्याकुलता इसी सर्वात्मवाद का साहित्यिक स्वरूप था। स्वामी विवेकानन्द भी जब तक सर्वात्मवाद के इस उदात्त भाव म परिप्लावित नहीं हो जाते थे तब तक उनमे भी एक आत्म-पीडा, एक अशान्ति व्याप्त रहती थी। इस भाव की अनुभूति और इस सत्य की प्रतीति उन्होंने की थी।

I see thee wherever I look, all that exists art thou[3]

और इसके लिए किसी साधना तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं। इसके लिए सासारिक यातना और उसकी स्वानुभूति की आवश्यकता है।

पीडा की अनुभूति कलागुरु रवीन्द्रनाथ से लेकर आज तक चल रहा है जो किसी न किसी रूप मे हिन्दी साहित्य म प्रवहमान है।

१— काव्य और कला— प्रसाद।

२— आत्मा की गूढ और छिपी हुई सौन्दर्य राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना कविता है। (डा० रा० कु० वर्मा आधुनिक कवि ३० द्वि० स० पृ० ५)

3— The Gospel of Ramkrishna P 898 -2-

प्रसाद जी ने स्वयं द्विवेदीकाल के स्थूल काव्य-विषयों पर प्रहार करते हुए साहित्य का आधार आत्म-पीड़ा माना है। वे कहते हैं— "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमय अभिव्यक्ति होने लगी।"[1]

प्रसाद जी के इस कथन की व्याप्ति हमें महादेवी में मिलती है। उन्होंने तो पीड़ा को काव्य द्वारा मूर्त-स्वरूप प्रदान कर दिया। वे तो काव्य का मूल उत्स पीड़ा ही मानती है।[2]

हमारे छायावादी आलोचक श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने भी अपनी छायावादी आलोचना शैली में बिना सदर्भ संकेत दिए महादेवी जी के उपर्युक्त कथन को वैसा-का-वैसा ही उतारने का प्रयत्न किया है और वेदना को छायावादी काव्य का प्रमुख तत्व माना है।

इसी प्रकार मानव मात्र या यों कहा जाय कि प्राणी मात्र को एक सूत्र में बाधने का साधन यदि कुछ है तो हमारी संवेदना। शायद दुःख-वाद को लेकर सृष्टि रचना ही हुई है तभी न विश्व का कण-कण एक अभाव से अनुप्राणित है।[3]

प्रश्न यह है कि यह वेदना और पीड़ा की अनुभूति स्वानुभूति है अथवा परानुभूति? यह पीड़ा वैयक्तिक है अथवा सामाजिक?

१— यथार्थवाद और छायावाद : काव्य और कला।

२— दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी नहीं पहुंचा सके किन्तु हमारा एक बूंद आंसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है परन्तु दुःखः सबको बांटकर। विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि भी मोक्ष है।

—'रश्मि' की भूमिका, महादेवी वर्मा —पृ०-४

३— छायावाद और रहस्यवाद पृ० ४९ तृ० सस्क०

इसके उत्तर के लिए पुन सर्वात्मवाद की उदात्त दार्शनिक विचारणा पर विहगावलोकन करना आवश्यक होगा।

इस निखिल विश्व मे एक ही प्राणधारा शाश्वत रूप से प्रवहमान है। इस सृष्टि के सूक्ष्मतम तत्व मे भी उसी पूर्णता का समावेश है, जो हमारे जीवन म है। विश्व के समस्त जीव उस महती सत्ता के ही विभिन्न स्वरूप हैं। हमारी सवेदनशीलता का विकसित स्वरूप ही हमे सृष्टि के इस महा सत्य म परिचित कराने म सक्षम है। हमारी सवेदनक्षमता कल्पना को व्याप्ति प्रदान करती है। जिस व्याप्ति के फलस्वरूप जड और चेतन सम्पूर्ण विश्व म सभी स्थलो पर उस एक ही महती आत्मा क दर्शन होते हैं। वस्तुत यह जो चिन्तन के क्षेत्र म सर्वात्मवाद की विचारणा है वह साहित्य क क्षेत्र म छायावाद है।

उक्त विचारणा का व्यावहारिक क्रम अथवा इसकी विचारपरिधि व्यक्ति द्वारा ही अभिनिर्मित है। इस समस्त चिन्तना क चारो ओर व्यक्ति ही चक्कर लगाता हुआ दृष्टिगत होता है, समष्टि अथवा लोक-जीवन की सामान्य इयत्ता का कोई स्थान नहीं।

अत स्वभावत ही जो छायावादी कवि अथवा आलोचक दुख पीडा और वेदना की बातें करते हैं वे उनकी अपनी वैयक्तिक पीडायें है। हा! इस व्यक्ति पीडा का सस्कार अवश्य हुआ है। अन्तश्चेतन मे जीवन अनगिन दमित वासनाओ और स्पृहाओ का सचयन और फिर बहिर्चेतन के नाना घात-प्रतिघात द्वारा उनका किसी इतर रूप म ढल कर साहित्य क माध्यम से अभिव्यक्त होना, यही क्रम है। उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन करते हुए महादेवी जी ने लिखा है—

"इन छाया-चित्रो को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरो की आवश्यकता है, कारण उन चित्रो का आधार छूने या चर्म चक्षु से देखने की वस्तु नही। यदि वे मानव हृदय म छिपी हुई एकता के आधार उसकी सवेदना का रग न चढा कर बनाये जायें तो वे प्रेत छाया के समान लगने लगें या नहीं, इसमे मुझे कुछ ही सन्देह है।[1]"

महादेवी जी के उपर्युक्त कथन का उनके विश्लेषण की ईमानदारी

१— 'रश्मि' की भूमिका, पृ० ३

ही कहा जायेगा। निश्चित ही इनके अन्तश्चेतन मे सचित वैयक्तिक कुण्ठायें यदि मौलिक रूप मे बिना इनका समुचित सस्कार किये चित्रित की जाती तो ये प्रेत छाया के समान ही लगने लगती, क्योंकि ये चित्र वैयक्तिक पीड़ाओं के ही हैं सामाजिक पीडाओं के नही। यदि बहिर्चेतन द्वारा निर्मित ये सामाजिक अनुभूति के चित्र होते तो निश्चित ही इनमें वह जीवटता होती, वह पारदर्शी शक्ति होती जो जन-जीवन मे नवीन प्राणों का सचार करने में सक्षम होती। छायावादी युग मे हमें तो इस सीमा तक कवि एव आलोचकों की विचारणाओं मे आवर्तन-प्रत्यावर्तन मिलते है कि साधारण-सी वैयक्तिक पीड़ाओं के कारण कवि और आलोचक अपनी मौलिक चिन्तना मे हिल जाते हैं और इतर जीवन-प्रणाली को ग्रहण कर लेते हैं। छायावाद के आलोचक प० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने युग और साहित्य की 'अपनी बातों में' लिखा है.—

"मैंने अपनी बहिन के भीतर जिस उज्जवल आत्मा का दर्शन किया था, उसी की प्रेरणा से मैं छायावाद (भाव) और गाँधीवाद (सस्कृति) को अपना लेता हूँ। किन्तु वैसा आत्माओं के लिए इस पृथ्वी पर ठौर ठिकाना नही है। उनका जीवन आठ-आठ आंसू रोने को रह गया है, या सतापो से पृथ्वी की छाती फाडकर सीता की तरह उसी मे जा समाने के लिये। जीवन की इस करुण विडम्बना की आवृत्ति पुन. पुन न हो, इसी लिये मैं युग धर्म के रूप मे समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूँ।"[1]

कितना घोर व्यक्तिवाद है ? वस्तुत. जिन कवियों और आलोचकों ने छायावाद के भीतर जिस महान करुणा और विराट वेदना का निदर्शन किया; वह महान और विराट उतनी ही रही है, जितनी कि इन कवियो और आलोचकों का व्यक्तित्व। ये कवि और आलोचक अपने अह के घेरे से कभी भी बाहर नहीं निकले।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी 'विश्व वेदना' उनके वैयक्तिक वेदना का सस्कार मात्र ही था।

दूसरा प्रश्न है; सौन्दर्य बोध का। क्या इस युग के कवियो और आलोचकों ने जो सौन्दर्य-संधान किया था वह समाज सापेक्ष था ? क्या

१– 'युग और साहित्य' अपनी बात पृ० २

समाज द्वारा मान्य सौन्दर्य-बोध के मानों पर इनका सौन्दर्य-बोध भी खरा उतरता है, अथवा 'करुणा' और 'वेदना' जिस तरह इनकी वैयक्तिक अनुभूति रही है, उन्हीं वैयक्तिक अभिरुचियों के आधार पर ही यह सौन्दर्य-प्रधान हुआ है ? क्या यह सौन्दर्योपासना अपने आप में एक निरपेक्ष साहित्यिक प्रक्रिया है ?

जहां तक कवि के सौन्दर्य-बोध का प्रश्न है यह कवि अथवा कलाकार की किसी भी कृति के निर्माण का आवश्यक अंग है। सौन्दर्य ही उसके कृतित्व को उस रस दशा तक पहुचाता है जिससे कि समस्त द्रष्टा श्रोता अथवा पाठक उस कृति के साथ तद्रूप हो जायें। प्रसाद जी ने तो यह कह कर कि संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेतना है।[1]

अतः साहित्यकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी कृतियों द्वारा पाठकों में सौन्दर्य-बोध का विकास करे।

किन्तु वास्तव में यह सौन्दर्य जैसा कि काडवल ने लिखा है— Aesthetic objects are aesthetic in so for as they arouse emotions, peculiar not to individual one but to associated man[2]

अपना सामाजिक स्वरूप लिए हुए नहीं है अपितु इस सौन्दर्य का व्यष्टिगत स्वरूप ही। यह व्यष्टिजन्य सौन्दर्य यदि कवि की तीव्र संवेदना द्वारा सार्वजनीन बना जाता है तब तो निश्चित ही उसमें समाज में सौन्दर्य-बोध को विकसित करने की क्षमता का संचार हो सकेगा अन्यथा वह केवल दमित कुंठाओं का एक उदात्त श्रेष्ठीकरण बनकर ही रह जायगा।

व्यष्टिगत सौन्दर्यबोध अथवा वैयक्तिक सौन्दर्यानुभूति भी रीतिकाल से लेकर छायावाद के पूर्ववर्तीकाल तक शायद ही कहीं मिलती हो। महादेवी जी ने इस छायावाद की पीठिका ही सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध में मानी है।[3]

इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम बलवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली

१— काव्य और कला पृ० ५।

2— Illusion and reality, p 136

३— हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी पृ० १६४।

कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनायें विद्रोह कर उठी।..... पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्ही रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया । उन्हे नवीन रूप रेखा मे सूक्ष्म सौन्दर्यबोध की आवश्यकता थी जो छायावाद मे पूर्ण हुई।[1]

इस कथन से दो निष्कर्ष निकलते है कि इस काल के कवियों मे यथार्थ चित्रण की ओर अभिरुचि नही थी उन्हे तो केवल सूक्ष्म सौन्दर्यबोध की आवश्यकता थी। यथार्थ चित्रण न करने के कारण ये लोकजीवन से सहज ही दूर हो गए और जनजीवन मे चल रहे संघर्षों के प्रति अनास्थावान। अत. अपने वैयक्तिक अह की केंचुली मे ही लिपटे हुए इन कवियो ने आराम की सांस ली और जो सौन्दर्य-बोध के लिए इन्होने मार्ग अपनाया वह केवल प्रकृति-जन्य था, सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे हो रही हलचलो से इनका कोई वास्ता नही था। अपने लोकजीवन मे इन्हे सौन्दर्य के निदर्शन नही हुए। अतः काव्य केवल वायवी और भावना प्रधानमात्र रह गया और उसमे अपेक्षित बौद्धिकता का उन्मेष नही हो सका । सुमित्रानन्दन पंत ने ऐसा ही माना है।[2]

प्रकृति का सुन्दर रूप ही पंत जी के लिए प्रेरणा-स्वरूप रहा है । यह निश्चित है कि पंत जी ने प्रकृति मे जिस उदात्त और मधुर भाव के दर्शन किए है वे हृदयस्पर्शी है—उन चित्रो मे प्रकृति के प्रति एक सौन्दर्य भाव उद्बुद्ध करने की अपार क्षमता है। किन्तु 'प्रकृति' और 'मैं' तक सौन्दर्य को सीमित कर देना यह तो सौन्दर्य के प्रति एकांगी दृष्टिकोण ही होगा। इस काल के कवियों ने सौन्दर्य के इतर उपादानो की उपेक्षा ही की है;

१— महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि की भूमिका पृ०—९।

२— "साधारणतर, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, प्रकृति का उग्ररूप मुझे कम रुचता है। यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो Nature red in tooth and claw वाला कठोर रूप जो जीव विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खीचता ।

—आधुनिक कवि—पर्यालोचन, पृ० ३

यही कारण है कि छायावादी काव्य युग यथार्थ के साथ साथ नहीं चल सका। प० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने आत्म-पर्यवेक्षण में इसे स्वीकार भी किया है।[1]

अत इन कवियों में यह सौन्दर्य लिप्सा की प्रवृत्ति हमें सर्वत्र दृष्टिगत होती है। उनकी इसी लिप्सा ने उन्हें जनता और उसके संघर्षों से विमुख कर दिया था। प्रकृति की उन्होंने नारी-भाव से पूजा की और अन्य विषयों की भांति नारी का भी अन्य युगों से भिन्न एक काल्पनिक स्वरूप उपस्थित किया गया। पंत जी ने इसे स्वीकार किया है।[2]

किन्तु पन्त जी ने पुन युग-स्पन्दन को अनुभूत किया और वैयक्तिक अनुभूति ने व्यापक रूप धारण किया। वे गुञ्जन-काल में ही धीरे धीरे कल्पना लोक से नीचे उतरते हुए दृष्टिगत होते हैं।[3]

इस भांति सौन्दर्य-लिप्सा हो नहीं रही, कल्पनाओं के विशुद्ध जगत से अब वह विवेक की ओर अग्रसर होने लग गया था। विशुद्ध काल्पनिक सत्य का स्थान भूमि का ठोस सत्य ग्रहण कर रहा था। किन्तु यह आगे की दशा थी, छायावादी युग की नहीं।

१– वीणा और पल्लव विशेषत मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनायें हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे पूर्ण विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी जिसके सिवाय उस समय मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी।—आधुनिक कवि १, पृ० ३।

२– प्रकृति के साहचर्य ने जहां एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना जीवी बनाया वहां दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया ... प्राकृतिक चित्रणों में प्राय मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है- प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।—वही, पृ० १-२।

३– मनुष्य जाति इन वर्षों में कितने ही परिवर्तनों और हाहाकारों में होकर विकसित हो गई है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बिलों में छुपे हुए सांपों की तरह फन उठाकर फुफकार रही हैं।
—मेरा रचना काल 'प्रतीक' हेमन्त-पृ० ४।

इस युग मे तो जैसा ऊपर कहा गया घोर व्यक्तिवादी युग था और जो हमें इस युग मे भी रहस्यवाद के दर्शन होते है वह इसी व्यक्तिवाद का परिणाम है।

छायावाद मे तो कवि कम–से–कम अपने व्यक्तित्व की इकाई तो शेष रखता है। किन्तु इसमे तो वह भी नही है। कवि अपना व्यक्तित्व विस्मृत कर देता है। किन्तु यह विस्मृति का भाव हमे निराला मे नही मिलता। उसका प्रखर व्यक्तित्व अद्वैत का अनुयायी होते हुए भी अपने व्यक्तित्व की इकाई बनाये हुए रखता है।

वस्तुतः छायावाद और रहस्यवाद दोनो आत्मानुभूति की व्यजना की प्रक्रिया स्वरूप ही है। इस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का आधार प्रकृति ही है। कवि अपने मन की नाना अनुभूतियो का प्रतिरूप इस प्रकृति मे ही पाने लगा और अपने हृदय मे उठने वाली भाव-प्रतिमाओ का बाह्य-प्रकृति के साथ, सामजस्य स्थापित कर उनको अभिव्यक्त करने लगा। इस भाव–लोक के सामजस्य मे जब कवि का भावुक मन उस विराटात्मा के साथ तारतम्य अनुभव करने लगता है तब छायावाद और रहस्यवाद की सीमा-रेखा मिलती हुई दिखाई देती है। ये अनुभूतियां विभिन्न प्रकार की हो सकती है, यथा— विस्मय, सम्मोहन, जिज्ञासा, आसक्ति, मिलन, प्रत्यानुराग आदि सूक्ष्म प्रकार की। प्रकृति के विभिन्न माध्यमो से वह स्वात्मा और विराटात्मा के तादात्म्य की व्यजना करने लगता है। छायावाद मे वह प्रकृति मे स्वय अपनी धूमिल अनुभूतिया पाता है— वह चेतनत्व और मानवत्व पाता है। किसी परम रम्य अनन्त रमणीय विराटात्मा के दर्शन नही।

काव्य का यह सात्विक स्वरूप प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के अतिरिक्त इस धारा के अन्य कवियो मे विरल ही देखने को मिलता है।

हमे छायावाद–युग के युग-काव्य मे अनुभूतियो की गहराई के अभाव मे आगे जाकर इसी अहंवाद के दर्शन होते है जो कि व्यक्तिवाद का एक निकृष्टतम रूप है। अधिकतः छायावाद अवैज्ञानिक रूप मे उनके कवियो द्वारा ही विश्लेषित किया गया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं डा० नगेन्द्र को छोडकर जो भी छायावाद को आलोचक मिले वे स्वय छायावादी कवि थे। और कुछ द्विवेदी-युग एवं मध्यकालीन काव्य-मूल्यो से प्रभावित। अतः छायावाद का जैसा निरपेक्ष विश्लेषण अपेक्षित था वैसा हमे बहुत दिनो तक

नही मिल पाया। इन कवियों में से भी कतिपय कवियों ने तो अपने काव्य-ग्रन्थों की भूमिका में ही और कुछ ने फुटकल निबन्धों एवं छोटी मोटी किताबें लिखकर अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों की भांति ही अपने पाठकों को अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न किया है।

डा० एस० पी० खत्री के ख्याति प्राप्त ग्रन्थ 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त' में भी इस सम्बन्ध में जार्ज सेप्टसबरी के भाव ही निरूपित किये गये है।[1]

यहाँ सेप्टसबरी और डा० खत्री की साम्यता बतलाकर अन्य तात्पर्य न होते हुए केवल यही है कि हमारे छायावाद में भी कविगण अपनी वैयक्तिक रुचि प्रधान आलोचना करने लगे। पन्त, महादेवी, प्रसाद, निराला आदि कवियों ने बड़े सवेग की अपनी कविता पुस्तकों में अपने-अपने आलोचना सिद्धान्तों का निरूपण किया है तथा द्विवेदीकाल की कृतियों पर प्रहार। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त भी कतिपय कवियों और लेखकों ने छायावाद की व्याख्या प्रस्तुत की है। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने जो कि स्वयं भी कवि है छायावाद और रहस्यवाद में छायावाद की परिभाषा की है— मेरा विश्वास है कि जिस मानवेतर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की सकुचित सीमा में सम्भव नहीं है, उसकी सर्वव्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों में ग्रहण कर उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर यदि उस पूर्ण तत्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाय तो वही छायावाद होगा।'[2]

१— "प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक साहित्य-क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण विभिन्नता यह है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन युग का कवि (जिसमें युग के काव्यादर्श के अनुसार आलोचक की आत्मा निहित होती थी) केवल कविता लिखता था और उसे आलोचक का आसन ग्रहण करने की स्वतन्त्रता न थी। हाँ, यदि उसकी इच्छा होती तो वह मनोनुकूल कुछ आलोचना-सिद्धान्तों को छदबद्ध रूप में व्यक्त कर सकता था, परन्तु आधुनिक कवि प्रायः स्वच्छापूर्वक आलोचक-आसन ग्रहण कर लेता है, वह अपनी रुचि और पुष्टि में अत्यन्त उत्साहित रहता है।"
—आलोचना इतिहास और सिद्धान्त पृ० २६७

२— छायावाद और रहस्यवाद, पृ० २७ (तृ० स०)

पाण्डेय जी की छायावाद की उक्त परिभाषा का बार-बार मनन करने पर भी उसमें कोई वैज्ञानिक सूत्र हाथ नहीं लगता। केवल दो विरोधी बातें कही गई है.—

(१) आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की सकुंचित सीमा में सम्भव नहीं, और

(२) उसकी सर्वव्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण कर उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण।

इस अव्यक्त व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण का माध्यम क्या हो, चित्र ? अथवा सगीत की लय ? शब्द की सीमा तो सकुचित है ही। अथवा पाण्डेय जी ने शब्द की सीमा को संकुचित बताया हो और अर्थ को व्याप्ति प्रदान की हो।

छायावाद की ऐसी ही अस्पष्ट परिभाषायें बहुत हुई। छायावाद के कई कविगण जो उसके दर्शन और सांस्कृतिक विचारणा से परिचित नहीं थे उन्होंने कई अर्थहीन कवितायें और कविताओं की भांति ही शब्दों का संचयन कर अर्थहीन आलोचनायें लिखी है; केवल प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने ही अपने काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं में अपने काव्य के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रतिपादित किया है जो कि बहुत ही महत्वपूर्ण है। वास्तव में छायावाद की महती सांस्कृतिक भूमि का सर्वप्रथम सांगोपांग विश्लेषण हमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के ग्रन्थों में ही मिलता है। डा० नगेन्द्र ने उसकी मनोवैज्ञानिक भावभूमि प्रस्तुत कर आलोचना को एक नई दिशा की ओर संकेत किया। डा० रामविलास शर्मा ने छायावाद की राजनैतिक और आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत कर श्री नंददुलारे वाजपेयी की भांति ही इसे युग सापेक्ष बताया। किंतु जैसा कि उनकी आलोचना का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है, छायावाद को मात्र एक राजनैतिक और आर्थिक प्रक्रिया मात्र माना और युग की सांस्कृतिक उपपत्तियों को सर्वथा विस्मृत कर दिया जो कि साहित्य के भावी विकास का एक महत्वपूर्ण चरण होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसे 'कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' 'तथा अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली' मात्र मानते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि जिस भांति उन्होंने

१— रामचन्द्र शुक्ल इति०, पृ० ७८४।

तुलसीदास का युग-सत्य और उसकी सांस्कृतिक पार्श्वभूमि में अध्ययन किया था, वैसा अध्ययन वे छायावाद युग का नहीं कर पाये।

छायावाद में व्यक्तिवाद के अंतर्गत इन सब तथ्यों का विश्लेषण करने का तात्पर्य यह है कि छायावादी कवियों के द्वारा निरूपित उनके अपने काव्य-मूल्य भी वैयक्तिक अभिरुचि का प्रतिपादन करते थे तथा इस युग की कविता ने जिन आलोचकों का निर्माण किया है उनमें भी यह व्यक्तिवाद विशेष रूप से समाहित था। इन कवियों की भांति ये आलोचक भी काव्य में अकृत्रिमता, निर्बन्धता, अनुभूति की सचाई और अभिव्यंजना की ऋजुता को ही प्रधानता देते थे। इस युग में न केवल कवियों द्वारा ही अपितु आलोचकों द्वारा भी बौद्धिकता की उपेक्षा की गई और उसके विरुद्ध हृदय पक्ष की प्रतिष्ठापना।

प्रभाववादी ऊहात्मक आलोचना

जो आलोचना युग-सत्य (जिसमें युग की सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक उपलब्धियां भी सम्मिलित है) के मेरुदण्ड पर अवस्थित न होकर केवल भाव जगत को लेकर आगे बढ़ेगी, उसमें साहित्य के स्थायी मूल्यों का अन्त न करने की क्षमता तो होगी ही नहीं। इस काल की आलोचना में हमें बौद्धिकता, विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा अनुभूति, नैसर्गिक संवेदनायें और काव्य-शैली के प्रति विपुल कल्पनाओं एवं अन्य साहित्यिक नियमों के प्रति विद्रोह का आग्रह ही मिलता है। युग-सत्य से पराङमुख होने पर तथा विपुल वायवी कल्पनाओं की सर्जना का स्तवन करने पर स्वभावतः ही काव्य की भांति आलोचना भी ऊहात्मक हो जाती है।

आलोचना के दो तत्त्व अनुभूति और भावग्रहण अनिवार्य है। आलोचक और वैज्ञानिक दोनों में ये दो शक्तियां ही सीमा-रेखा खींचती हैं अन्यथा जिस भांति वह प्रकृति के अणु-परमाणु का विश्लेषण करता है उसी भांति एक आलोचक भी मानव प्रकृति के गूढ़तम तत्वों का। जिसे कि एक कलाकार अपनी समस्त रागात्मक शक्ति से अनुभूत करता है उन अनुभूतियों का अनुभूत कर उनका बौद्धिक रूप से विश्लेषण करता है। किन्तु केवल अनुभूति और भावग्रहण क्षमता एक बार उच्चकोटि के काव्य-निर्माण में तो सक्षम हो सकती है पर उच्चकोटि का आलोचना साहित्य जिसमें कि कृति में विश्लेषण के साथ-साथ युग की समस्त बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का निष्कर्ष

समाविष्ट हो सकें; निर्माण होना असम्भव ही है।

इस युग विशेष की आलोचना पद्धति ने आलोचना की यह सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक समग्रता ग्रहण न कर केवल अनुभूति की क्षणिकता ही ग्रहण की। अनुभूति से ग्राह्य जो सत्य होगा उसकी व्याप्ति और प्रभाव सीमित ही होगा। अतः प्रभावशाली आलोचना केवल हृदय पर पड़े हुए एक क्षण विशेष के प्रभाव को ही प्राथमिकता देता है। कीट्स की प्रसिद्ध कविता (Endymion) से वह प्रेरणा ग्रहण करता है।[1]

प्रभाववादी आलोचक एक साधारण-सी भावगति अथवा अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक उत्तेजना की ओर असाधारण रूप से आकृष्ट होता है। वह क्षणिक भुलावे (illusion) बिना किसी बौद्धिक कारण के अपनी सम्पूर्ण आत्मा से ग्रहण करता है। क्षण और उसकी क्षणिक प्रक्रिया ये ही प्रभाववादियों का सर्वस्व है। आस्कर वाइल्ड ने इन पर व्यंग्य किया है।[2]

इस काल की समालोचना युग और जीवन की समग्रता को न ग्रहण कर केवल क्षण को ही ऊहात्मक रूप से निरूपित करती रही। इस क्षण के प्रभाव को शाश्वत स्वरूप प्रदान करने के लिए उसने वायवी कल्पनाओं और भाषा को कोमलता देकर मन और प्रकृति में नाना सामंजस्यात्मक चित्रों की सृष्टि की और उसे कभी सर्वात्मवाद, कभी उपनिषदों में निरूपित अद्वैतवाद और कभी पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया।

प्रभाववादी आलोचना का उपर्युक्त विश्लेषण इस वर्ग के सभी

1— A thing of beauty is a joy for ever.
अतः सौन्दर्य का एक क्षणिक दृश्य ही उसके लिए 'ब्रह्मानंद' एवं शाश्वत सत्य का स्वरूप बन जाता है। माघ का यह वाक्य द्रष्टव्य है:—
क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।
मा० ३ सर्ग ॥

2— Though the moment does not make the man, the moment certainly makes the empressionist.
आगे आस्कर वाइल्ड ने रोजेटी के इस उक्ति को उद्धृत करते हुए लिखा कि प्रभाववादी आलोचना Moments, monument होती है।
The works of oscarwilde P. 990

आलोचकों म मिलता है, जब वे आलोचना लिखते हैं तब भी ऐसा लगता है कि वे आलोचना नहीं कोई काव्य लिख रहे हो।[1]

पत जी द्वारा की हुई कविता की परिभाषा प्रभाववादी आलोचना का अच्छा उदाहरण है। जैसा कि पहल कहा जा चुका है कि ये आलोचक और कवि 'परिपूण क्षण' को ही महत्व देते रहे हैं। सौन्दर्य विशेष से एकाकार होकर एक नए सौन्दर्य का सृजन करता है। काव्य का यह विश्लेषण मूलत भाववादी है परिभाषा मे जो एक वैज्ञानिक पकड होनी है वह नहीं। आलोचक पत ने कवि पत की तरह ही भाव विभोर होकर कविता की परिभाषा कर दी है। पत वर्ड्सवर्थ के युग की काव्य-परिभाषा से आधुनिक युग के एक प्रगतिवादी पाश्चात्य आलोचक की काव्य-परिभाषा दोनो युगो की आलोचना प्रणाली मे स्पष्ट अतर उपस्थित कर देगी।[2]

यद्यपि पत जी की युगानुसार आलोचना की शैली म भी परिवर्तन हुआ है। वे ऊहात्मक मार्ग से विश्लेषण और व्याख्या की ओर अग्रसर हुए हैं। प्रभाववादी आलोचना से रचनात्मक आलोचना की ओर बढ़ हैं।

इस भाति प्रसाद जी भी आलोचना मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को ही महत्व देते हैं और 'हृदय अनुशीलन' पर जोर देते हैं। यह हृदय अनुशीलन की बात प्रसाद के पूर्व (१९००) हिन्दी मे नहीं कही गई थी।

१- पत जी लिखते हैं—"कविता, हमारे प्राणो का सगीत है, छद कम्पन कविता हमारे परिपूण क्षणों की वाणी है हमारे जीवन का पूर्ण रूप। हमारे अंतरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है, उत्कृष्ट क्षणो म हमारा जीवन ही बहने लगता है, उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम आ जाता है।"

—सु० न० पत–पल्लव की भूमिका–पृ० १२।

मिलाइए That poetry is spontanious overflow of powerful feeling it takes its origin from emotions recollected in tranquility wordsworth preface to lyrical balladors P 25

2- Poetry is rhythmical not translatable-irrational, -snymonbolic, concrete and characteristic by condensed aesthetic affects Illusion and Reality, P 136

इसी हृदय अनुशीलन और वैयक्तिक रुचि प्राधान्य के कारण शुक्ल जी तो प्रभाववादी आलोचना को महत्व नही देते थे।[1]

परन्तु शुक्ल जी स्वय इस प्रभाववाद से नही बच सके और उन्होंने भी इस प्रभाववाद का आश्रय लिया। अपने 'भक्त कवि तुलसीदास' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ मे ऐसे कई स्थल मिल जाते है जहा शुक्ल जी एक आलोचक न रहकर प्रभाववादी ढग से तुलसीदास की विशेषताए चित्रित करते है—

'रस मीमासा' नामक ग्रथ मे तथा 'चिन्तामणि' मे भी काव्य का विश्लेषण करते हुए शुक्ल जी इसी शैली का उपयोग करते हैं।[2]

वास्तव मे यह प्रभाववादी ही स्वरूप था जबकि सिद्धातो का विवेचन विश्लेषणात्मक न होकर सश्लेषणात्मक किया गया है।

उद्भव, विकास और अन्विति

छायावादी आलोचना पद्धति का उद्भव 'इदु' मासिक के साथ ही मानना होगा। जन-जीवन मे प्रसाद के पूर्व ही भावना प्रधान विचारधाराओं

१— बात यह है कि इधर अभिव्यजना का वैचित्र्य लेकर 'छायावाद' चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यजक समीक्षा (Impressionist criticism) का फैशन बंगाल होता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा मे कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव का आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नही। .. कोई यह नही पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिन्तन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेक लिया।

--हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६२६।

२— कोसो तक फैले कड़ी धूप मे तपते मैदानो के बीच एक अकेला वृक्ष दूर तक छाया फैलाये खड़ा है। हवा के झोंको मे उसकी टहनिया और पत्ते हिल-हिलकर मानो बुला रहे है। हम धूप मे व्याकुल होकर उनकी ओर बढ़ते है।

—रस-मीमासा, पृ० १६।

का श्रीगणेश हो चुका था। युग चिंतना स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रही थी। अतः काव्य मे स्थूल तत्वो का निष्कासन हो रहा था और सूक्ष्म जीवन-मूल्यो की संस्थापना। प्रसाद के पश्चात् पंत, निराला और महादेवी की सूक्ष्म और अंतदर्शी चिंतना ने छायावादी आलोचना-शैली को दर्शन का एक सशक्त आधार दिया जिसके द्वारा उसने अपनी एक वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की और स्वयं का इतिहास का एक आवश्यक चरण बतलाया। डाक्टर रामविलास शर्मा ने छायावाद के उद्गम और विकास की एक इसी प्रकार की ऐतिहासिक आवश्यकता बतलाई है।[1]

छायावाद और उसकी आलोचना पद्धति म प्रेरणा-स्वरूप यह व्यक्ति ही है, इतर नही। छायावादी आलोचना पद्धति म इसी व्यक्ति का अध्ययन है। जिसमे आलोचक स्वयं प्रभावित है और उस प्रभाव का हृदयग्राही ढंग मे सश्लेषण ही आलोचना है। इस प्रकार के आलोचकों ने न तो किसी भी कृति को युग सत्य के पादव म रखकर परखने का प्रयत्न किया और न निणयात्मक ढग से काव्य और उसके विभिन्न उपादानो का विश्लेषण कर कृति का मूल्याकन किया। अतः छायावादी आलोचना म समीक्षा का एक विशिष्ट तत्व ही— आलोचना के लिए कृतिकार के व्यक्तित्व का अध्ययन और उसके साथ-साथ आलोचक की भाव प्रवणता क अतिरिक्त आलोचना के अन्य

१— तीनो युगो म ही यान्त्रिक पूजीवाद म उत्पन्न होन वाली विषम परिस्थितियो के प्रति घोर असन्तोष है इसके साथ ही पूंजीवाद ने पुरानी शृंखलाओ को कमजोर कर आत्मविश्वासी पथिको के लिए नय सगठन और नई प्रगति का माग निश्चित किया उसकी चेतना भी इन कवियों म विद्यमान है। सामाजिक पृष्ठभूमि म समानता है तो समाज को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य म भी समानता होना अनिवाय है।

दरबारी कवि ने जय साह क हुकुम म प्रेरणा पाई थी, भक्त ने 'इष्ट तरुण अरुण वारिज नयन' से परन्तु छायावादी युग म वह परम्परा टूट गई। कवि अब भक्त नहीं है न वह नराधीन का चाटु चाकर ही। अपनी कविता का स्रोत तो वह स्वयं है, अथवा किसी रहस्यमयी शक्ति की व्यजना का माध्यम बनकर स्रोत को वह अलौकिक बना देता है।"

—संस्कृति और साहित्य, छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।

गम्भीर तत्वों को अपनी आलोचना की कृतियों में कोई स्थान नहीं मिला। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और डाक्टर नगेन्द्र को छायावादी आलोचक अथवा इस युग के कवियों द्वारा निर्मित सृजन मानना भूल ही होगी। डाक्टर नामवर सिंह ने इन आलोचकों को केवल इसीलिए छायावादी आलोचक मान लिया है कि ये इस युग से होकर आये हैं। वस्तुतः छायावादी आलोचना शैली की जो विशेषतायें हैं जो प्रभाववादी पद्धति और संश्लेषणात्मक प्रणाली न तो वाजपेयी में देखने को मिलती है और न डाक्टर नगेन्द्र में ही। प्रारम्भ से ही इन दोनों आलोचकों ने आलोचना में निर्णयात्मक प्रणाली का ही आश्रय लिया जिसमें युग-सत्य और कृति में निरूपित जन-मांगल्य तथा तदनुरूप उसकी रस-संचारिणी शक्ति को ही महत्त्व दिया।[1]

उपर्युक्त कथित आलोचकों में केवल शान्तिप्रिय द्विवेदी के अतिरिक्त अन्य कोई भी समीक्षक प्रभाववादी नहीं था। न इन समीक्षकों में प्रभाववादी आलोचना-शैली के दर्शन ही होते हैं। इन आलोचकों ने तो प्रारम्भ से ही काव्य में निर्णयात्मक शैली को अपनाया था।

छायावादी आलोचना की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आलोचना में कवि के व्यक्तित्व को भी आलोचना का एक निर्णयकारी तत्व बतलाया। काव्य में जीवन की समग्रता की अवतारणा के अभाव में उसके किसी मधुरिम क्षण की व्यंजना का चित्रण भी अपना महत् स्थान रखता है। कवि में जिस भांति अपने युग की समग्र सांस्कृतिक गरिमा और युग की स्पन्दनशीलता को अनुभूत करने की क्षमता होनी चाहिये, ठीक उसी भांति आलोचक में भी आलोच्यकृति में निरूपित भाव-गरिमा को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात करने की शक्ति होना अनिवार्य है। परम्परा-ग्राह्यता यदि युग-सत्य के

१— डा० नामवर सिंह के ये शब्द कि— इन समीक्षाओं ने (प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की समीक्षा) अपने युग के साहित्य सृजन का ही मार्ग प्रशस्त नहीं किया बल्कि अनेक आलोचकों को भी जन्म दिया। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि क्रमशः समीक्षक छायावादी कवियों की ही उपज हैं। इन्हीं कवियों से प्रभावित होकर हिन्दी में ऐसी समीक्षायें आईं जिन्हें प्रभाववादी कहा गया।

—हिन्दी के आलोचक पृ० २७३

सन्दर्भ में न हो तो काव्य की गत्यात्मकता सहज ही नष्ट हो जायेगी। प्रभाववादी आलोचकों ने इस सत्य को परखा था। मवयी प्रसाद, निराला, पन्त महादेवी वर्मा, गंगाप्रसाद पाण्डेय, प० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि साहित्यकारों के समीक्षात्मक सिद्धान्त इन्हीं रूपों में शुक्ल जी के काव्य सिद्धान्तों से पार्थक्य लिए हुए हैं। उपर्युक्त कथित आलोचकों के पूर्व हिन्दी आलोचना में काव्य के इस सत्य की अवहेलना ही की गई थी।

छायावादी आलोचना प्रणाली का विकास कुण्ठित

हिन्दी साहित्य में छायावादी आलोचना प्रणाली का विकास वैसा नही हो पाया जैसा कि पाश्चात्य देशों में। वर्ड्सवर्थ के Lyrical Ballades की भूमिका और कालरिज का Biographia Literia जैसा आलोचनात्मक निबन्ध इस युग के लेखकों ने कम ही दिया। निराला जी ने पन्त के पल्लव पर विस्तृत आलोचना लिखी। उसमें भी कालरिज जैसा विनम्र और बौद्धिकता के ही दर्शन होते हैं।

निराला जी ने अपने 'प्रबन्ध-पद्म' में आलोचना की अनेक पंक्तियों का संकलन किया है। हिन्दी में सूर के बाद काव्य को संगीतमयता प्रदान की, वह निराला जी ही ने। इसी आलोचनात्मक पुस्तक में उन्होंने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में हिन्दी के नाद-संगीत का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है। पाश्चात्य साहित्य में इस तत्व को केवल शोपनहावर ही परख सका था। इसी में वे कला की व्यापकता का विश्लेषण करते हुए लिखते है— कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है।

हिन्दी अथवा संस्कृत के परवर्ती आलोचकों में इस व्यापकता का अभाव था। आचार्य शुक्ल ने केवल निरपेक्ष बिम्ब ग्रहण की सृष्टि ही को काव्य का एक आवश्यक अंग बतलाया था। छायावाद काल में जिन प्रतिमाओं की सृष्टि हुई वे अधिक संवेदनीय और अनुभूतिजन्य थी। निराला जी ने इस बिम्ब-ग्रहण को और भी व्याप्ति प्रदान की। वे इसी ग्रन्थ के 'काव्य में रूप और अरूप' शीर्षक निबन्ध में लिखते है— 'प्रायः सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावनापूर्ण सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कुशल है वह उतना बड़ा कलाकार है।"

निराला जी की यह उक्ति ड्रायडन के सूत्र की याद दिला देती है।[1]

ऐसे विश्लेषणों की अपेक्षा निराला जी ने प्रभाववादी आलोचना शैली का ही अधिक आश्रय लिया है। चण्डीदास और विद्यापति की तुलनात्मक आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है। इनकी उक्तियां वैसी ही चमक रही हैं जैसे प्रभात की रश्मि में पत्रों के शिशिर-कण अपने समस्त रंगों को खोल देते हैं। विद्यापति की पंक्तियों का अर्थ बहुत साफ है। अभिसार के समय राधिका की भावना इतनी पवित्र है कि जड भूषणों की ओर ध्यान बिल्कुल ही नहीं रहता, बल्कि भूषण भार से मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें निकालकर फेंक देती है। कितना सुन्दर कहा है।

"ते थल मनिमय हार,
उच कुच मानय भार।"

कुचों में सजीवता ला दी है। प्रबन्ध प्रतिमा ॥

ऐसी आलोचना विशुद्ध प्रभाववादी आलोचना के अन्तर्गत ही आयेगी; इसे अन्य अभिधान देना कम ही समीचीन होगा।[2]

निराला का कथन संश्लेषणात्मक ही है; विश्लेषणात्मक नहीं; जो भावना प्रधान है जिसमें निरपेक्ष आलोचना की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य है। अतः डाक्टर भगवतस्वरूप मिश्र ने निराला, पंत, महादेवी और प्रसाद को सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों के नाम से अभिहित किया है कम ही समीचीन ज्ञात होता है।[3] क्योंकि काव्य में सौष्ठवता

1– Imaging is, in itself, the very height and life of Poetry. —Quoted in the book of C. Day Lewid. —The Poetic Image on Page. 17-18.

२– नग्न सौन्दर्य की ज्योति में अश्लीलता की जरा भी स्याही नहीं लगने पाई है क्योंकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नंगा नहीं करती। पवन के झकोरे से उसका बदन नंगा हो जाता है। एक ओर उसकी विवश लज्जा, जहां तक दूसरे सौन्दर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर इसके नवीन यौवन से सुदृढ़ झलकते हुए अंगों की आनन्द द्युति।"—"प्रबन्ध प्रतिमा" —बंगाल के वैष्णव कवियों का श्रृंगार वर्णन, पृ० १०३।

३– हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास पृ० ४२९-४६५।

का संधान और स्वच्छन्द-विचारणा (वाद रहित विचारणा) किसी आलोचक को सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी नहीं बना देते। इस विधि को तो हम छायावादी अथवा प्रभाववादी आलोचना प्रणाली ही कहना होगा जिसमें तर्क की अपेक्षा कल्पना अधिक है, सार्वभौमिक विचारों की अपेक्षा वैयक्तिक भावनाओं का आग्रह अधिक है। लेखक रचयिता की कृति का तर्क और विवेक से आलोक में न परखकर उसके मात्र क्षणिक प्रभावों को ही देखता है।

इस भांति प्रभाववादी आलोचना हमारे यहां केवल वैयक्तिक रुचि और भाव प्रधान मूल्यों से आगे नहीं बढ सकी। इस प्रकार की आलोचना में न तो हमें कवि के व्यक्तित्व का ही एक सम्यक विश्लेषण मिला और न विवेकजन्य निर्णयात्मक मूल्यों की ही स्थापना। आवश्यकता तो इस बात की थी कि छायावादी आलोचना के द्वारा आलोचना जगत में कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से आलोचना होकर उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों और उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का समन्वयात्मक रूप में विश्लेषण होकर हिन्दी में अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे जाते जिससे कवि और आलोचक दोनों की संवेदनशीलता का समन्वय और उसका आस्वादन करने में हिन्दी का लब्ध पाठक समर्थ होता। प्रभाववादी आलोचना की दिशा में जो थोड़ा बहुत कार्य हुआ वह सर्वश्री प० शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि के द्वारा ही हुआ है। हां, कतिपय लेख प० हजारीप्रसाद द्विवेदी के जैसे कि मनोहर मुरली लमु बजावे आदि। प० जानकी वल्लभ शास्त्री के कुछ समीक्षात्मक निबन्ध भी इसी कोटि में आते हैं। किन्तु प० हजारीप्रसाद द्विवेदी वस्तुतः प्रभाववादी आलोचक नहीं हैं, वे तो एक स्वतन्त्रचेता समीक्षक ही हैं।

प० शान्तिप्रिय द्विवेदी

प० शांतिप्रिय द्विवेदी छायावादी आलोचना-शैली के प्रतिनिधि आलोचक हैं। छायावादी आलोचकों की समस्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ उनमें विद्यमान हैं। प० शांतिप्रिय द्विवेदी ही हिन्दी के प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना के लिये काव्य की शास्त्रीय पद्धति को अस्वीकार करके उसे निबन्ध मार्ग पर लाकर खड़ा किया। उन्होंने ही इस बात को सर्वप्रथम स्वीकार किया कि काव्य को मापने के लिए कुछ प्राचीन शास्त्रीय प्रतिमान नवीन

काव्य का मूल्यांकन करने में अक्षम है। काव्य को मापने के लिए मस्तिष्क का ज्ञान अपेक्षित न होकर हृदय की संवेदनशीलता की ही अधिक आवश्यकता है। पं० शांतिप्रिय जी अपनी प्रारम्भिक आलोचना कृतियों से लेकर 'ज्योति-विहग' तक बराबर इसी बात पर बल देते आ रहे हैं।[1]

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० भगवतस्वरूप मिश्र ने क्रमशः अपने 'नया साहित्य, नए प्रश्न' पृ० २७ और 'हिन्दी आलोचना और उद्भव और विकास' में पं० शान्तिप्रिय जी को साहित्यिक समीक्षकों तथा सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों की श्रेणी में रखा है। वस्तुतः यह कुछ असमीचीन-सा प्रतीत होता है। डा० भगवतस्वरूप मिश्र ने तो अपने 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास' में सैद्धांतिक रूप से तो सौष्ठववाद अथवा स्वच्छंदतावाद पर कोई प्रकाश नहीं डाला; किन्तु डा आचार्य नन्ददुलारे जी ने इस वर्ग की समीक्षा का सैद्धांतिक विश्लेषण किया है।[2]

नीचे टिप्पणी में आचार्य नन्ददुलारे जी ने लिखा है—शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-व्यंजक उद्भावनाएं भी इसी श्रेणी में समझी जानी हैं।[3]

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी में सांस्कृतिक और दार्शनिक आकलन और 'तटस्थ ऐतिहासिक भूमिका' की अपेक्षा आचार्य जी द्वारा टिप्पणी में कही हुई बात 'आत्म-व्यंजना' अधिक मिलती है। उनकी इस आत्मव्यंजना प्रणाली के कारण ही वे किसी भी कवि अथवा उसकी कृति का निरपेक्ष मूल्यांकन

१— शिशु के मन में रमने के लिए जैसे वात्सल्य की आवश्यकता होती है वैसे ही कविता को अपनाने के लिए भी। शास्त्रों के शासन में धर्म के मर्म की तरह काव्य का भाव भी लुप्त हो जाता है। रस सिद्ध कवि की कविता के लिए समीक्षा भी रसात्मक ही होनी चाहिए।

ज्योतिविहग, पृ० १११।

२— इसी नवीन दिशा में नए समीक्षकों ने कार्य आरम्भ किया। इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं; जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के साथ, रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है।

—नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ० २७।

३— वही, पृ० २७।

करने में असम रहे। फलत उनकी आलोचना अनुभूति प्रधान हो जाती है। यही कारण है कि उनकी चिन्तना पूर्वाग्रही होने के कारण पत जी के व्यक्तित्व के साथ-साथ परिवर्तनशील हो रही। 'तटस्थ और साहित्यिक' समीक्षा के लिए जिस दृढ और स्थित प्रज्ञ व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है वह व्यक्तित्व प० शान्तिप्रिय जी की कृतिया मे कम ही देखने को मिलता है। यह दृढ और स्थित प्रज्ञ व्यक्तित्व जो कि तटस्थ और साहित्यिक समीक्षा का अनिवाय अग है। हिन्दी मे हमे प० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर नगेन्द्र, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० केसरीनारायण शुक्ल आदि म ही मिलता है।

पडित शान्तिप्रिय द्विवदी अपनी आत्माभिव्यजक प्रणाली के कारण ही स्वतन्त्रचेता आलोचकों की भांति काव्य अथवा आलोचना मे स्थिर मूल्यों का निर्माण नही कर सके। वे अपनी "ज्योति विहग" कृति में लिखते हैं।[1]

छायावाद के लिए आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि ने स्थिर शास्त्र का निमाण किया है— छायावादी काव्य का ही नहीं अपितु, समग्र साहित्य क मूल्यांकन के मानो मे आज इन स्थित प्रज्ञ आलोचकों द्वारा स्थिरता आरही है।

प० शान्तिप्रिय जी मूलत प्रभाववादी आलोचक होने के कारण मानो की स्थिरता के स्थान पर मानो की क्षणिकता जो कि विवेक सम्मत न होते हुए भाव सम्मत होती है सदा महत्व देते रहे हैं। पत जी क 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या काव्य के पूव वे छायावाद के अनुरागी हैं और इनके प्रवाह मे आते ही व प्रगतिवाद के अनन्य भक्त बन गये।[2]

१— मध्य युग की कविताओं को निरखने परखने के लिए ब्रजभाषा म रीति-शास्त्र है। छायावाद की रचनाओं के लिए वैसा कोई स्थिर शास्त्र नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि उसकी कला कविता की तरह ही, बाह्य नहीं आन्तरिक है। उसम भावों का मानसिक प्रक्रिया (मनोवृत्यात्मक गतिविधि) है। पृ० १०९। 'ज्योति विहग'

२— हमारे साहित्य मे पत नव युग का बीजारोपण कर रहे हैं, अन्य कवि उसके समारोह का गान कर रहे हैं। अभी पत का कण्ठ गम्भीर ह मुखरित नहीं, इसीलिए वे युग का मन्त्र सूत्र दे रहे हैं, युग-संगीत नहीं।

उक्त कथन को द्विवेदी जी ने गद्यात्मक विचार न कह कर उनकी अस्थिर धारणायें ही कहेंगे। न तो उन्होंने इसमें तटस्थ होकर युग-संगीत का ही विश्लेषण किया और न ऐतिहासिक भावभूमि में छायावाद और प्रगतिवाद के सचरण को ही परखा। इन सबका मूल कारण यही है कि उनके आलोचना के प्रतिमान छायावाद की तरह ही धुंधले और अस्पष्ट थे—उनमें काव्य के प्रति जो वस्तुनिष्ठ आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपेक्षित है, उसका सर्वथा अभाव था। यही कारण है कि उनके उपर्युक्त विचार भी जिसमें आगे चलकर, वे 'गाँधीवाद' के प्रति भी प्रश्नोन्मुख है, स्थिर नहीं रह सके।

पं० शान्तिप्रिय जी को तो जहाँ भी जीवन का तारल्य और भावों की विशुद्ध पंखुरियों की सुवास मिली चाहे वह क्षण भर के लिए ही अपनी विशेषता रखती हो, उन्होंने उसका स्तवन किया है। पर यह सुवासित पंखुरी वही होना चाहिए जो मानव-जीवन में रस का सचार करने में सक्षम हो। विशुद्ध कला को—केवल सुन्दरता को उन्होंने कभी नहीं सराहा है।[1]

अपनी विशिष्ट शैली में भी पंडित जी ने छायावाद के कितने ही गूढ तत्वों का बड़े ही मार्मिक ढंग से उद्घाटन किया है जो उनके पूर्व नहीं हुआ था। छायावाद को उसी ढंग से यदि किसी ने सर्वप्रथम विवेचित किया है तो वे पंडित जी ही है। उनकी प्रारम्भिक पुस्तकों के पश्चात् तो यह विवेचन और भी गंभीर होता गया।[2]

अभी जो कवि युग को संगीत दे रहे हैं उनकी स्वर लिपियाँ छायावाद की ही है, प्रगतिशील युग की नहीं। युग जब जीवन में मूर्त होकर बोलेगा तब उसके संगीत की स्वरलिपि भी उसी के कंठ में बन जायेगी। —युग और साहित्य, पृ० २००।

१— . . . कला की सार्थकता केवल सुन्दरता में नहीं है, बल्कि उसके मंगल-प्राण होने में है। —संचारिणी, पृ० ९०

२— छायावाद में रूप और अरूप का संयोजन है। शृंगारकाव्य में जबकि जड़ सौन्दर्य है, छायावाद में चैतन्य स्वरूप। सगुण काव्य में भी यही चैतन्य स्वरूप है, किन्तु उसका आलम्बन है व्यक्ति, लोकोत्तर व्यक्ति जब कि छायावाद का आलम्बन है प्रकृति— समस्त सृष्टि. . . . . सर्वसं

पं० शांतिप्रिय जी का यह निर्णय बड़ा ही सटीक है। छायावादी युग की अनुभूति उनमें अपरिमेय रूप से विद्यमान है। यही कारण है कि उनकी आलोचना में छायावाद का जो विस्तृत विश्लेषण मिलता है चाहे वह भावगत ही क्यों न हो उसमें ऐसे स्थल विरल ही होंगे, जहाँ पर कि कोई आलोचक अपना मत वैचित्र्य प्रकट करे।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

छायावादी आलोचकों में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ही ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने परिमाण में सबसे अधिक लिखा है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति ही आप में *छायावादी आलोचना की समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं।* जहाँ पं० शांतिप्रिय जी केवल पंत जी से सर्वाधिक प्रभावित हैं वहाँ श्री पाण्डेय जी समस्त छायावादी और रहस्यवादी (आधुनिक) कवियों में तथा इस युग विशेष से अत्यधिक सम्मोहित हो उन्होंने लिखा है।

पहले गोस्वामी तुलसीदास ने 'सियाराम मय सब जग जानी' इस ओर भी निर्देश करा दिया था। छायावाद ने जो भाव विस्तीर्णता दी यह विस्तीर्णता प्रदान करने में छायावादी भी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति अपने युग में 'काव्योत्कर्ष' है।

युग और साहित्य, पृ० २१–२२

— वस्तुतः छायावाद युग-चेतना का प्रतीक है— अखिल जीवन के विकास का स्वर-सन्धान अथवा माध्य है। मनुष्य और शेष प्रकृति के बीच जिस साहचर्य, सौहार्द तथा सम्बन्ध की छाया-युग ने स्थापना की वह अद्वितीय होने के साथ इस भौतिक विज्ञानी युग में चेतन की विज्ञान की प्रतिष्ठा का द्योतक, समर्थक और सजग प्रहरी है। दुःख है कि इस काव्य का व्यावहारिक उपयोग तथा सम्यक् समालोचन अभी तक नहीं हो सका। अन्यथा विश्व के विचारक तथा साहित्य पारखी इसकी प्रशंसा करते कभी न थकते। इस पयस्विनी के भगीरथ की दुंदुभि दुनियाँ में बज चुकी है। कुछ भी हो अब समय आ गया है जब कि इस बात की घोषणा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य का वह युग इस युग के विश्व-काव्य में श्रेष्ठ और सुन्दरतम है। निस्सन्देह बीसवीं शताब्दी की बाजी भारत की है।

—'अवन्तिका', मार्च १९५४।

पाण्डेय जी का उपर्युक्त उद्धरण चाहे अपने आप में शत प्रतिशत यथार्थता न लिए हो, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डेय जी छायावाद के कितने बड़े भक्त हैं। वे अपने लेखन के मांगलिक अर्थ से लेकर आद्यावधि तक छायावादी विचारधारा के अनन्य उपासक रहे। अतः उनके साहित्यालोचन के मान भी छायावाद से ही उद्भूत हैं। जीवन की सम्पूर्णता से पलायन कर किसी क्षण विशेष की शरण में जाना और उसी में जीवन का सम्पूर्ण सौन्दर्य परिलक्षित करना। यह क्षण दार्शनिकों का Time and space न होकर भावनामय और सौन्दर्यमय है जिसकी अभिव्यक्ति काव्य का स्वरूप धारण कर लेती है। वे लिखते हैं— 'जीवन में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जो दैनिक साधारण क्षणों में भिन्न होते हैं; क्योंकि ऐसे क्षणों में हमारा जीवन साधारण पार्थिवता के धरातल से ऊपर उठकर उस अपार्थिव जगत में विचरण करने लगता है जिसका एक अंश हमारा यह भौतिक जीवन है। उस समय भौतिक अभाव एवं शारीरिक सन्ताप अपना अस्तित्व खो देते हैं। उस समय 'रोटी का राग', 'क्रान्ति की आग' का कुछ स्मरण नहीं रहता। ······ ऐसे ही क्षणों की सृष्टि साहित्य है।[1]

पाण्डेय जी के ये तर्क सर्वथा निरपेक्ष हैं, जीवन और जगत की सापेक्षता को लेकर न चलने वाले साहित्यालोचन के ये मानदण्ड साहित्य का मूल्यांकन करने में सर्वथा अक्षम हैं। पाण्डेय जी इन विशिष्ट क्षणों को साधारण क्षणों से क्यों विभिन्न मानते हैं? ये क्षण क्यों आते हैं? इनका प्रयोजन क्या? क्या ये लब्ध-बोध मानस की आवश्यक प्रक्रिया हैं? इन समस्त प्रश्नों पर पाण्डेय जी निरुत्तर हैं। काव्य और आलोचना की इस गहराई में पाण्डेय जी ने जाने का प्रयत्न ही नहीं किया। साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही रहा। साहित्य की विशिष्टता का मापदण्ड निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं— पहिला, साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और संसार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरा, वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का बल उसे कहाँ तक प्राप्त है और इन दोनों का सामंजस्य उसने किस सीमा तक किया है। साहित्य की विशिष्टता का यही मानदण्ड है।[2]

१– छायावाद और रहस्यवाद, पृ० १०

२– महाप्राण निराला, पृ० २०

यह 'व्यापकता' और 'अधिकार' साहित्य के प्रति वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण नहीं है। वास्तव में किसी भी कृति को परखने के लिए सब प्रथम यह देखना होगा कि कृतिकार युग की प्रगतिशील संस्कृति एवं नवजन्य जन-चेतना का अनुभूत कर सका अथवा नहीं ? उसके युग की एवं उसके पूर्व युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों से उसका मानस बौद्धिक रूप से सचेत है अथवा नहीं ? उसने इस सांस्कृतिक चेतना का आत्मसात कर लिया है ? इन आधारभूत सिद्धान्तों के पश्चात ही शिल्प और परिवेश का प्रश्न उठेगा।

पाण्डेय जी ने केवल कृतियों के रागात्मक पक्ष का ही अपने नैसर्गिक रूप में सश्लेषण कर आलोचक कर्म की इति श्री माना है। आलोचक का कार्य और उसका दायित्व केवल कृतिकार के 'हृदय की व्यापकता', उसके 'अनुभवों की विशालता' आदि का उद्घाटन करना ही नहीं है। वह तो रचनाकार का आलोक स्तम्भ है।

प० नन्ददुलारे जी के शब्दों में— 'एक ओर उसे संसार के श्रेष्ठतम साहित्य के निदर्शनों को अपनी स्मृति में संकलित करना पड़ता है और दूसरी ओर अपने युग की रचनात्मक प्रेरणाओं को अपने व्यक्तित्व का अंग बनाना पड़ता है। इस दृष्टि से उसका दायित्व कवि या स्रष्टा के दायित्व से कहीं अधिक हो जाता है।[1]

आचार्य वाजपेयी जी ने आलोचक के जिन महत् कर्तव्यों और दायित्वों की ओर संकेत किया वह हमें इस श्रेणी के आलोचकों का दृष्टिकोण तो केवल कवि के भाव-तारल्य की ओर ही अधिक गया। और फिर पाण्डेय जी ने तो क्या काव्य का और क्या कथा और आलोचना का, सभी का विश्लेषण उनके स्वयं के अन्तर्मन पर पड़े हुए कुछ विशिष्ट प्रभावों को ही अपनी आलोचना और विश्लेषण का आधार माना है। एक निरपेक्ष आलोचक की भांति उनकी शैली भी वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक न होकर प्रभाववादियों की भांति छायात्मक है।[2]

१– नया साहित्य नये प्रश्न, प० १९

२– सत्य तक पहुंचने के लिए प्रत्येक जीवन की प्रतिप्राण की, प्रत्येक हृदय की बड़ी आकुल इच्छा होती है और सत्य के इसी अनुसन्धान में जीवन की एकता का परिचय भी मिलता है। आलोचक साहित्य के शुभ अनु-

उपर्युक्त कथन के कथ्य की अस्पष्टता की भांति शैली अस्पष्ट ही है जिसे आलोचना शैली नहीं कहा जा सकता।

डेविड डेचेस (Davit Daiches) ने भी अपने Critical Approaches to Literature नामक ग्रंथ में इस प्रकार की आलोचना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है।

"The autobiographical or impressionist approach had been discredited eventually by the facility with which it can be employed by critics of no real intellectual capacity or esthetic (aesthetic) awareness. If the application of neo-classic 'rules' can, as its most extreme, produce rigid and mechanical awarding of marks without any imaginative understanding of the true nature of the work in question the deliberate avoidance of rules can, at the other extreme, produce offensive gush of no critical value whatever."[1]

डेविड डेचेस का यह निर्णय इस प्रकार की आलोचना के लिए ठीक हो या। जहाँ आचार्य शुक्ल ने साहित्य के प्रति एक वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया—स्थूल काव्य का खण्डन किया वहां इन आलोचकों ने साहित्य के प्रति नितांत वायवी आदर्शों का अनुसरण किया। साहित्य के मूल्यांकन के लिए जिस अन्तिम बौद्धिकता और अंतरस्पर्शी प्रज्ञा की आवश्यकता होती है वह वस्तुतः इस श्रेणी के कतिपय आलोचकों के पास ही देखने को मिलेगी। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना का समुचित विकास नहीं हुआ क्योंकि

सन्धान में सारथी का काम करता है। जिस प्रकार सुन्दर, नया से नया रथ बहुत ही बलवान घोड़ों के साथ भी बिना सारथी के निश्चित मार्ग पर नहीं चल सकता उसी प्रकार साहित्य का संचरण भी बिना आलोचक के अनिश्चित ही रहेगा। एक सुगन्धित पुष्प उपवन में खिलता है किन्तु वह स्वयं अपनी सुगन्ध का वितरण नहीं कर सकता, यह काम तो पवन का है।

—छायावाद और रहस्यवाद, पृ० १३७-३८
(श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय)

1— Critical approaches to Literature p. 278.

इन्ही के समकाल म स्वत त्रचेता आलोचको का एक वग प्रकाश मे आ गया था जिसने शुक्ल जी की आलोचना परम्परा को आगे बढ़ाया, शुक्ल जी के पूर्वाग्रहो को समझा और वैसी ही प्रखर प्रज्ञा और पैनी दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन किया । कि तु इसका तात्पय यह नही कि छायावादी आलोचकों की भी एक ऐतिहासिक भूमिका रही है । शुक्ल जी जिस बाह्य दृष्टिकोण को लेकर साहित्य का विश्लेषण किया करते थ, इन आलोचको न इसके विपरीत कवि के व्यक्तित्व और उसक काव्य का एक सम्यक प्रभाव जो कि पाठक पर पडता है उसे ही प्राथमिकता प्रदान की । निश्चित ही यह शुक्ल जी की आलोचना पद्धति के आगे की कडी थी भले ही उतनी सगत और पुष्ट नही हो जो कि उन्होन स्वय निर्मित की थी ।

हिन्दी आलोचना म भी इस युग मे काव्य के परिवेश को लेकर अनेक प्रश्न उठ । पत जी न शब्दो को लेकर तथा निराला न सगीत और छद को लेकर हिन्दी आलोचना के सामन कितने ही मौलिक प्रश्न उपस्थित किए । किन्तु इस आलोचना विशेष की धारा के अतगत इनका विश्लेषण न होकर अन्य धारा के आलोचको ने ही इन प्रश्नो पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किये ।

४

अभिव्यंजनावाद और आलोचना

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक, इटली के विख्यात सौन्दर्यशास्त्री बेनेडेटो क्रोचे थे। क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार उनके अपने जीवन काल मे ही हो गया था और उन्हें अपने युग के अप्रतिम सौन्दर्यशास्त्री के रूप मे स्वीकृति प्रदान हो चुकी थी। उनकी मृत्यु के बाद आज उनकी गणना प्लेटो, भरत, अरस्तु दण्डी, कुन्तक, डीडेरोट, जानसन, वाल्टेअर, काण्ट, शीलर, हीगेल, मार्क्स, फ्रायड आदि के साथ ही की जायेगी।

क्रोचे मूलतः सौन्दर्यशास्त्री थे अतः उन्होंने साहित्य को लेकर अलग से अपने आलोचना-शास्त्र का निर्माण नहीं किया। केवल उन्होंने अपने सौन्दर्यशास्त्र के प्रख्यात ग्रंथ 'Estelica' (Aesthetic) जो कि १९०२ मे प्रकाशित हुआ था मे तथा, अन्य फुटकल लेखो मे ही साहित्य के सम्बन्ध मे चर्चा की है। और उन्होने इसी बात पर बल दिया है कि समीक्षा सौन्दर्यशास्त्र का ही एक अंग है और यह एक व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र ही है क्योंकि इसमे सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों को दार्शनिक अनुशासन के रूप मे अधिक प्रश्रय दिया गया है। अतः साहित्य और समीक्षा के लिए सौन्दर्यशास्त्र के पास ठोस भूमि विद्यमान है।[1]

1— AHistory of Modern Criticism P, 228.
By. Rene wellek.

इस भांति क्रोचे ने आलोचना को सौन्दर्य-शास्त्र में ही समाहित कर लिया है।

आलोचना के इतिहास में पुनर्जागरणकाल, १८ वीं सदी के प्रारम्भ में तथा १९ वी सदी एवं बीसवीं सदी में एक महान भूमिका रहा है। बीसवी सदी में क्रोचे को पाकर एक बार साहित्य दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र में इटली पुनः गौरवान्वित हो उठी।

इटली में जब नवीन शास्त्रवाद परम्परा की स्थापना हो रही थी उसी समय जाम्बतिस्ताविको ने साहित्य में पदार्पण किया। विको (१६६८-१७४४) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Scienza nuora (१७२५) में अपनी साहित्य सम्बन्धी नवीन धारणाओं का प्रस्तुत करते हुए लिखा है।[1]

काव्य की इस नवीन व्याख्या का महत्व क्रोचे से पूर्व किसी अन्य उसक ने नहीं माना था। विको भी वस्तुतः दार्शनिक और सौन्दर्यशास्त्री था। इसी से फलस्वरूप वह काव्य और जनश्रुति में विभाजन रेखा नहीं खींच सका। फिर भी उसने 'Poetic wisdom' की कल्पना की थी जो कि क्रोचे के Intuition के समकक्ष-सा होते हुए भी उतना वैज्ञानिक विश्लेषण लिए हुए नहीं है। विको वस्तुवादी साहित्य का कभी भी स्वीकार नहीं कर सका। होमर और दाँते को उसने केवल वीर युग का प्रतीक ही माना है। विको को अपने युग में कभी भी मान्यता प्राप्त नहीं हुई। केवल उसमें आलोचनात्मक विचारों की फुटकल रूप में यत्र-तत्र चर्चा भर मिलती है। कालरिज के पूर्व वस्तुतः विको का किसी भी अग्रज स्वत्व ने नहीं पाया था। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि विको की सर्वथा अवहेलना हुई। क्रोचे ने स्वयं उसे सौन्दर्यशास्त्र में अपना अग्रज Ancestor and founder of aesthetics माना है।

विको और अपने युग के अतिरिक्त क्रोचे पर जर्मनी के महान दार्शनिक

1- Poetry is resolutely opposed to the intellect associated with the senses identified with imagination and myth poets belong to the early heroic ages of mankind when people spoke a language of metaphor of real signs vico, app rently for the first time, taught that poetry is a necessity of nature, the first operation of human mind Ibid, P 134

काण्ट का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा । काण्ट के Critique of Judgment नामक ग्रंथ का प्रभाव तो विश्व की समग्र साहित्य-समीक्षा पर पड़ा। Critque of Judgment में साहित्य पर अथवा किसी साहित्यकार विशेष पर लगभग नहीं के बराबर लिखा गया है । काण्ट के पत्रों में तथा अन्य निबन्धों में ऐसी कितनी ही सामग्री भरी पड़ी है जिसके माध्यम से साहित्य और कला के बारे में उनकी विचारणा जानी जा सकती है। काण्ट ने अपने उपर्युक्त कथित ग्रन्थ में सौन्दर्यानुभूति के लिए अपने प्रसिद्ध सिद्धांत 'निर्विकार सन्तोष' की सर्जना की है । वह तो इस बात पर जोर देते हैं कि किसी भी विज्ञान, शास्त्र और साहित्य का अस्तित्व तब तक नहीं होगा जब तक उसका कोई विशिष्ट और स्पष्ट उद्देश्य नहीं हो । कला का उद्देश्य यदि केवल आनन्द, प्रेषणीयता, प्रतीति अथवा कोई बौद्धिक विचारों का प्रसरण हो तो वह कला नहीं होगी ; कोई अन्य वस्तु भले ही हो सकती है। काण्ट ने भी अन्य लेखकों की तरह रसास्वादन की सापेक्षता तथा उसकी आन्तरिक सत्यता को स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने किसी जन-सामान्य सार्वजनीन भावना को नहीं माना है। वह तो इस बात में विश्वास रखते हैं कि प्रत्येक सौन्दर्यमूलक आकलन एक आन्तरिक भावना है किन्तु एक सार्वभौमिक पुष्टि होना अनिवार्य है । उसकी कला का अस्तित्व ही वैयक्तिक अनुभूति में है जो कि अन्य व्यक्ति की अनुभूति से भिन्न होती है। काण्ट का सौन्दर्यगत संवेग साधारण भावों से विभिन्नता लिए हुये हैं। यह सौन्दर्यगत संवेग कल्पनागत होता है जिसके लिये कोई निश्चित विचारणा नहीं होती। उन संवेगों में सत्यता की एक बाह्य प्रतिमा होती है जिनमें कला के माध्यम से प्राय: बौद्धिक संवेग तथा अन्य अदृश्य विचारणाओं की भी प्रतीति होने लगती है। कला की यही सर्जनात्मक शक्ति है।

इस भांति काण्ट ने कला और साहित्य से विवेक की अपेक्षा मूलतः अवचेतन की सहज क्रिया को ही महत्त्व दिया जिसमें बौद्धिकता को सर्वथा अस्वीकार किया गया।

क्रोचे की अभिव्यंजनावाद का भी बहुत कुछ ऐसा ही स्वरूप रहा है, इन्हीं ऐतिहासिक भूमिकाओं में से क्रोचे का दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र-अभिव्यंजनावाद का विकास हुआ है।

क्रोचे अभिव्यंजना को ही सर्वेसर्वा मानता है। अभिव्यंजना ही सौंदर्य

है। सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य होता है।[1]

अतः क्रोचे की दृष्टि से अभिव्यंजना भी वही है जो पूर्ण हो तभी वह सौन्दर्य की पर्याय होगी। अभिव्यंजना तो सौन्दर्य की होगी किन्तु सौन्दर्य किसका ? क्रोचे के मत से यह सौन्दर्य किसी वस्तु अथवा तथ्य का न होकर और उससे प्रयुत्पन्न अभिव्यंजना से ही है। वस्तु तो केवल एक भौतिक इयत्ता है उसमें सौन्दर्य कहां ? सौन्दर्य तो उक्ति में ही है। विल्डनकार ने क्रोचे पर लिखते हुए अपने विचार व्यक्त किये हैं।[2]

इस भांति क्रोचे हमारे यहां के वैशेषिकों की भांति वस्तु की इयत्ता स्वीकार न कर केवल उसकी भावगत इयत्ता ही स्वीकार करते हैं। सौन्दर्य भावगत सत्य है और एक मानसिक प्रक्रिया है। सौन्दर्यगत धारणा परिपोषित ही उनका कला-सिद्धांत है। जिस भांति वह सौन्दर्य को अभिव्यंजना का पर्याय मानते हैं ठीक उसी भांति वे प्रातिभ ज्ञान को भी अभिव्यंजना मानते हैं।[3]

प्रातिभ ज्ञान को हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने स्वयंप्रकाश्य अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान के नाम से भी अभिहित किया है। यही प्रातिभ ज्ञान कला-मर्मज्ञता का मुख्य कारण है।

मनोविज्ञान में मन को व्यापारगत अथवा क्रियागत माना है। ये क्रियायें ज्ञानात्मक और सकल्पात्मक मानी गई हैं। क्रोचे ने ज्ञानात्मक क्रिया को दो रूपों में विभक्त किया है। पहला प्रातिभ ज्ञान तथा दूसरा, बुद्धि-व्यवसाय सिद्ध। यह प्रातिभ ज्ञान प्रतिमाओं का विधायक है और बुद्धि व्यवसाय सिद्ध विचारों का। कला प्रातिभ ज्ञान ही है इसी प्रातिभ ज्ञान द्वारा शुद्ध कला की उद्‌भूति होती है।[4]

इसका विश्लेषण करते-करते क्रोचे प्रातिभ ज्ञान को और कला में केवल परिमाण भेद बतलाकर उसे भी प्रातिभ ज्ञान ही बतला देते हैं।[5]

1- We may define beauty as successful expression or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression Aesthetics P 9

2- philosophy or Croce P 164

3- Aesthetic P 7

4- Ibid,p 20 5- Ibid

अत: यह प्रातिभ ज्ञान भी कला है और कला सर्जना भी एक विशेष रूप से प्रातिभ ज्ञान ही है। क्रोचे प्रातिभ ज्ञान और व्यवसायिकात्मक बुद्धि मे एक विभाजन रेखा खींच देते है। और कला को मात्र प्रातिभ ज्ञान जन्य सत्य कहकर उसकी परिधि को सकीर्ण कर देते है।[1]

इस प्रकार क्रोचे ने प्रातिभ ज्ञान को ही कला की जननी माना है। इसे बौद्धिकता से कोई सरोकार नही। कला तो शुद्ध रूप से मानसिक व्यापार है—एक आत्मिक प्रक्रिया है। इस प्रातिभ ज्ञान से अथवा अभिव्यंजना से भिन्न कोई कला नही है। यह अभिव्यंजना भी अन्तर्मुखी अथवा शुद्ध मानसिक है।

अब प्रश्न उठता है कि यह प्रातिभज्ञान अथवा अभिव्यंजना किसकी?

तब क्रोचे कहता है कि यह अभिव्यंजना सौन्दर्य की। वस्तुत: जो वस्तुये है उनमे स्वय मे सौन्दर्य का वास नही होता है, उसका जो प्रातिभ-ज्ञान-गत भाव जिसे कि मन ग्रहण करता है जो इन्द्रियों की अनुभूति के अतीत है वही सौन्दर्य है जिसकी पूर्ण अभिव्यंजना ही कला है। यदि हम हमारे ज्ञान से इन्द्रियगत अनुभूति और उसकी ऐतिहासिक व्यक्ता को निकाल दे तो वस्तु का वास्तविक स्वरूप इसी प्रातिभ ज्ञान के रूप मे शेष रहेगा।[2]

इस भाँति कला मे वस्तु के स्थान को क्रोचे सर्वथा अस्वीकार ही करते है। इसी बात को क्रोचे ने इसके पूर्व भी इस तरह कहा है।[3]

यह वस्तु अथवा द्रव्य मन की विभिन्न क्रियाओं मे रूपित अथवा अभिव्यंजित होकर अपने मौलिक स्वरूप मे न रहकर प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप धारण कर लेती है और उसी की अभिव्यक्ति काव्य अथवा कला है। इस भाँति कला को क्रोचे व्यापारगत ही मानता है। यह आन्तरिकता कल्पना का सम्पर्क पाकर मूर्त हो उठती है। यह प्रत्येक मनुष्य मे विद्यमान है। साधारण मनुष्य के प्रातिभ ज्ञान मे और कवि अथवा कलाकार के प्रातिभ ज्ञान मे केवल परिमाणात्मक भेद ही है।[4]

1– ....Aesthetic P. 4.

2– Ibid P. 30.

3– Matter is understood as emotivity not aesthetical elaborated that is to say impression and form elaboration,i ntellectual activity and express on but there is no passage between the quality of the contant and that of the form."
Ibid. P. 25-26.

4— Ibid. P. 23-24

अत क्रोचे प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव स ही कलाकार अथवा कवि मानता है। यदि ऐसा है तो फिर हम सफल कवि और कलाकार की संख्या क्यों न्यून ही दृष्टिगत होती है ? क्रोचे कहता है इसमे विभिन्नता केवल दृष्टि की ही है। साधारण मनुष्य का प्रातिभ ज्ञान उतना सूक्ष्म और व्यापक नही होता है, कवि अथवा कलाकार जिस दृष्टि से किसी को देखता है मन पर उसके जो अकन होते हैं, साधारण जन केवल उसकी अनुभूतिमात्र करता है तथा उस वस्तु के अन्तस्तल म प्रवेश न कर केवल उसके बाह्य स्वरूप का ही साक्षात्कार करता है। दृष्टि की इसी सकीणता के कारण साधारण मनुष्य और कलाकार की अभियजना म अन्तर है। क्रोचे भी कल आग्लो को उद्धृत करता है।[1]

इस तरह वह प्रातिभ ज्ञान अथवा अभिव्यजना की सीमा मानता है। एक विशेष पारिमाणिक तत्व मानता है जहा वह कलात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

जिन आलोचको ने क्रोचे के काव्य सिद्धान्तो म प्रेषणीयता का प्रश्न उठाया है उनके लिए भी उसका यही प्रत्युत्तर है। प्रातिभ ज्ञान स्थायी भावो की भाँति मनुष्यों मे विद्यमान रहता है।[2]

यही प्रातिभ ज्ञान प्रत्येक पाठक और श्रोता को साधारणीकरण म अथवा प्रेषणीयता मे सहायक होता है। इसके अतिरिक्त कलाकार की सहृदयता और उसके प्रातिभ ज्ञान की व्याप्ति ही इस ओर पाठक, श्रोता अथवा दृष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करती है। कलाकार जिन अकनो का प्रातिभ ज्ञान के माध्यम से ग्रहण करता है व अपने आप मे सावजनीन ही होते है। इस भाँति व्यष्टि और समष्टि की य एक मिलन रेखा खीच देते हैं। प्रातिभ ज्ञान का यह सावजागतिक आकलन का ग्रहण ही कलाकार को सामान्य जन स ऊँचा उठा देता है।

सक्षेप म प्रातिभ ज्ञान मन की क्रिया है। यह अभिव्यजना ही है।

1— Michal Angelo said 'ore Paints not with one s hand but with one s mind Ibid P 16

2— Ibid P 16

मानस द्वारा ग्रहीत अकनों को उपादान के रूप में कल्पना अपने साँचे में भर कर अपनी कृति को मूर्त रूप प्रदान करती है। कला अपनी पूर्णता को तब पहुँचती है जब कि वह प्रातिभ ज्ञान को अपने मौलिक स्वरूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ हो। प्रेषणीयता अथवा साधारणीकरण को वह मनोवृत्ति का व्यापार ही मानता है। अतः वह प्रातिभ ज्ञान की व्याप्ति के आधार पर रस-भोक्ता में जो स्थायी भावानुरूप प्रातिभ ज्ञान का जो स्वरूप विद्यमान रहता है उससे प्रेषणीयता निष्पन्न होती है। अतः प्रेषणीयता मन की बाह्य क्रिया ही है।

क्रोचे का मार्ग सीधा और सरल था— सौन्दर्य का वास हृदय में ही है— हृदय की ऋजुता जो सहज रूप में स्वीकार कर ले वही सौन्दर्य है। यही कारण है कि क्रोचे ने कृति की समीक्षा का मूल किसी धारा विशेष अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण में न मानकर केवल लेखक के व्यक्तित्व के साथ ही उस कृति विशेष को अनुस्यूत कर उसकी समीक्षा करना ही है।

क्रोचे की रुचि इतिहास की ओर भी अधिक रही है। यही कारण है कि उसने अपने सौन्दर्यशास्त्र की विशुद्धता हीगेल, विको और डी सेंकटीस के अध्ययन से से प्रभावित होकर उसे सौन्दर्यशास्त्र में न रख कर दर्शन की परिधि में खींच ले गए। वे अपने हृदयवाद, जिसे चाहे हम अभिव्यंजनावाद अथवा प्रातिभ ज्ञान कह लें, इसके कारण बौद्धिकता और वस्तुवाद का सदैव विरोध करते रहे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद और कार्ल मार्क्स का अर्थशास्त्र' में भौतिकवाद के सैद्धांतिक विरोधाभासों का बहुत ही अच्छा विश्लेषण मिलता है। हृदयवाद को अथवा प्रातिभ ज्ञान को भूल कर थोथे समाजशास्त्रीय ढंग में सौन्दर्य का विश्लेषण करना सौन्दर्य की मौलिकता का अपहरण ही होगा।

क्रोचे को यान्त्रीकरण और तकनीकी अनुसन्धानों में बिल्कुल ही रुचि नहीं थी वह अपने जीवन भर इनका उपहास करते रहे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह डी० एच० लारेंस की भाँति इनका विरोधी रहा हो। व्यावहारिक जगत में उसका विरोध केवल एक ही चीज से था और वह था फासिस्टों से। द्वितीय महायुद्ध में भी वह बराबर फासिस्टों का विरोध करता रहा। कम्युनिस्ट दार्शनिकों से उसकी केवल एक ही बात पर नहीं

बनी कि वह मार्क्स के इस मूल सूत्र में कि "the mode of production of material life determines the social, political and intellectual process of life"[1] विश्वास नहीं रखता था। हृदय की अवहेलना करके वह आगे नहीं बढ़ सकता था।

वह विशुद्ध रूप से मानवतावादी था। वह नेपल्स के एक बहुत बड़े परिवार का सदस्य था—वह उदास और निराश रहा, कैसामिकोला के भूचाल में उसका समस्त परिवार नष्ट हो चुका था—उसकी दैनन्दिनी के पृष्ठ इस त्रासदी (Tragedy) के मुखर साक्षी है। यही कारण है कि उसके जीवन में बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता का ही वास मिलता है—संसार की बौद्धिकता प्रकृति के प्रकोप को नहीं रोक सकती। प्रकृति के प्रकोप से ग्रस्त यह महान सौन्दर्यवादी दार्शनिक यदि बाल सुलभ प्रातिभ ज्ञान की गोद में शरण खोजे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? उसने अपने इसी प्रातिभ ज्ञान की अजस्र शक्ति द्वारा इटली की ही नहीं अपितु विश्व की संस्कृति को परखने का, भले ही वह एकांगी हो एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया जिसका कि संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित ही एक अपना स्थान है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

वक्रोक्ति भारतीय साहित्य-शास्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त है जो आज भी किसी न किसी रूप में हमारे साहित्य और उसको परखने के सिद्धान्तों में विद्यमान है। इस सिद्धान्त के विधायक संस्कृत साहित्य और उसके समीक्षा-शास्त्र के अप्रतिम विद्वान कुन्तक थे। आचार्य कुन्तक के पूर्व समीक्षा-शास्त्र के क्षेत्र में रस, अलंकार, गुण और ध्वनि आदि सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वक्रोक्ति को कुन्तक से पूर्व अलंकार में ही समाहित कर लिया गया था किन्तु उसे ऐसी भव्य व्याप्ति प्रदान नहीं की गई थी जैसी कि कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्ति काव्य जीवित' में प्रदान की। ध्वनि सम्प्रदाय ने वक्रोक्ति जीवितकार के पूर्व अपने तात्विक और वैज्ञानिक विमर्शों द्वारा अवशिष्ट तीनों *समीक्षा-धाराओं—रस, अलंकार और गुण को* अवरुद्ध कर स्वयं की प्रतिष्ठा की थी। ध्वनिकारों ने अपने अप्रतिम चातुर्य से अपनी विचारधारा में इन सभी को समाविष्ट कर लिया था।

1—Literature and Art P I By Karl Marx and Fredrick Engles P 1

भारतीय समीक्षा-चिन्ताधारा साहित्य में आनन्दभाव को लेकर ही प्रवहमान हुई थी। यह प्रवाह किसी न किसी रूप में वेदों से ही चला आ रहा था। यह आनन्द समरसता से ही उपलब्ध हो सकता है अतिवाद से नहीं। यही कारण है कि ध्वन्यालोककार ने समीक्षा-शास्त्र मे साहित्य के विभिन्न अंगों में समन्वय लाने का ही प्रयत्न किया है। अनौचित्य रूप से किसी तत्व विशेष का प्राधान्य साहित्य मे उस रस की सृष्टि करने मे जिसे कि साहित्य दर्पणकार ने ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा दी है, असमर्थ ही होगा। इसीलिए वह कहता है:—

> अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रस भंगस्यकारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥१॥ ध्व० लो० पृ० १९०

इस भांति यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त का आधार स्तम्भ एक तार्किक समन्वयवादी चिन्तना के आधार पर खड़ा किया था। किन्तु वक्रोक्तिवादियों ने इन सिद्धान्तों को साहित्य मे 'चमत्कार', 'वैदग्ध्य' तथा 'वक्रता' की संस्थापनायें खड़ी कर अपने सिद्धान्तों को श्रेष्ठ सिद्ध किया।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवित में कई स्थलों पर की है। संक्षेप मे जिनका तात्पर्य है— विचित्रा, अभिधा वक्रत्व, वक्रभाव-विलक्षण अथवा लोकोत्ति-क्रान्त कथन आदि। बिना वक्रता अथवा विलक्षणता के काव्य के माध्यम से आनन्द की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः कुन्तक ने स्पष्ट कहा है:—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणी ॥
> (व० जी० १/६)

इस भांति कुन्तक अलंकार और अलंकार्य के भेद को नहीं मानते— शब्द और अर्थ की अन्योन्याश्रिता अलंकार और अलंकार्य के भेद को भी मिटा देती है। ऐसे अलंकार्य का वे एक ही अलंकार मानते है। और वह है, वक्रोक्ति। वे लिखते हैं:—

> उभावेतावलंकार्यौ तयौं पुनरलंकृति।
> वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते ॥ १/१०

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कवि कर्म के कौशल से उदभूत चमत्कार और वैदग्ध्य के ऊपर आश्रित कथन ही वक्रोक्ति है।

इस भांति कुन्तक स्पष्टत दो कथन स्वीकार करते हैं। एक तो सामान्य अथवा लोकव्यवहार का और दूसरा कथन काव्य का। शास्त्रीय अथवा लोकव्यावहारिक विचारो तथा भावो की अभिव्यक्ति करने के लिए साधारण मनुष्य जिन सहज और सामान्य शब्दो का अवलम्बन करता है कवि इस सहजता और सामान्यता के मार्ग को न अपनाकर अभिव्यजना की नवीन विचित्र प्रणालियो को अपनाता है —

> लोकोत्तर चमत्कारकारि-वैचित्र्यसिद्धय।
> काव्यस्ययामलकार कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ १/२

इसी सूत्र को महिम भट्ट ने इस भांति कहा है —

> प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धय।
> अन्यथै वोच्यते सो थ सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥२॥

इस भांति वक्रोक्तिवादियो ने काव्य को सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर किया।

कुन्तक अलकारवादियो की भांति शब्दो को ही प्रधान नही मानते। वे तो शब्द और अर्थ दोनो की समरसता मे ही काव्य का सृजन मानते हैं। वे तो 'शब्दार्थो सहितौ' कहकर ही काव्यानन्द की प्रतिष्ठा मानते हैं।

अलकारवादी सभी आचार्य कवि को ही काव्य का विधाता मानते हैं। यह व्यापार अथवा यह विधात्री शक्ति प्रतिभा द्वारा ही प्रस्फुटित होती है। प्रतिभा के आधार पर ही कवि अपने कवि कर्म मे प्रवृत्त होता है। इसीलिए उसने लिखा है —

> अम्लान प्रतिभोद्भिन्न नवशब्दार्थ बन्धुर।

व० जी० १/२५

कुन्तक ने इसी प्रतिभा का विशद विवेचन किया है, यहा तक कि वह इसे एक विशेष कवि शक्ति का अभिधान देते हैं जो पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के सस्कारो से परिपूर्ण होती है। इसके लिए प्रतिभा का उद्बोध आवश्यक है —

प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा कापि
दैवी कवि शक्ति.

(व० जी० पृ० ४९)

इस भांति वक्रोक्तिकार इस प्रतिभा से उद्भूत 'वक्र कविव्यापार' को ही काव्य की संज्ञा प्रदान करता है जिसे 'सहृदय' अपने निरन्तर काव्य के अध्ययन से ग्रहण करता है और आनन्दित होता है।

वक्रोक्ति, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि, काव्य का आज भी किसी न किसी रूप में एक जीवित सिद्धांत है। यों भी आज कल 'वक्रोक्ति' एक विशेष प्रकार के अलंकार के रूप में ही हिन्दी में मानी जाती है। और अब उसे कुन्तक द्वारा प्रतिपादित व्याप्ति-प्रदान नहीं है।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की दशा तो और भी अच्छी नहीं है। शुक्ल जी के पूर्व तो हिन्दी में क्रोचे का स्वर तक सुनाई नहीं देता था और पश्चात् भी उनके सिद्धान्तों पर भले ही खूब लिखा गया, किन्तु उन सिद्धान्तों को लेकर आज भी हिन्दी में कोई एक भी कृति नहीं है जिसका शत-प्रतिशत क्रोचे के सिद्धांतों को लेकर मूल्यांकन किया गया हो।

हिन्दी के आलोचक और क्रोचे के पूर्व एक विवाद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है शुक्ल जी हिन्दी के समीक्षक क्रोचे के सिद्धांतों से सर्वथा अनभिज्ञ से थे। इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिए गये अभिभाषण में उन्होंने क्रोचे के सौन्दर्य सम्बन्धी एवं आलोचनात्मक सिद्धान्तों की प्रथम वार विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की। बाद में यही अभिभाषण 'चिन्तामणि' ग्रन्थ के द्वितीय भाग में काव्य में अभिव्यंजनावाद के नाम से संग्रहीत हुआ। इसी भाषण में उन्होंने क्रोचे के मत का खंडन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि अभिव्यंजनावाद भारतीय काव्य के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त 'वक्रोक्तिवाद' का ही विलायती उत्थान है।

क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' और कुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद' में मोटी समानताएं होने के उपरान्त भी उन दोनों की विचारधाराओं में बड़ा गहरा अंतर है। क्रोचे कवि के प्रातिभ ज्ञान और जनसामान्य के प्रातिभ ज्ञान में केवल परिमाणात्मक अंतर ही देखते हैं जबकि वक्रोक्तिजीवितकार उसमें पूर्वजन्म और

इस जन्म के संस्कारों द्वारा कवि में एक विशिष्ट काव्य-सर्जना की शक्ति का प्राचुर्य पाते हैं। कुन्तक के मत में इस विशिष्ट कवि शक्ति के कारण कवि सामान्य मनुष्यों से भिन्न होता है। क्रोचे वस्तु को महत्व नहीं देता और इस भांति वस्तु अभिव्यंजना की अभेद प्रतिपादित करता है। उसके मत में अलंकार और अलंकार्य अभिन्न है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Aesthetic के नवम अध्याय में वह इस पर व्यापक रूप में विचार करता है और अलंकार और अलंकार्य-वस्तु और अभिव्यंजना के भेद का निषेध करता है।[1]

इस भांति अभिव्यंजना, जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है वह वस्तु मानता है और इसी अलंकार्य का अलंकार अविच्छेद्य अंग। अलंकारवादी भी वस्तु को नगण्य ही मानते हैं, उनके लिए भी वक्र उक्ति ही है। इस भांति अभिव्यंजना ही वस्तु है। वस्तु का महत्व दोनों में नगण्य सा ही है। अर्थ की ख्याति से वस्तु का महत्व नहीं बढ़ जाता। इसी भांति क्रोचे भी अपने प्रातिभ ज्ञान में अरूप संस्कृतियों के रूप में वस्तु का अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लेता है।

कुन्तक और क्रोचे काव्य में कवि-व्यापार को ही प्राधान्य देते हैं किन्तु कुन्तक का यह कवि-व्यापार क्रोचे की मात्र अभिव्यंजना तक सीमित न होकर भारतीय रस-शास्त्र की व्यापकता लिए हुए है। वक्रोक्ति के उपासक कुन्तक रस और ध्वनि को भी अपने काव्य में उचित स्थान मानते हैं।[2]

कुन्तक की वक्रोक्ति इस संकीर्ण चमत्कार की पर्यायवाचिनी नहीं है। यह व्यापक चमत्कार-चमत्कारात्मक रस अथवा काव्यानन्द-की ही सर्वथा अभिव्यंजिका है। और यह सिद्धान्त वक्रोक्ति के व्यापक मौलिक तथ्य के सर्वथा अनुकूल ही है।[3]

कुन्तक अलंकार्य और अलंकार भेद का वहीं निषेध करते हैं जहां अलंकार रससिद्ध हो। अतः रस उनकी दृष्टि में काव्य का एक आवश्यक

1- One can ask oneself how an ornament can be joined to expression externally? In this case it must always remain separate Internally? In this case either it does not assist expression and mass it or it does form Part of it and is not ornaments, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole Aesthetic, p 105

२- भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ३६८। ३- वहीं।

तत्व है। कुन्तक क्रोचे की भांति अतिवादी नही है। क्रोचे तो अभिव्यजना को इतनी असीम बना देते है कि उसके अभाव मे प्रातिभ ज्ञान का अस्तित्व ही नही रहता और न प्रातिभ ज्ञान के अभाव मे अभिव्यजना का।[1]

इस भांति दोनो मे एकत्व चाहे भले ही एक मनोवैज्ञानिक सत्य हो किन्तु काव्यगत सत्य तो निश्चित ही नही। क्रोचे स्वय एक दार्शनिक और सौन्दर्यशास्त्री थे। कुन्तक की भांति वे साहित्यशास्त्री नही थे। साहित्य के जिन विभिन्न अगो का जैसा सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण कुन्तक ने किया है वैसा क्रोचे ने नही। क्रोचे ने तो साहित्य पर सौन्दर्यशास्त्र को लादा ही है।

सौन्दर्यशास्त्री की व्याप्ति का स्वीकार्य निश्चित ही इस बात का प्रतिपादन नही करता कि वह साहित्य को मापने का एक मात्र दण्ड मान दण्ड है। सौन्दर्यशास्त्र व्यक्ति और वस्तु के मनोगत भावो और उनकी प्रक्रियाओ का निरपेक्ष विश्लेषण करने मे सक्षम है— उनके उभय पक्षो सम्बन्धो का वह विश्लेषण कर सकता है किन्तु वह साहित्य की व्यापक परिधि को मापने मे पूर्ण रूप से सक्षम नही होगा। और फिर आज जब कि साहित्य मे परिवेशगत सौन्दर्य का भी तिरोभाव हो रहा हो।

क्रोचे का दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र मे चाहे जितना महत्व रहा हो पर साहित्य के समीक्षाकार के रूप मे आज भी क्रोचे को उतना महत्व नही है जितना टी० एस० ईलियट अथवा सार्त्रे को। उसके जीवन काल मे ईलियट वादियो ने क्रोचे के अभिव्यजनावाद के विरोध मे काव्य को 'व्यक्ति से मोक्ष' कह कर उसके अभिव्यजनावाद और प्रातिभ ज्ञान दोनो को काव्य से बहिष्कृत कर दिया। इस भांति क्रोचे यूरोपीय साहित्य मे भी आलोचकों के रूप मे बहुत अधिक ख्याति प्राप्त नही कर सके।

जहाँ तक वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक का प्रश्न है, कुन्तक विशुद्ध काव्यशास्त्री थे। काव्य के विभिन्न अगोपागो का जितना विशद और मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होने किया आज भी वह किसी-न-किसी रूप मे साहित्य मे विद्यमान है। क्रोचे का दृष्टिकोण सर्वथा भाववादी होने के कारण उसमे काव्य के नूतन विषयो के लिए कोई स्थान नही था, केवल नवीन

1— Aesthetics P. 14

अभिव्यंजनाओं को ही प्राथमिकता दी गई थी। विषय का सर्वथा निषेध न तो कभी सम्पूर्ण रूप से यूरोपीय काव्यशास्त्र ही कर पाया और न भारतीय काव्यशास्त्र ही।

शुक्ल जी का यह कहना कि अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है इस तरह सर्वथा असगत ही है। हाँ, जैसा कि ऊपर निर्देशित किया गया है उनमें कतिपय बाह्य साम्य अवश्य था किन्तु साम्य की अपेक्षा असमानतायें ही उनमें अधिक हैं। न तो कुन्तक ने उतने विस्तार से दार्शनिक और सौन्दर्य सम्बन्धी समस्याओं का ही काण्ट और हीगल के अधिदान शास्त्र के सन्दर्भ में विवेचन किया और न क्रोच ने वक्रोक्ति के भेदों और प्रभेदों पर उतना विस्तार से लिखा जितना कि कुन्तक ने। अतः समीक्षाशास्त्र में जो स्थान कुन्तक को प्राप्त है वह क्रोचे को नहीं मिल सका।

क्रोचे के इस प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजनावाद में नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक उपलब्धियों का कोई स्थान नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है वह अपने युग की यान्त्रिक प्रगति से भी निरपेक्ष था। यह सब उसके विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण का परिणाम न होकर उसकी प्रातिभ ज्ञान की विरलता के कारण ही था। जबकि कुन्तक अपने में काव्य-शास्त्र की समग्र विस्तृत परम्परा को समाये हुए था। सहृदयों का जैसा सतर्क विश्लेषण उसने किया है जो आज भी सत्य है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि क्रोचे का स्थान साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र में नगण्य है। उन्होंने साहित्य में प्रातिभ ज्ञान की प्रतिष्ठा कर अपने युग की थोथी बौद्धिकता को चुनौती दी थी। काव्य द्वारा बौद्धिक व्यायाम न होकर हृदय की अरूप झंकृतियों की व्यंजना है यह व्यंजना युग और काल की भौतिक चिन्तना से प्रभावित न होकर हृदय की मधुरिम रागात्मक शक्ति का ही परिणाम है। सौन्दर्य का आवास किसी वस्तु विशेष में न रहकर हृदय में है— सौंदर्य का सच्चा वास तो हृदय में ही है, उसके लिए इतर पार्थिव प्रश्नों की आवश्यकता नहीं। आपका मन ही वस्तु के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करेगा। यह पहले निरूपित किया जा चुका है कि हिन्दी में सर्व प्रथम अभिव्यंजनावाद की अवतारणा शुक्ल जी के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक निबन्ध से ही हुई। इस निबन्ध के अतिरिक्त भी

शुक्ल जी ने अभिव्यजनावाद पर यत्र-तत्र अपनी सूत्रात्मक पद्धति मे व्यंग्य किए है । जहां शुक्ल जी ने हिन्दी के साहित्यकारो को अभिव्यजनावाद से परिचित कराया वही उन्होने उस पर गहरे प्रहार भी किए । आचार्य शुक्ल मूलतः वस्तुवादी थे । यद्यपि उनका यह वस्तुवाद मार्क्सवादियो की भांति जड न होकर गत्यात्मक था । अतः वे साहित्य मे रूपवाद और अभिव्यजनावाद को किसी भी रूप मे ग्रहण नही कर सकते थे । क्रोचे तो मूलतः भाववादी ही रहे । वे तो प्रत्यक्ष अनुभवों को प्रभावो की शृ खला ही मानते है ।[1]

शुक्ल जी जैसे नीतिवादी आलोचक के लिए यह सर्वथा अमान्य था । वे कला के इस बोध पक्ष को सर्वथा अस्वीकार ही करते है ।[2]

वस्तुतः शुक्ल जी कला के बोध-पक्ष मे हृदय और बुद्धि दोनो का समन्वय करके चलते है— बुद्धि–व्यवसाय–सिद्ध ज्ञान की अवहेलना उनके लिए असह्य ही है । वे क्रोचे के 'प्रभावो की शृ खला' पर प्रहार करते है ।[3]

1— He who takes into himself the image of a picture or of a poem does not experience, as it were, a series of impressions as to this image some of which have a prerogative or a precedence over others. ..Aesthetic **P. 3.**

२– कल्पना और व्यक्तित्व पर एक देशीय दृष्टि रख कर पश्चिम मे कई प्रसिद्ध वादो की इमारतें खड़ी हुई । इटली निवासी क्रोचे ने अपने 'अभिव्यजनावाद' के निरूपण मे बडे कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति ज्ञान को बोध स्वरूप ही माना है । उन्होने उसे स्वय प्रकाश ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि व्यवसाय सिद्ध या विचार प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना मे आई हुई वस्तुव्यापार योजना का ज्ञान मात्र माना है । वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले है । वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गये है । भावों या मनोविकारो तक को उन्होने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नही माना है ।

३– भाव कोई एक अकेली वृत्ति नही है, एक वृत्ति चक्र है जिसके भीतर बोध या ज्ञान, इच्छा या सकल्प, प्रवृत्त और लक्षण ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तिया आती है । अतः भाव का एक अवयव प्रतीति अथवा बोध भी होता है ।

शुक्ल जी द्वारा उठाया हुआ उक्त प्रश्न एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका कोई बौद्धिक समाधान न तो क्रोचे के पास है और न उनके प्रशसको के पास। शुक्ल जी के इस लेख का अध्ययन निरपेक्ष रूप से नहीं हुआ है और जो उनके इस लेख में विरोधाभास खोजते फिरते हैं वे शुक्ल जी द्वारा निरूपित क्रोचे की अनेक असगतियो मे से एक को भी ऐसी सिद्ध नही कर सके जिसमे शुक्ल जी का निरूपण विरोधाभास लिए हुए हो। क्रोचे के प्रातिभ ज्ञान की निरपेक्षता को केवल भारतीय विद्वानो ने ही नहीं अपितु पाश्चात्य समीक्षाकारो ने भी अस्वीकृत किया है। कला और साहित्य को जन-जीवन के विविध क्रिया कलापो से पृथक एक स्वतन्त्र इकाइ मानना तथा कला की सम्पूर्णता इस प्रातिभ ज्ञान मे मानना, एक बहुत बडी असगति ही होगी। फिर इस प्रातिभ ज्ञान का युग देश और काल मे निर्लिप्त होकर प्रतिपादन तो उसकी व्यावहारिकता पर एक बडा सा प्रश्न चिह्न लगा देता है। भाववादी टाल्स्टाय ने जो कि स्वय कुछ अशो मे कलावादी थे अपने 'ह्वाट इज आर्ट' नामक पुस्तक मे विशुद्ध रूपवादियो और कलावादियो को उक्त सन्दर्भ मे बड़े अच्छे उत्तर दिए हैं।[1]

टाल्स्टाय अपने कलावाद मे भी मानव की प्रगति और उसके मगल को ही केन्द्र मानते हैं। क्रोचे जो कि साधारणीकरण जैसे साहित्य की प्रमुख विशेषता को मात्र व्यावहारिक तथ्य कह कर टाल देते हैं। टाल्स्टाय के लिये यह साहित्य का एक निर्णयकारी तत्व है और वे उसे अपरित्याज्य मानते हैं।

शुक्ल जी के 'अभिव्यजनावाद' शीर्षक निबन्ध के अनन्तर क्रोचे और उनके सिद्धान्तो को लेकर हिन्दी के सनही विवेचको से लेकर साहित्य के ममज्ञ पारखियो डा० नगेन्द्र, प० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समग्र आलोचको ने 'अभिव्यजनावाद' के किसी न किसी पक्ष पर अपने विचार अवश्य प्रकट

1— It is not the production of pleasing objects and above all it is not pleasure but it is a means of Union among men, joining them together in the same feelings and indespensable for the life and progress towards well being of individual and of humanity,

—Tolstoy 'WHAT IS ART' P 50

किये हैं तथा उसकी शक्ति और सीमाओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इन सभी निबन्धों में लेखकों ने वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद की असमानताएँ ही प्रतिपादित की हैं, शुक्ल जी द्वारा अभिव्यंजनावाद पर किये गये प्रहारों का, जो कि हमारे भारतीय काव्य-शास्त्र के सर्वथा अनुकूल थे, इन लेखकों ने प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से समर्थन ही किया है।

फुटकल निबन्धों के अतिरिक्त हिन्दी में दो पुस्तकें भी इस विषय पर प्रकाश में आई हैं। सन् १९४० में सर्व प्रथम श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' द्वारा लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक ग्रन्थ प्रकाश में आया। यद्यपि उन्होंने प्रारम्भ में ही कह दिया है— 'अभिव्यंजनावाद पश्चिमी जगत की उपज है किसी भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त से इसका पूरा-पूरा मेल नहीं है।'[1]

उपर्युक्त वास्तविकता के उपरान्त भी सुधांशु जी ने अपनी इस पुस्तक में सूर-तुलसी से लेकर समग्र आधुनिक काव्य को 'अभिव्यंजनावाद' के सकीर्ण प्रतिमानों से तोल ही दिया। वे भारतीय काव्य-शास्त्र के रस और ध्वनि की उदात्त विचारणाओं (जिसमें व्यक्ति और काव्य की व्याप्ति सार्वजनीन और देसकालातीत है) के साथ-साथ अभिव्यंजनावाद को जोड देते हैं। भरत से लेकर आज तक के किसी भी आधुनिक समीक्षाकार ने क्रोचे अथवा सुधांशु जी की तरह मानव-ज्ञान को दो खण्डों में भाव-पक्ष और बोध-पक्ष में नहीं बाटा, दोनों को एक दूसरे का पूरक ही मानते रहे। सुधांशु जी ने तो स्पष्ट लिखा है— 'काव्य के लिए सहजानुभूति ही सर्वस्व है, उसमें बुद्धि का व्यापक हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक—दोनों के लिए समस्या उपस्थित कर देता है।'[2]

समस्या तो तब खड़ी हो जाती है कि जब हम मानव-ज्ञान को दो विरोधी खण्डों भाव-पक्ष और बोध-पक्ष में बाट दें। काव्य अथवा किसी भी कला से ज्ञान-पक्ष का तिरोभाव करने पर न केवल उसका अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाएगा बल्कि वह मात्र प्रलाप के कुछ और नहीं रहेगी। सुधांशु जी को हिन्दी के कई आलोचकों ने शुक्ल-शिविर के आलोचकों में गिना है,

---

१– काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १
२– वही, पृ० २२

वस्तुतः उनके इस विभाजन में कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता और न फिर इन आलोचकों ने ही उन्हें इस श्रेणी में रखने के लिए कोई सबल तर्क दिये हैं। सुधांशु जी कई स्थानों पर क्रोचे के स्वर में स्वर मिलाकर बुद्धि पर मन को अधिमान्यता देते हैं और प्रत्येक इन्द्रिय अन्य अनुभवों का अधस्तन मान ठहराते हैं। यदि हमारे पास संस्कृत से गृहीत समुन्नत काव्य-शास्त्र नहीं होता तो निश्चित है कि वे बुद्धि-तत्व की स्वतन्त्रता भी नहीं मानते। वे लिखते हैं—'मन से भिन्न रखकर बुद्धितत्व की स्वतन्त्र सत्ता को मानने में कई अड़चनें हैं। यदि मन किसी इन्द्रिय की प्रेरणा ही न करे तो बुद्धि का निर्णय करने का सामान कहाँ से मिलेगा? मन की सम्भावना के बिना बुद्धि केवल अपनी सत्ता के बल पर कुछ काम करने में समर्थ नहीं है।'[1]

ऐन्द्रिय ज्ञान के अभाव में मन का अस्तित्व कितना होगा यह प्रयोग की वस्तु है। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि ऐन्द्रिय-ज्ञान के अभाव में मन का विकास कुण्ठित हो जायगा। अतः मूल में मन नहीं है, अपितु ज्ञान ही है। प्रेरणा का प्रश्न तो द्वितीय है। प्रथम और मौलिक प्रश्न तो यह है कि मन किसी वस्तु विशेष की क्या प्रेरणा करे। क्या वह अपने आप में ही विरमित है। ज्ञानेन्द्रियों ने ही तो उसे इतना सक्षम बनाया है जिसके आधार पर मन का स्वतन्त्र अस्तित्व विद्यमान रहता है। गोचर-ज्ञान ही मन का विधायक है। इसी ज्ञान की गरिमा के आधार पर ही भावों की उदारता उसकी विस्तृति और व्याप्ति विद्यमान है। मन से उद्भूत भाव तो मन और बुद्धि-तत्व का एक सश्लेष्य परिणाम ही है। आचार्य शुक्ल ने भावों की उद्भूति के सदर्भ में कई स्थलों पर इस 'गोचरज्ञान' की चर्चा की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—'सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तव रूप खड़ा नहीं होगा।'[2]

आगे प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ सश्लेष्य का नाम 'भाव' है।[3]

१— काव्य में अभिव्यञ्जनावाद, पृ० २८

२— रस मीमांसा, पृ० १६७

३— वही, पृ० १६८

क्रोचे और सुधांशु जी तो काव्य के लिये कल्पनाजनित ज्ञान की ही आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं बुद्धि-जन्य ज्ञान अथवा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान तो मिथ्या है। अपने उक्त सूत्र के समर्थन मे सुधांशु जी ने फ्रास के दार्शनिक श्री डेकार्टे को उद्धृत करते हुए लिखा है.–फ्रेंच तत्व ज्ञानी डेकार्टे ने इन्द्रिय-ज्ञान को सर्वथा शुद्ध नही माना। उनके मतानुसार इंद्रिया हमे धोखा भी देती है। प्रत्येक इन्द्रिय के व्यापार के लिये अनेक प्रतिबन्ध अनिवार्य रूप से लगे हुए है।[1]

पाश्चात्य तत्व-ज्ञानी डेकार्टे बर्कले आदि का Antagonism आज साहित्य की बात तो दूर दर्शन के क्षेत्र मे ही अवैज्ञानिक, अतार्किक और अनैतिहासिक सिद्ध हो चुका है। एन्द्रिय-ज्ञान यदि धोखा देगा तो मन के ज्ञान की बातो पर भी आज के युग मे सहज विश्वास नही किया जा सकता।

आलोचना के क्षेत्र मे भी सुधांशु जी क्रोचे का समर्थन करते हैं। वे आलोचना के लिये भी प्रज्ञा और विवेक को प्रधानता न देते हुए प्रतिभा को ही अधिमान्यता देते हैं। 'प्रतिभा' के अतिरिक्त वे आलोचक मे अन्य तत्वों की प्रगाढ अध्ययन एवं तर्क-क्षमताओ की आवश्यकता प्रतिपादित नही करते हैं, वे लिखते हैं:–प्रतिभा के अतिरिक्त समीक्षक के पास ऐसा कोई साधन नही, जिसके द्वारा वह जीवन की क्रियाओ की जटिलता तथा अनेयता को जानने मे समर्थ हो सके। बुद्धि की सीमा को पारकर प्रतिभा का उदय होता है।[2]

सुधांशु जी ने अंतिम पक्ति जोड़कर अपने कथन की सार्थकता को सिद्ध करना चाहा। वस्तुतः प्रतिभा बुद्धि की सहचरी ही होती है। प्रतिभा की जनक बुद्धि ही है, बिना बुद्धि के प्रतिभा का अस्तित्व नही। प्रतिभा की कल्पना बुद्धि के अभाव मे संभव नही। अतः बुद्धि की परिधि से बाहर प्रतिभा का उदय नही अपितु उसका अस्त ही होगा।

सुधांशु जी के इन वायवी प्रतिमानो पर निष्कर्ष देते हुए दिनकर ने कहा है–'सुधांशु जी ने कला की व्याख्या का जो सूत्र उठाया है वह बहुत कुछ 'कला के लिये कला' वाले सिद्धांत से बंधा हुआ है। यह बात इससे भी समर्थित होती है कि क्रोचे के प्रति वे सहानुभूतिशील और टाल्स्टाय से कुछ खिंचे

१-- काव्य मे अभिव्यंजनावाद, पृ० २४।

२-- जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धात, पृ० ३०।

हुए है। उनका विचार यह दीखता है कि कला मनुष्य के अतिरिक्त आज से उत्पन्न होती है और यह ओज मनुष्य के भीतर निहित काम-भावना एवं उसकी वैयक्तिक रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग बनाता है। यह ध्यान देने की बात है कि क्रोचे के समान वे भी यह नहीं मानते कि प्रतिभा बुद्धि का ही एक अंग या गुण है। वे प्रतिभा को बुद्धि के पर मानते हैं और कहते हैं कि काव्य समीक्षा में बुद्धि का पथ प्रदर्शन सर्वथा चलता नहीं।"[१]

इस भांति सुधांशु जी भारतीय काव्य-शास्त्र के आनन्दवाद को ही अपने काव्य मूल्यांकन का माध्यम बना पाये जिसमें वक्रोक्ति की महान भूमिका है। यह 'आनन्द' पाश्चात्य काव्य शास्त्र के रिचार्ड द्वारा निरूपित आनन्द सिद्धान्त से प्रभावित न होकर वहां के मनोवैज्ञानिक-प्रतिमानों से ही प्रभावित है। यही कारण है कि सुधांशु जी अपने दोनों ग्रंथों 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' और 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' में साहित्य की सांस्कृतिक एवं समाजशास्त्रीय भावभूमि की अवहेलना करके चलते हैं। वे किसी भी कवि अथवा उसकी कृति को युग की पार्श्व-भूमि में रखकर उसका वास्तविक मूल्यांकन करने में अक्षम रहे। दोनों ग्रंथों में वे कलागत सौन्दर्य का निरूपण करते रहे। वे साहित्य के इस सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित रहे कि प्रत्येक युग का काव्य शिल्प-उसका परिवेश युग की वस्तुगत बौद्धिक चिन्तना के अनुसार परिवर्तनशील है। अतएव जहां उन्होंने आधुनिक युग की कलाकृतियों के नए परिवेश का कलात्मक विश्लेषण किया वहां वे इस सत्य का निरूपण नहीं कर सके कि काव्य शिल्प में जो क्रान्ति उपस्थित हुई है उसके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कारण क्या थे? वास्तविकता तो यह है कि क्रोचे के अतिसौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के विश्लेषणात्मक प्रतिभा होते हुए भी सुधांशु जी को प्रभाववादी आलोचक ही रहने दिया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सुधांशु जी को प्रभाववादी आलोचकों की श्रेणी में रखा वह बहुत तर्कयुक्त है।[२]

कदाचित् वाजपेयी जी के इस श्रेणीगत विभाजन का कारण सुधांशु

१— हिन्दी के आलोचक, पृ० २०० ।
शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित ।

२— आलोचना-इतिहास अंक ।

जी का कलावादी होना ही है। सुधांशु जी ने निराला, महादेवी, पंत, बच्चन, दिनकर आदि कवियों का मूल्यांकन भी किया है। इनमें भी उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धांतों को ही अधिक प्राथमिकता दी है।

पंत जी के काव्य का मूल्यांकन करते हुए वे स्पष्ट लिखते हैं : 'अभिव्यंजनावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन पंत की बड़ी विशेषता है।'[१]

किन्तु इन उपर्युक्त तर्कों का तात्पर्य यह नहीं कि सुधांशु जी जीवन के तत्त्व से दूर निरे स्वप्निल कल्पनात्मक अथवा कलावादी हैं। उनके काव्यगत मूल्यों पर क्रोचे का अत्यधिक प्रभाव होने के उपरांत भी वे क्रोचे अथवा ब्रेडले की भाँति सर्वथा कला का स्वर नहीं अलापते। जीवन को उन्होंने बड़ी शक्ति के साथ पकड़ रखा है। वे क्रोचे के सिद्धांतों का वहीं तक उपयोग करते हैं जहाँ तक वे भारतीय काव्यशास्त्र के विरोधी नहीं हैं अन्यथा उन्हें वे अपनी प्रभविष्णु शैली के बिना कुछ कहे मौन रह जाते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाया है। ग्राम-गीतों का मर्म समझाते हुए वे लिखते हैं-'सामाजिक जीवन और काव्य, दोनों को मिलाकर देखने से यह पता चलता है कि समाज की धारणाओं के मध्य में जीवन का प्रवाह किस दिशा में, कितनी दूर तक, जा सका है, परिस्थिति की परवशता के कारण जीवन किस सीमा तक पंगु बना है और कहाँ तक उसने परिस्थिति तथा समाज की रूढ़ियों पर विजय पाई है। ग्राम-गीतों में मानव-जीवन के उन प्राथमिक चित्रों के दर्शन होते हैं, जिनमें मनुष्य साधारणतः अपनी लालसा, वासना, प्रेम घृणा उल्लास, विषाद को समाज की मान्य धारणाओं से ऊपर नहीं उठा सका है और अपनी हृदगत भावनाओं को प्रकट करने में कृत्रिम शिष्टाचार का प्रतिबंध भी नहीं माना है।'[२]

ऐसा लगता है कि प्रस्तुत लेख के विश्लेषणार्थ सुधांशु जी ने न तो पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों से और न पूर्वाग्रही होकर भारतीय काव्य-शास्त्र से ही अपने काव्य-मूल्यों को ग्रहण किया है अपितु उन्होंने सीधे-सीधे बिहार के विमानों वहाँ के जनजीवन में व्याप्त कलागत सत्य को ही ग्रहण किया है।

१- जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, पृ० ३०३।
२- वही, पृ० ३७२।

कदाचित वे राजनीति मे नहीं आते और समीक्षा के क्षेत्र मे इसी प्रकार लिखत रहते तो उनका यही दृष्टिकोण अधिक सशक्त होता और व आचार्य नन्ददुलारे वाजपयी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदा, डा० नगेन्द्र आदि आलोचकों की श्रृंखला म एक कडी और होते।

क्रोचे के अभिव्यजनावाद को केन्द्र मे रखकर जो सन् १९४१ म श्री रामनरेश वर्मा द्वारा रचित 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' शीर्षक ग्रंथ निकला वह इस विषय का मार्ग चिह्न है। ग्रंथ का 'आरम्भ वचन' पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है जो अत्यधिक सुलझा हुआ एव विद्वत्तापूर्ण है। किन्तु ग्रंथ को ध्यान स पढ़ने पर जो प्रतिक्रिया होती है वह ग्रंथ के शीर्षक 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' से कुछ हटकर है। लेखक न उक्त विषय पर विश्लेषण श्रम करके भारतीय और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का ही अधिक प्रतिपादन किया है। कदाचित् लेखक का उद्देश्य विषय को व्याप्ति प्रदान करना रहा हो।

वक्रोक्ति पर लिखत समय लेखक का आधार कुन्तक द्वारा रचित 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रंथ न रहकर डा० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय काव्य शास्त्र' ग्रंथ तथा सुधांशु जी द्वारा रचित काव्य मे अभिव्यजनावाद' ही रहा है। वक्रोक्ति पर तथा उसके ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपाध्याय जी के मूल श्रम पर ही आधारित है। जहाँ उन्होंने वक्रोक्ति द्वारा भारतीय काव्य का मूल्याकन किया है वहा तो उनके मौलिक ग्रंथ का प्रभाव और स्पष्ट हो गया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—वक्रोक्ति का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के लिए कुन्तक ने अनेक उदाहरण दिए हैं। कालिदास का म दाक्रान्ता विवेचनीय है—

मतुमित्र प्रियमविधव विद्धि मामम्बुवाह,[1]

कालिदास का यह सुभग पद्य वक्रोक्ति की व्यावहारिक रूप प्रकट करने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है—

मर्तुमित्र प्रियमविधवे।[2]

इन दोनो मे एक अन्तर अवश्य है कि श्री रामनरेश वर्मा जी न उक्त

१– वक्रोक्ति और अभिव्यजना, पृ० ७६।
२– भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३०९।

पद का लक्ष्मणसिंह जी का अनुवाद न देकर पं० केशवप्रसाद का अनुवाद दिया है।

अभंगापद श्लेष द्वारा उत्थापित वक्रोक्ति का स्वरूप यह है :

खोलो जू किवार, तुम को हो एती बार,
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में[1]

इस वक्रोक्ति (अभग श्लेष) का यह सुन्दर उदाहरण इसके स्वरूप को बतलाने के लिए पर्याप्त होगा:–

खोलो जू किवार, तुम को हो एती बार,
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में[2]

उदाहरण तो विषय प्रतिपादन के माध्यम मात्र होते हैं। समीक्षा में वस्तुत: उदाहरण अपने विषय की पुष्टि के लिए ही उद्धृत किए जाते हैं। अतः यह समझना अधिक उपयुक्त नहीं लगता कि मात्र उन्हीं उदाहरणों को जिन्हें कि किसी अन्य लेखक ने उद्धृत किए हों, कोई अन्य लेखक उद्धृत कर दे और मात्र जिसमें हम उस लेखक की मौलिकता पर प्रश्न चिह्न लगा दें। किन्तु विवेच्य ग्रंथ में ऐसे स्थल भी कम नहीं जहां पर मूल विषय का प्रतिपादन करते समय भी उसी सामग्री का(वक्रोक्ति काव्य जीवित के उन्हीं श्लोकों का) उपयोग किया गया है जो कि उपाध्याय जी द्वारा प्रयुक्त है।

वर्मा जी ने 'वक्रोक्ति का विकास' बतलाते हुए अभिनव गुप्त पर वक्रोक्ति का प्रभाव एवं तत्सम्बन्धित उनकी मान्यताओं का विश्लेषण किया है। पं० बल्देव उपाध्याय ने भी अपने उपर्युक्त कथित 'भारतीय काव्य-शास्त्र' में वक्रोक्ति की विस्तृत विवेचना की है। दोनों द्रष्टव्य हैं।

वर्मा जी लिखते हैं:— उनका (अभि०) कहना है कि भामह की अतिशयोक्ति 'सर्वालंकार-प्रकार' रूप वक्रोक्ति ही है। इसका प्रमाण भामह की यह कारिका है— 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचा त्वलाकृतिः'। वक्रता दो प्रकार की होती है— शब्द वक्रता तथा अभिधेय वक्रता। वक्रता का अर्थ है:— 'लोकोत्तर रूप से अवस्थिति'।[3]

१– वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० ३।
२– भा० सा० शास्त्र, पृ० २९९।
३– वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० ८५,

वर्मा जी के इस विषय-अंश को प० बलदेव उपाध्याय के अभिनव गुप्त के अंश से मिलाने पर कदाचित ही कोई अंतर दृष्टिगत होगा।

उनका (अभिनव गुप्त) कथन है कि भामह अतिशयोक्ति का ही अलंकार प्रकार रूप वक्रोक्ति मानते हैं। इस विषय में भामह की उक्ति नितान्त सन्देहहीन है —

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः वक्रता दो प्रकार की होती है— शब्द वक्रता तथा अभिधेय वक्रता ।[1]

वक्रोक्ति और 'भोजराज' का विश्लेषण करते हुए डा रामनरेश जी ने कुछ पंक्तियों के लिए उपाध्याय जी का ऋण स्वीकार किया है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि 'वक्रोक्ति और भोजराज' पर लिखी गई समस्त सामग्री उपाध्याय जी के विश्लेषण की छायामात्र है।

किन्तु इसके उपरान्त भी वर्मा जी की प्रतिपादन की विधि अधिक व्याख्यात्मक एवं वैज्ञानिक है। उनका विषय प्रतिपादन उनकी विद्वता एवं प्रगाढ़ अध्ययन का बिम्ब है।

जैसा वर्मा जी ने वक्रोक्ति का विश्लेषण करते हुए विषय का विस्तृति प्रदान की है, ठीक उसी भांति 'सौन्दर्यशास्त्र' का ऐतिहासिक विकास निरूपित करते समय भी उन्होंने उसी परम्परा का निर्वाह किया है। साहित्य के प्रतिमान जिन सौंदर्य-मानदण्डों में गृहीत किये जाते हैं वे काण्ट, हीगल, बासांक्वेट आदि की दार्शनिक सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचनाओं में भिन्न हैं। वस्तुतः साहित्य को यह सब इतने विस्तार में ग्राह्य नहीं है। बासांक्वेट ने स्वयं विस्तार में अपने सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका में लिखा है।[2]

अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में वर्मा जी ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास तथा क्रोचे के सिद्धान्तों को भी कोई ११० पृष्ठों में दिया है। उनकी समीक्षा

१– भारतीय सा० शास्त्र, पृ० ३१७

2– The aesthetic theorist desires to understand the artist not in order to interfere with the latter but in order to satisfy an intellectual interest on his own

—History of English Criticism by Saintsbeary

की शैली बड़ी मार्मिक है तथा उनके पास समीक्षा लिखने वाली अत्यन्त परिमार्जित भाषा है। यही कारण है कि ध्यान से न पढ़ने पर वर्मा जी का विवेच्य ग्रन्थ स्वयं अभिव्यंजनावादी काव्य सा एक शैलीमात्र रह जाता है।

क्रोचे पर लिखते हुए उनसे यह अपेक्षा थी कि वे उसकी चिन्तना और उसकी उपपत्तियों का एक विवेचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते। हाँ वे (और उनसे पूर्व ही डा० नगेन्द्र, प० बल्देव उपाध्याय आदि) शुक्ल जी के इस मत को कि 'अभिव्यंजनावाद' वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान नहीं है, सिद्ध करने में सक्षम सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त उनका क्रोचे पर लिखा आलोच्य लेख 'एस्थेटिक्स' का संक्षिप्त सार अवश्य है जो कई स्थलों पर अनुवाद की मोटी त्रुटियां लिये हुए हैं। लेखक लिखता है— 'इतना अवश्य है कि कलाकार की चेतना में बिम्बग्राहिणी विशेषता होती है जो इतिहासकारों और समालोचकों की चेतना में नहीं पाई जाती'।

क्रोचे ने लिखा है।[1]

वर्मा जी क्रोचे की पंक्तियों का अर्थ नहीं समझ सके। क्रोचे का तात्पर्य स्पष्ट है कि कलाकार के लिए इतिहासकार और समीक्षाकार की भांति बाह्य चेतना के आधिक्य की आवश्यकता नहीं, काव्य के लिए बिम्ब-ग्राहिणी चेतना की ही आवश्यकता है।

वास्तविकता तो यह है कि क्रोचे सामान्य मनुष्य में और कलाकार के प्रातिभ ज्ञान में कोई गुणात्मक अन्तर ही नहीं देखते। फिर वर्मा जी की उक्त पंक्तियां कहां से आईं। यही उनके अनुवाद-ज्ञान के अभाव का ही कारण है।

वर्मा जी के प्रतिपादन का ढंग शास्त्रीय ही है— कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने भारतीय रसशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों और तज्जनित काव्य-मूल्यों का विश्लेषण किया है। पाश्चात्य दर्शन और मनोविज्ञान में उनका परिचय होने के कारण वे यद्यपि पौरस्त्य दार्शनिक

1– The only thing that may be waiting to artistic genius is the reflective consciousness, the superadded consciousness of historian or critic which is not essential to artistic genius.

—Aesthetics, P. 25

विचारणा के प्रति अधिक पूर्वाग्रही नहीं है तदपि कई स्थलों पर वे भी इस चिंतना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते करते कितने ही सूत्रों के लिए सम्यक तर्क और मान्यतायें नहीं जुटा पाते हैं। वे लिखते हैं — 'ऐसा प्रतीत होता है कि तत्व ... न चिच्छेदे'
यह — स्वरूप के
तत्व

वर्मा जी का यह दुराग्रह भी उस सीमा तक पहुंच जाता है जहाँ पर वे कि आचार्य शुक्ल ने 'अभिव्यंजनावाद' को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा था।

आज के साहित्यमनीषियों आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प० हजारी प्रसाद द्विवेदी डा० नगेन्द्र प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति रस की लौकिकता को सिद्ध कर चुके हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अपनी भारतीय चिन्तन प्रणाली की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की धुन में वे समुचित तर्कों और मान्यताओं को भूलकर दुराग्रही हो जाते हैं। वे लिखते हैं— 'स्व० आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने मनोविज्ञान की पीठिका पर रस की लौकिकता प्रतिपादित की है। उन्हें रस की अलौकिकता खटकी पर खटकने वाली भावना का कारण उपयुक्त रसानुभूति की अलौकिकता नहीं, प्रत्युत पाश्चात्य कलावादियों की दिव्य धारणा है। अतः रस दृष्टिभेद से अलौकिक भी है और लौकिक भी है।[2]

आचार्य शुक्ल और कलावादियों की धारणा में सदा विरोधाभास है। शुक्ल जी जीवनपर्यन्त पाश्चात्य कलावादियों का विरोध करते रहे-एक निर्माणात्मक विरोध। हां पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त जो कि वुडवर्थ और आइ० ए० रिचार्ड्स के द्वारा प्रतिपादित हैं मकडोनल उनका उन्होंने अवश्य उपयोग किया है—उन्हें भारतीय बनाकर। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने स्वयं रस की लौकिकता और उसकी सामाजिक उपादेयता को बड़े उदार रूप में स्वीकार किया है। 'भारतीय आलोचना' का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं— रसवादियों में तो सामाजिकता बहुत स्पष्ट है। वे सामाजिक भावना को

१— वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० १००
२— वही, पृ० २१२

औचित्य कहते हैं । और अनौचित्य को रस भंग का हेतु मानते हैं । उनके दर्शक या ग्राहक सामाजिक ही होते हैं । 'सामाजिक' कहने का तात्पर्य यही है कि जो सब की सब प्रकार की अनुभूति कर सकने में समर्थ है । सहृदय कहने का भी यही अर्थ है ।

इन सब मान्यताओं का परिणाम यह हुआ कि भारतीय आलोचना लोक-भूमि पर दिखाई देती है । व्यक्तिबद्ध अनुभूति के लिये उसमें स्थान नहीं रह गया । उनकी सारी व्यवस्था रस की दृष्टि से या समाज की दृष्टि से है । 'अलंकार' या 'रस' में सर्वत्र यह सामाजिकता व्याप्त है । यह सामाजिकता किसी वर्ग विशेष में सम्बद्ध नहीं है । जो यह समझते हैं कि रस केवल आनन्द को ध्यान में रखता है वे भ्रम में हैं । रस के आनन्द की भूमि लोकभूमि है । (साहित्य सदेश-भाग १३ अंक ४-५) ।

इस भांति आज यह कहना कि रस अलौकिक है एक पूर्वाग्रह ही है ।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद पर उपर्युक्त आलोच्य ग्रन्थों के अतिरिक्त सर्वश्री डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० बलदेव उपाध्याय, डा० गुलाबराय प्रभृति समीक्षाकारों ने भी निरपेक्ष समीक्षायें और विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं । ये सब निरपेक्ष विश्लेषण और समीक्षात्मक ही हैं । इनमें क्रोचे का प्रभाव ढूंढना भ्रम ही होगा । डा० भगवतस्वरूप मिश्र ने पं० इलाचन्द्र जोशी पर भी क्रोचे का प्रभाव निरूपित किया है । वे लिखते हैं:—

'हिन्दी का अभिव्यंजनावाद भी पूर्णत. क्रोचे का नहीं कहा जा सकता.... पर फिर भी पाश्चात्य प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता । .. अंग्रेजी पढ़े-लिखे उन व्यक्तियों ने जो भारतीय परम्परा में कुछ अनभिज्ञ है, कुछ सीमा तक उन्हें अविकल रूप में भी अपनाया है । यह हम पहले देख चुके हैं कि सौष्ठववादी विशुद्ध आनन्द को ही काव्य का प्रयोजन नहीं मानता । पर हिन्दी में दो-एक ऐसे समालोचक भी हैं जिन्हें हम अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध आनन्दवादी कह सकते हैं । इनमें सर्वप्रथम हम पं० इलाचन्द्र जोशी के विचारों को ही उद्धरत करेंगे ।[1]

विश्लेष्य उद्धृण अत्यधिक भ्रमोत्पादक है । मिश्र जी का 'अधिक विशुद्ध आनन्दवादी' 'अभिव्यंजनावाद' का कैसे पर्याय बन गया । वस्तुतः

१— हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास, पृ० ५८८

जोशी जी के 'साहित्य सर्जना' में प्रकाशित विचार प्रभाववादी आलोचना के अंतर्गत आते हैं—यह विशुद्ध आनन्दवाद (अधिक) छायावादी काव्य-सिद्धांत के ही अधिक निकट है। क्रोचे के निकट नहीं। अतः जोशी जी को इस श्रेणी में रखना कुछ अधिक युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। उनके बाद के विचारों से तो और स्पष्ट हो जाता है—

'आज के साहित्यकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं ने आज जीवन को चारों ओर से इस कदर ढक लिया है कि चाहने पर भी साहित्यकार उनसे कतराकर भाग नहीं सकता। भागने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा।"

मानवता की सांस्कृतिक चेतना निरन्तर स्थूल के निराकरण और सूक्ष्म के परिस्फुटन की ओर बढ़ते रहने का प्रयास करती जा रही है। इसलिए सूक्ष्म का परिस्फुटन जितना महत्त्वपूर्ण, स्थूल का निराकरण उससे कुछ कम आवश्यक नहीं क्योंकि उसके बिना सूक्ष्म का परिस्फुटन सम्भव ही नहीं।[1]

क्रोचे तो स्थूल के अस्तित्व को ही मानने को तत्पर नहीं। प्रातिभ ज्ञान के लिए इस स्थूल की आवश्यकता ही नहीं। इलाचन्द्र जी पर प्रभाववादी, मनोविश्लेषणवाद और अतियथार्थवाद का भले ही प्रभाव हो, पर अभिव्यंजनावाद का प्रभाव तो निश्चित ही नहीं है।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का हिन्दी में पर्याप्त रूप में विश्लेषण हुआ। साहित्यकारों ने हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ समीक्षकों ने इस पर अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचन किया। किन्तु समीक्षा और सृजनात्मक साहित्य दोनों ही में क्रोचे अपना प्रभाव नहीं जमा सके—वे बहुत दूर तक किसी भी समीक्षाकार अथवा साहित्यकार के आराध्य नहीं रहे। अतः रामअवध द्विवेदी की इन पंक्तियों का समर्थन करना पड़ेगा।

'अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में कई आलोचनापूर्ण निबन्ध लिखे गये हैं। इनमें से कुछ तो विवेचना और तुलना के अभिप्राय से लिखे गए हैं और कुछ ध्वंसात्मक हैं, किन्तु हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर अभिव्यंजनावाद की छाप नहीं मिलती।"[2]

१– आलोचना–३ इलाचन्द्र जोशी।
२– आलोचना–इतिहास अंक।

हिन्दी मे आज उसके अपने समीक्षाशास्त्र का विकास हो रहा है। यह विकास देश-काल और परिस्थितिगत विकास है जो पूर्वधारणाओं और आग्रहों से मुक्त है। उसके पास संस्कृत की सुविकसित साहित्य-शास्त्र की धरोहर है। अतः नई परिस्थितियों और जीवन के नये मूल्यों द्वारा इस शास्त्र के प्रकाश मे ही आज का आलोचनात्मक साहित्य विकसित हो रहा है उसे किसी छाप की आवश्यकता नहीं।

मनोविश्लेषणशास्त्र और आलोचना

'छायावादी युग' में साहित्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया। कवि अत्यधिक वायवी एवं काल्पनिक बन गया। आलोचकों ने जहाँ इस प्रकार के काव्य के लिए आर्थिक सांस्कृतिक और राजनीतिक कारण दिए वहाँ उन्होंने कवियों की मनोदशाओं की भी छान-बीन करना प्रारम्भ की। इसी काल में पाश्चात्य देशों में कवियों, साहित्यकारों उनकी कृतियों और उनके पात्रों का मनोगत विश्लेषण भी प्रारम्भ हुआ। शेक्सपीयर की कृतियाँ मकबेथ, आथेलो, लीअर तथा ब्लेक, शेली, डायओनीसस आदि का मनोविश्लेषणात्मक विधि में मूल्यांकन किया गया। यही नहीं साहित्य के विभिन्न युगों का भी इसी मनोविश्लेषणवाद की पृष्ठभूमि में आकलन किया गया। (लिटरेचर एण्ड सायकालाजी बाय लुकास)।

साहित्यालोचन की इस नवीन प्रणाली के लिए समस्त विश्वसाहित्य सिगमण्ड फ्रायड का ऋणी है जिसने अपने युग में व्याप्त झूठी नैतिकता आडम्बरपूर्ण धर्म और संस्कृति को, बड़े-बड़े आदर्शों को थोथे और मिथ्या साबित किए तथा इन सबके विश्लेषण के लिए मनोविश्लेषणशास्त्र का निर्माण किया। फ्रायड के साथ-साथ ही इस क्षेत्र में उनके दो शिष्य जुंग और एडलर-इन दो मनोवैज्ञानिकों का नाम और लिया जाता है। यद्यपि इन तीनों के सिद्धान्तों में अंतर है तदपि मनोविश्लेषणवाद की विस्तृत परिधि में इन तीनों को लिया जा सकता है।[1]

1- Literature & Psychology by Lucas

अन्य देशो के साहित्य की भांति हिन्दी साहित्य और आलोचना को भी इस मनोविश्लेषणशास्त्र ने प्रभावित किया है और इसके सिद्धान्तो द्वारा साहित्य के मानदण्ड निर्धारित किये गये है।

(क) फ्रायड, जुंग, आडलर तथा अन्य पाश्चात्य आचार्यों के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त।

फ्रायडः— फ्रायड, जुग, आडलर, मनोविश्लेषको की इस वृहत्त्रयी मे फ्रायड समय और महत्व दोनो की दृष्टि से अग्रणी है। सिग्मण्ड फ्रायड मूलतः डाक्टर थे जिनका प्रारम्भिक शिक्षण रसायनशास्त्र, वानस्पतिक शास्त्र तथा शरीर-शास्त्र मे हुआ था। उन्होंने सन् १८८१ में 'मस्तिष्क चिकित्सक' के रूप मे अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया था। उनके अपने व्यावहारिक अनुभवो से तथा वियाना के सुप्रसिद्ध मस्तिष्क चिकित्सक ब्युअर के सम्पर्क के कारण उन्होने कई मस्तिष्क उद्वेग के रोगियो का अध्ययन किया। इसके पश्चात फ्रायड पेरिस गये और उन्होंने वहाँ के लब्ध प्रतिष्ठ मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क चिकित्सक डाक्टर चारकोट का शिष्यत्व प्राप्त किया। यही वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि मस्तिष्क के विकार ग्रस्त होने का मूल कारण 'काम' है। यह 'काम' अन्तश्चेतन मे होता है किन्तु मानव का निर्णयकारी तत्व है। अपने इन अनुभवो और डा० चारकोट के शिक्षण द्वारा उन्होंने ब्युअर के मानसिक विकृति के उपचार को जो कि वे 'सम्मोहन' द्वारा किया करते थे अवैज्ञानिक ठहराया और यह सिद्ध किया कि यह उपचार स्थायी उपचार नही हो सकता है। मानसिक विकृति के उपचार के लिए रोगियो का सचेतन—सहयोग होना चाहिए— यह मुक्त ससर्ग (फ्री ऐसोसिएशन) से ही प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि मस्तिष्क विकृति का रोगी जीवन की कई भूली हुई अथवा भुलाई हुई घटनाओ तथा दमित इच्छाओ, जिन्हे कि कभी-कभी मनुष्य स्वयं ही सामाजिक विरोधो अथवा कुछ अन्य ग्रन्थियो के कारण उनका दमन कर देता है; मस्तिष्क विकृति के रूप मे प्रकट होती है। जब वह रोगी सचेतन रूप से यथार्थवादी होकर उनका स्मरण करता है और बिना सामाजिक विरोधो की चिन्ता किये उनका सामना करता है तब वह स्वस्थ हो जाता है— फिर उसके ये मनगत विकार नही रहते।

दस वर्ष तक अनवरत रूप से फ्रायड ने अपनी विधि पर कार्य किया तथा मानव मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का निर्माण किया। मनुष्य का समस्त जीवन Eros और मृत्यु के आकर्षण विकर्षण, के बीच आलोडित-विलोडित होता रहता है। जीवन की विभिन्न अवस्थायें इस भांति मिलती है कि इनमें Eros का प्राधान्य रहता है और मृत्यु का नियन्त्रित किये रखती है। किन्तु काम के माध्यम में बहुत कुछ अंशों में मृत्यु-तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती रहती है।

फ्रायड ने इस काम प्रवृत्ति के कुण्ठा ग्रस्त होने की कल्पना गर्भावस्था में ही की है।

इस भांति गर्भ के वातावरण में जब मनुष्य इस लौकिक संसार में आता है और आने के उसी क्षण वह पीडा और वेदना अनुभूत करता है तभी उसके अन्तर्चेतन में नई ग्रन्थियां बन जाती है और इसी क्षण से अनवरत रूप से इन अचेतन ग्रन्थियों का क्रम चलता रहता है जो किसी रूप में भी विस्मृत अथवा विनष्ट नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के इन प्रारम्भिक अन्तश्चेतन द्वारा गृहीत दमित कुण्ठाओं को फ्रायड ने इद का अभिधान दिया है। जन्म के साथ-साथ ही इस इद में दो प्रकार के आधारभूत परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन हैं— (१) अहं और (२) अति अहं। ये दोनों 'इद' पर बाह्य सृष्टि के आघातों के परिणामस्वरूप होते हैं। इस अहं का निर्माण सर्व प्रथम परिवार के मां पिता, माँ, भाई-बहिन आदि के सम्पर्कों—उनके व्यवहारों की प्रक्रिया स्वरूप होता है। अतः यह अहं — वह केन्द्र है जो 'इद' को व्यवस्थित रखता है। यही इद' के लिए चिन्ता', 'कुण्ठा', 'दमन', स्वप्न', तथा भावना और कारण जुटाता है और येन केन प्रकारेण कभी नियन्त्रण करके और कभी परिवर्तन क्रिया द्वारा अथवा इन दोनों—क्रियाओं द्वारा 'इद' के परिलोप के लिए मार्ग निर्धारित करता है। चलना जो कि क्षणिक और परिवर्तनशील है अहं का अपना मौलिक गुण है। यह इद अपने स्वयं के माध्यम से भावों का ग्रहण करता है तथा बाह्य जगत में प्रभावों को एकत्रित करता है जो कि उसे ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा प्राप्त होते हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व का निरीकरण उसने अपने विकसित काम प्रवृत्ति तथा परिवार से संदर्भित काम-वासनाओं द्वारा होता है। यह विकास तीन प्रकार से होता है — (१) मुखगत, (२) गुदा गत और (३) जननेन्द्रियगत।

फ्रायड शिशु का जीवन उसके उषाकाल से ही काममूलक मानता है। वह इस जगती में आते ही माँ का दूध चूसने में आनन्द लेता है–इसी समय वह अंगूठा काटने तथा अपनी माँ एवं अन्य स्नेहियों द्वारा अतर्गल चुम्बनों का आस्वादन लेता है। पश्चात् उसे गुदा से विष्टा निकालने की क्रिया में आनन्द आने लगता है।[1]

यदि इस बच्चे को उक्त समस्त क्रियाओं में आनन्दानुभूति हुई है और उसे इन कार्यों में किसी सामाजिक निरोध का सामना नहीं करना पड़ा है तो उसका भावी जीवन बिना किसी मानसिक विकार के विकसित होता जाएगा। उसकी यह शैशव काल की ये विभिन्न प्रवृत्तियां यौवनकाल में जनेन्द्रिय के साथ मिलकर काममूलक जीवन को उत्तेजित करती हैं। यदि किसी शिशु को उसके बाल्यकाल में स्तनपान करने में विशेष आनन्द की प्राप्ति हुई है तो वह स्वभाव का आनन्दवादी और आशावादी निकलेगा और यदि उसे इस दूध के पीने में माता के स्वभाव अथवा किसी कारण से निरोध उत्पन्न हुआ है तो वह स्वभाव से परावलम्बी होगा। साधारणतः मुख स्वभाव वाला व्यक्ति उतावला, अशान्त और अधीर होता है। अतः वह अपनी इन मूल प्रवृत्तियों के कारण गवेषक होता है तथा नए विचारों तक पहुंचने की क्षमता रखता है। गुदा-सम्बन्धी स्वभाव के प्रधान गुण सुव्यवस्थित और जिद्दी होना है; इस स्वभाव वाला कभी-कभी क्रूर और निर्दय भी होता है और कामुकता से उत्तेजित होकर दूसरे को त्रास और पीड़ा देने में आनन्द की अनुभूति करता है।

तेरह वर्ष की वय में वह रति-चेतन हो जाता है। इस रतिचेतन वय में न केवल नई काम वृत्ति का उन्मेष होता है अपितु विगत रति इच्छाएं जो कि कुण्ठित होकर उसके अन्तश्चेतन में पड़ी रहती हैं वे भी पुनर्जाग्रत होकर सक्रिय हो उठती हैं। वे नवीन काम चेतना से उद्वेलित हो उठती हैं। रति के इन विकास क्रमों के पश्चात् व्यक्तित्व पूर्ण यौवनावस्था को पहुंचता है। अपनी इन उपर्युक्त अतिरोधित प्राकृतिक कामावस्था में 'इद', अहं और अति अहं तीनों में एक सन्तुलन उपस्थित हो जाता है। इनके इस सन्तुलन में अधिक से अधिक सुख और कम से कम दुःख की अभिव्यक्ति होती है। सन्तुलन के अभाव में मानव-मन अधिक विकार ग्रस्त हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी यह सन्तुलन विचित्र-सा होता है। यह सन्तुलन

एक अतदशा के रूप में है जिसे कि अह 'इद' के अन्तर भार मे तथा अति-अह के दमन में विश्व की बदलती हुई बाह्य परिस्थितियों में स्थिर रखता है। अह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को निरोधित करता है और इस भांति उसके प्रकृत रूप को विकृत कर देता है। प्रकृत रूप की यह विकृति मनुष्य मे स्वप्न की सृष्टि करती है। यह स्वप्न-सृष्टि मनुष्य की जागृत अवस्था में कार्य रत रहती है। मानव की निरोधित अन्तप्रवृत्तियां नाना प्रकार के प्रतीकों एव प्रतिभाओं में प्रकट होती है। ये स्वप्न मनुष्य के अवचेतन में सर्वाधिक रूप से प्रविष्ट रहते हैं तथा उसके व्यक्तित्व के निर्णयकारी तत्व होते हैं। उसके गत इच्छाओं का प्रकटीकरण इन स्वप्नों में ही होता है जो श्रेष्ठीकृत स्वरूप में अपनी अभिव्यक्ति पाती है।

फ्रायड धर्म और सस्कृति आदि जीवन की उदात्त अवस्थाओं को मानव मन पर थोपी हुई विधाएं ही बताते है। उनके शब्दों में धर्म 'Unvaersal obsessional neurosis' ही है। उनके लिए तो धर्म और सस्कृति केवल मनुष्य की आदालिन अन्तप्रवृत्तियों को अपरिवर्तनशील यथार्थ के रूप में मोड देना ही है। इस भांति फ्रायड ने धर्म और सस्कृति को कुण्ठित इच्छाओं के परिताप के रूप में ही देखा।

फ्रायड ने जो इद, अह और अति अह के सन्तुलन की बात कही है, इन्हीं तीनों में असन्तुलन होने ही वह विकार ग्रस्त हो जाता है और स्नायु व्यतिक्रम का शिकार बन जाता है। स्नायु व्यतिक्रम किसी भी मनुष्य को तब होता है जब वह अपने और समाज के बीच अपने स्वप्नों और परिकल्पनाओं की तृप्ति खोजने में असफल होता है। अतः प्रत्येक कलात्मक रचना स्नायु व्यतिक्रम का श्रेष्ठीकृत स्वरूप होती है। इस स्नायु व्यतिक्रम के कई कारण हैं जिनकी कि ऊपर हम चर्चा कर आये हैं। ये बाल्यावस्था में उसकी अभगन काम प्रवृत्ति के निरोधों के कारण उपस्थित हो सकता है अथवा सम्भव है कि उसने कायाविंत कार्याधिक्य अथवा असफल प्रेम की वेदनायें सहन की हों। वह अपनी वैयक्तिक दमित कुण्ठाओं की बामल अवस्थाओं में जीवन के उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता और वह मति भ्रष्ट हो जाता है। फलतः स्नायु व्यतिक्रम से ग्रस्त जीवन के सघर्षों में अपनी रक्षा करने के लिए वह विचित्र कल्पनाओं के आविर्भाव की अनुभूति करता है। ये विचित्र कल्पनायें साहचर्य के नियमों के अनुसार अचेतन में फैल जाती हैं

और मन की कुण्ठाओं को जाग्रत करती है। ये इतनी प्रबल होती हैं कि ये अभिव्यक्ति पाये बिना नहीं रह सकती। परिणामस्वरूप वह असंगत और अलौकिक बातें बकने लगता है और वह विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु कलाकार इन अवस्थाओं में भी विक्षिप्त नहीं होता। उसमें विकसित विचित्र कल्पनाओं को ऐसी अभिव्यक्ति देने की क्षमता है कि जिसमें कि उसे आनन्द की अनुभूति होने लगती है।[1]

फ्रायड कला का मूल तत्व सचर्यो से पलायन कर कल्पना और स्वप्नों की छाह में शरण लेना ही मानता है। कवि अथवा कलाकार में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुण्ठाओं का वेग अधिक तीव्र वेग में होता है अतः वह अपनी कुण्ठाओं और दमित इच्छाओं को समाज के भय से नानाप्रकार के प्रतीकों, उपमानों और कल्पनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति उसकी दमित काम-वासनाओं का श्रेष्ठकृत स्वरूप होती है क्योंकि सामाजिक निरोध उसे अपने वास्तविक स्वरूप में अभिव्यक्ति नहीं करने देता अतः वे अतश्चेतन में जाकर इद, अहं और अति अहं का संतुलन प्रक्षिप्त करती है। फलस्वरूप वे विशुद्ध रूप में न रहकर नाना कल्पनाओं से आवेष्ठित होती हैं तथा उनकी अपनी तीव्रता और गहनता के अनुसार कला के रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं। ये ही ग्रंथियां प्रतीक रूप में स्वप्न के छाया चित्रों तथा कविता में भाव चित्रों की सृष्टि करती हैं। अतः कला का मूल उत्स काम-वासना ही है—इसकी मूल प्रेरक शक्तियां—ये दमित काम-कुण्ठायें ही हैं।

फ्रायड की मनोविकार सम्बन्धी गवेषणा ने उसे इसी निष्कर्ष पर पहुंचाया कि एक विक्षिप्त पुरुष और कलाकार की कलात्मक सर्जना गुणात्मक रूप से चाहे भिन्न हो किन्तु परिणात्मक रूप में वे अपने आप में समानता लिये हुए हैं। उसे उसके रोगियों के स्वप्नमय छायाभासों जिसमें कि वह सतत पीड़ा की अनुभूति करता है और उसे सदैव कुण्ठा ग्रस्त रखता है— इस प्रक्रिया में और कलाकार द्वारा की हुई कल्पना और प्रतीक संयोजना में कोई विशेष अन्तर नहीं है, वह अपनी दमित कुण्ठाओं तथा तज्जनित छायाचित्रों, कल्पनाओं एवं प्रतीकों को इस प्रकार प्रतिपादित करता है कि

1— Freud, The relation of the Poet to day dreaming.. dreaming Collected papers pp..183.

वे एक स्वीकारात्मक आनन्द में परिणित हो जाते हैं।[1]

इस भांति फ्रायड काव्यानन्द को भौतिक सुख, भौतिक सुख भी नहीं अपितु उसका और सीमित स्वरूप स्नायुगत आनन्द की ही तृप्ति कहता है।

फ्रायड आलोचना को अहं और अति अहं में अनुस्यूत करता है। अहं ही मनुष्य की वह मध्यस्थ वृत्ति होती है जो इद की अराजकता पर प्रतिबन्ध रखती और उसे सन्तुलन प्रदान करती है।[2]

इस भांति फ्रायड कलागत प्रक्रिया को मानव मन के प्रत्येक कोष्ठ से सम्बन्धित मानता है। कला अपनी भावात्मकता तथा रहस्यात्मकता इद से ग्रहण करती है तथा अहं उसे संगति और सामंजस्य प्रदान करता है और अन्त में यह क्रिया अपने आप में उन विचारणाओं को आत्मसात कर लेती है जो कि अति अहं की उपज होती है।

फ्रायड ने इस भांति अपनी चिकित्सा प्रणाली के सिद्धान्तों द्वारा कला, साहित्य, विज्ञान समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु कालान्तर में उसके अपने चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्त ही वैज्ञानिक न रहकर आनुमानिक मात्र रह गये। मई ६, १९५६ को फ्रायड के शताब्दी महोत्सव पर एक प्रोफेसर प्रोग ने फ्रायड पर भाषण माला में उनके अनेक विचारों पर प्रकाश डाला है। फ्रायड वस्तुतः चिकित्साशास्त्र की ओर उन्मुख ही नहीं थे, वे तो डार्विन के सिद्धान्तों पर कार्य करते अथवा राजनीति विज्ञान में अपनी शिक्षा चाह रहे थे। उनके उत्तरार्द्ध जीवनकाल में वे आनुमानिकता की ओर अधिक उन्मुख हो गये।[3]

यही कारण है कि उनके 'यू इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर' ग्रन्थ में जो उन्होंने कलागत निर्माण के विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रतिफल विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं वे उनकी बाद की मान्यताओं की पुष्टि नहीं करते।

1— Requoted from Essays in Literary Criticism
By Herbert Read P 135

2— Collected Essays in Literary Criticism p 137
By Herbert Read

3— Freud Centenary No

यह सार्वजनीनता वैयक्तिक काम-वर्जनाओं एवं फ्रायड के 'इद' की प्रक्रिया स्वरूप विश्लेषित नहीं की जा सकती।

फ्रायड ने मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए अनेकों ग्रन्थो की रचना की है। अंग्रेजी में जो कतिपय ग्रन्थ सहज उपलब्ध है वे है—

"Three contributions to the theory of sex" (1910), 'The Interpretation of Dreams' (1909), 'The Psychopatholegy of every-day life' (1914), 'The wit and its relation to the unconscious' (1915), 'Leonards da vinci . ', 'A Psycho-sexual study of an 'infantile Reminscence' (1916), 'Totem and Taboo'(1918), 'Beyond the Pleesure Principle' (1922) 'The ego and the id' (1927), 'Civilisation and its discontents' (1930). 'Moses and Monotheism' (1939).

अनसायक्लोपीडिया के शब्दों में इन समस्त ग्रन्थों और सिद्धान्तों का आधार काम. को प्राथमिकता प्रदान करना ही है—

The leading principles of these theories are, the Primacy of sex as a motivating factor in human Psychology and social behaviour, the existence of elments of strong sexuality among children and of abnormality and inversion in normal sexual Psychology, the repressive influence of social and individual inhibition on sex, resulting in neuresis and complex, -es, the roll of unconscious as the repository of repressed sexual desires, tendancies, memories, anxieties, and the like, the emobodiment of sexual repressions in symbolic forms in dreams, art, literature, lust and humour, and religion and Folk-love,

(....A Panall Encyclopaedia on Social sciende.)

युंग:— फ्रायड-युग में ही 'मनोविश्लेषणवाद' का दूसरा व्याख्याकार फ्रायड के शिष्य कार्ल युंग थे। कार्ल. युंग ने मनोविश्लेषणवाद की समस्त सामग्री को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' एवं 'विश्लेषणवादी मनोविज्ञान' में समाहित कर दी। उसकी अपनी प्रणाली फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की अपेक्षा अधिक अनुदारवादी, आनुमानिक एवं अस्पष्ट थी। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युंग ने फ्रायड की विचारणाओं से कुछ भी ग्रहण नहीं

किया। उन्होंने फ्रायड से उनकी विचारणाओं की मूल रचना के विपुल तत्वों का ग्रहण किया तथा उन तत्वों को फ्रायड की अपेक्षा और अधिक शक्ति और लगन से मनोविज्ञान से अनुस्यूत किया।

युग भी फ्रायड की भांति 'काम' को जीवन का एक निर्णयकारी एवं मूल प्रेरणादायी तत्व मानता है किन्तु युग द्वारा प्रतिपादित काम एक मनोवैज्ञानिक शक्ति की अनवरत प्रवहमान धारा के रूप में है जिसमें यौन वर्जनाएं केवल उसका अंश मात्र हैं। इस प्रवाह की गति चेतन और अवचेतन के दो छोरों के मध्य सतत प्रवहमान रहती है जो अन्योन्याश्रित है। एक का गति की अपर पूर्ति करता है। अवचेतन ही हमारी चेतना का निर्माण करता है। बिना इसकी पृष्ठभूमि के हमारी चेतना का अस्तित्व नहीं। यह अवचेतन हमारी अतीत-स्मृतियों की निधि होता है जिसकी सामग्रियां सामान्य तथा जातीय पहुंच एवं वैयक्तिक प्रभावों और अनुभवों से रचित होती हैं तथा सूर्य, भूमि की गति सौरमण्डल की लय और समरसता तथा जन्मजात प्रवृत्तियों के मूल उद्देश्यों से प्रभावित होती रहती हैं। इन्हीं सारी सामग्रियों का एक रहस्यवादी अथवा कलाकार अनुभूत करता है। तथा इन्हीं के माध्यमों से लोक कथाएं तथा अन्य प्रकार के मात्रों की सृष्टि होती है।

काम का प्रवाह जो कि जीवन की विभिन्न गति विधियों का उद्घाटन करता है अपने आप में ठहराव और गति लिए हुए होता है। यह ठहराव और गति आदमी की मन चेतना को कभी संकुल और कभी विस्तृत बना देती है। जीवन के तीसरे और चौथे वर्ष तक मनुष्य का उद्देश्य आहार गत ही होता है और वह प्राग यौवनावस्था में रहता है। चौथे वर्ष से रज अथवा वीर्य धारणावस्था तक वह प्राग्— के<u>शोर्यावस्था</u> में रहता है और इस काल के पश्चात ही उसमें पूर्ण यौवनावस्था रहती है। यह विकास काम परिधि को नूतन और पुरातन के संघर्षों के मध्य सतत् विस्तृत करता रहता है। जब तक यह काम-परिधि बिना किसी रोक-टोक और आघात के निरन्तर विस्तृत होती जाती है तब तक जीवन में विकास होता रहता है। और ज्यों ही उसके विकास में किंचित भी गत्यावरोध उत्पन्न हुआ कि जीवन में विकार और विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है। इससे मनुष्य के आचारों और उसकी प्रगति में जड़ता उत्पन्न हो जाती है और जीवन रीता-रीता प्रतीत होने लगता है। यह विकार उस समय तिरोभूत हो जाता है जब कि 'काम' पुनः अपने स्वाभाविक प्रवाह में प्रवहमान होने लगता है और जीवन अपने

उद्देश्यो की ओर अनुधावन करना है । इसकी दिशा अंतर्मुखी-अवचेतन की ओर भी हो सकती है तथा बहिर्मुखी—भौतिकता की ओर भी हो सकती है। युग अन्तर्मुखी प्रवाह को 'इन्ट्रोव्हैंसन' तथा बहिर्मुखी प्रवाह को 'एक्सट्रावर्सन' का अभिधान दिया है। दोनो साधारणतः सामान्य रहते है । बहिर्मुखी आचार वाला व्यक्ति साहसी, तत्पर, कर्मपरायण होता है तथा अन्तर्मुखी प्रवाह वाला व्यक्ति भावुक, पलायनवादी तथा लचीला होता है। स्वप्न और कल्पनायें सदैव ही मनुष्य के अभावो मे निर्मित होती है जिनका कि यथार्थ मे बहुत ही थोडा लगाव होता है ।

यह विश्लेषित किया जा चुका है कि अवचेतन मे दबी हुई मानव की अनेक कुण्ठाग्रस्त इच्छायें जो वैयक्तिक और जातीय होती है, उसकी अतर्पतो मे पडी रहती है । इनमे से कतिपय प्रवृत्तिया तो सचेतन मन के ऊपर आकर अपना प्रभाव बताती हैं और कतिपय तो सदैव सुप्तावस्था मे ही रहती हैं । डा० जोलन जेकोपाय ने युग के अवचेतन मन की प्रवृत्तियो का विभाजन करते हुए अवचेतन को दो भागो मे विभक्त किया है–(१) व्यक्तिगत अचेतन और (२) सामूहिक-सस्कारगत अचेतन । पहले के अन्तर्गत उन्होने स्मृतिया, दमित कामेच्छा तथा संवेग माने है तथा दूसरे के अन्तर्गत अवचेतन के अन्त-प्रवाहो से फूट पडने वाले जातीयगत सस्कार एवं अवचेतन मन का वह भाव जो कि कभी भी चेतना-पटल पर अवतरित नही होता ।[1]

युग के मतानुसार कला का मूल उत्स सामूहिक संस्कारगत मूल-प्रवृत्तियो मे ही है उसमें अवचेतन मन की वैयक्तिक प्रवृत्तियो की भूमिका विरल रहती है ।[2]

युग कला-सर्जना को दो प्रकार की मानता है ; जिन्हे कि उसने क्रमश. मनोवैज्ञानिक और दूसरी आभासगत की संज्ञा प्रदान की है। मनो-वैज्ञानिक कला रचना मनुष्य के चेतन मन से अपनी सामग्री जुटाती है और उसके सामान्य अनुभवो ; साधारण स्तर से काव्यगत अनुभूतियो तक को अभिव्यक्त करती है। और पहली रचना-प्रक्रिया की तरह सामान्य और सुस्पष्ट नही होती । इस प्रकार की रचना-प्रक्रिया का मूल उत्स उसने मानव-मन

1— Psychology of C. J. Jung by Dr. Jalon Jacopi p. 30.
2— Psychology and Literature ..By Jung Page 195.

के समयातीत सस्कार ही माने हैं ।

फ्रायड ने साहित्य और कला पर विशेष कोई ग्रंथ नहीं लिखा। और वह मनोविश्लेषणशास्त्र की ओर ही अधिक उन्मुख रहे। किन्तु युग ने इसके विपरीत कला और साहित्य का विवेचन विस्तृत रूप से किया है। यही कारण है कि युग ने साहित्य और कला को अधिक गहराई से मापने का प्रयत्न किया। युग की कला का उत्स जी० एस० ट्रेवोलियन ने भी स्वीकार किया है।[1]

इसी भांति मिस मोड बाडकिन ने भी अपनी आलोचनाओं में युग के उक्त कथन को स्वीकार किया है। संक्षेप में युग कला का मूल उत्स मानव के अतश्चेतन में युग से वंचित कालातीत सस्कार हैं। मनुष्य की अतर्वृत्तियों और बहिर्वृत्तियों के सामंजस्य से ही वह उत्स काव्य कला की भागीरथी में बदलता है। कला सर्जना का क्रम है, पहले संचित संस्कारों द्वारा आदर्श सम्थापित किये जाते हैं। ये आदर्श देश-कालातीत होते हैं, पश्चात स्मृतियां प्रतीकों एवं प्रतिभाओं को जागना जो अवचेतन के गहन गह्वर में दबी रहती है। फिर स्मृतियों, प्रतीकों एवं प्रतिमाओं व प्रतिभाओं की आदर्श द्वारा शाश्वता। इसी भांति नाना क्रियाओं से वास्तविक काव्य की रचना होती है। कवि रसानुभूति करता है उसकी आनन्दानुभूति में विभिन्न उपमान, प्रतीक और कल्पनाएं निश्चित शिल्प में बंध कर काव्य के रूप में प्रसूत हो जाते हैं।

आडलर—अल्फ्रेड आडलर भी युग की भांति फ्रायड के शिष्य थे और बहुत दिनों तक फ्रायड के ही मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों के आधार पर काम करते रहे। किन्तु बाद में आडलर और फ्रायड में सैद्धांतिक मतभेद उपस्थित हो गया। युग की भांति आडलर ने भी फ्रायड के कई निष्कर्षों को अपनाया किन्तु उन्होंने फ्रायड के आचार रचना सिद्धांतों को नई अवधारणा प्रदान की। आडलर का वैयक्तिक मनोविज्ञान फ्रायड अथवा युग के विश्वासों की अपेक्षा अधिक ऋजु और तार्किक है। आडलर ने मनोविज्ञान को व्याप्ति प्रदान की। उसका प्रमुख सिद्धांत है कि मनोविज्ञान व्यक्ति का समाज के साथ अन्तर क्रियाओं की व्याख्या है। आडलर के सिद्धांतों की अतश्चेतन से

1—Quoted from The poetic Image by C D Lewis p 143

कोई सम्बन्ध नही अथवा 'काम' का उसके सिद्धांतो मे कोई विशिष्ट स्थान नही। उनके सिद्धान्त के गत्यात्मक तत्व है 'हीनता की भावना', 'आंगिक हीनता की भावना', 'क्षति-पूर्ति की भावना' आदि। मनुष्य के चरित्र और आचार इन्ही-उपर्युक्त कथित तर्को से निर्णीत होते है। जो मनुष्यो के स्वभाव मे विशिष्टता अथवा विक्षिप्तता का सचार कर देते है। यह विशिष्टता अथवा विक्षिप्तता व्यक्ति की समूह मे उसके मनोविज्ञान के सन्दर्भ मे अभिव्यक्त होती रहती है।

आडलर ने अपने 'हीनता' के सिद्धांत को बहुत पहले १९०७ मे प्रतिपादन कर दिया था। शिशु के मन पर उसके उषा काल से ही यह प्रभाव पड़ता है कि वह वयस्को की अपेक्षा दुर्बल है। प्रारम्भ मे ही उसे आंगिक दुर्बलता का आभास होने लगता है। वह वयस्को की अपेक्षा दुर्बल, असहाय और परावलम्बी है। इस हीनता की ग्रंथि के विरुद्ध वह प्रारम्भ से ही विद्रोह प्रारम्भ कर देता है और अपनी क्षति की पूर्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है। वह इस बात का प्रयास करता है कि लोग उसके अस्तित्व को स्वीकार करें, वह उसमे उनके अधिकारो एव स्वत्वो का उपयोग करे और क्षति-पूर्ति की दिशा मे किए गए प्रयत्न आत्मकेन्द्रित, आत्मसम्मान गत तथा आत्म परितोषगत होते थे। कतिपय प्रयत्न बिना सामाजिक मूल्यो अथवा सामाजिक आदेशो को अनुमोदित किए ही अधिकार लिप्सा के ही होते है। उसके लिए वे साधन की पवित्रता मे भी विश्वास नही रखते है—साध्य ही, की किसी न किसी भाति आत्म तुष्टि हो-क्षतिपूर्ति हो-सर्वेसर्वा है।

आडलर के मतानुसार व्यक्ति तीन विभिन्न स्थानो पर समाज के सम्पर्क मे आता है— (१) उसके अपने कतिपय आदर्श-- (२) उनकी अपनी मैत्री और (३) उसके यौन सम्बन्ध। इनमे से किसी मे भी व्याघात पहुचने पर उसका मन विद्रोह कर उठता है और उसमें नई ग्रन्थियों की सृष्टि होने लगती है। यदि एक बच्चा अनाथ है अथवा मातृहीन या पितृहीन है और वह जिस समूह अथवा समाज मे रहता है उसकी रचना इनसे विपरीत है तो उसके मन मे शीघ्र ही एक हीनता की ग्रन्थि का निर्माण हो जाएगा और वह स्नायुविक व्याधियो से ग्रस्त हो जाएगा। ठीक इसी भाति किसी परिवार मे एक ही लड़की है और शेष सभी लड़के ही लड़के है अथवा इसके विपरीत है तो इस भाति उस लड़की मे भी एक विशिष्ट प्रकार की स्नायुविक व्याधि का विकास होने लगेगा। व्यक्ति और परिवार के अथवा समाज के वे विभिन्न

सम्बन्ध मनुष्य के उद्देश्यो को निर्णीत करते हैं। ये उद्देश्य यद्यपि यथार्थवादी नहीं होते हैं तदपि मनुष्य की काल्पनिकता को प्रतिबिम्बित करते हैं और उसके चेतन और अवचेतन म अवगुण्ठित उसकी आशाओ, स्वप्नो और स्मृतियो के साथ उसके जीवन उद्देश्यो का सामजस्य करते है। यह सामजस्य यदा कदा अन्य मनुष्यो क आपत्तिकाल एव दुर्भाग्यावस्था को देकर आनन्द, असह्यता घृणा आदि का भी कारण बनता है।

आडलर ने इस हीनता ग्रथि म उत्पन्न विभिन्न विकारो का उन्मूलन सम्यक शिक्षा क ही माध्यम से सभाव्य माना है। मनुष्य को चाहिए कि वह मानव जीवन म पैठी हुई समूह की भावना का विकास कर, प्रम क वास्तविक उद्गम स्थलो मे भी, सौमाल्य तथा पडोसी क वास्तविक धम आदि मानव मन के उदात्त तत्वो का वह अपन म उन्नयन करे और अधिकार लिप्सा का हनन। तभी उसका मन पूर्ण स्वस्थता को प्राप्ति कर सकता है। यह विश्वास मानकर कि विश्व का प्रत्येक व्यक्ति अपने आप म अपने उद्देश्यो की अभिवृति लिए हुए होता है तब हम हमारी स्मृतियो का पयवेक्षण करना चाहिए और यह सब किसी काल्पनिकता अथवा अधिकार लिप्सा की भावना म नही अपितु समाज के मूल्यो का ध्यान मे रखकर ही अपनी स्मृतियो, स्वप्नो, कल्पनाओ और छायाभासो को वाणी देना चाहिए।

उपयुक्त तथ्यो स यह स्पष्ट है कि आडलर का क्षेत्र युग और फ्रायड का अपेक्षा अधिक विस्तृत था। वह उन समस्त व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिको म सर्वाधिक व्याप्ति लिए हुए हैं। युग और फ्रायड दोनो ने वातावरण को बहुत अधिक प्रधानता दी है। ये युग के नतिक पतन और असगत स्पर्धा का मूल कारण आज की अति औद्योगिकता को ही मानते हैं।[1]

आडलर का यह दृढ विश्वास है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की प्रेरणा स ही वह निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता जाता है। समाज म यदि उसे उत्साह और प्रेरणा न मिले तो वह हतोत्साह हो जाता है। समाज से वह कुण्ठित हो जाता है। आडलर कहते हैं कि कलाकार म मूलत तो हीनता की ही ग्रथि रहती है तदपि वह उत्कृष्टता और उच्चता

1– Reproduced from 'Studies in a Dying Culture'
P 190 by Caudwell

का अभिनय बड़ी सफाई से करता है। वह ससार की वास्तविकता और कठोरता से पलायन करना चाहता है और फिर अपने काल्पनिक ससार की सृष्टि करता है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आडलर सामाजिक मूल्यों और तज्जन्य तत्वो को प्राथमिकता देता है अतः वह कलाकार को भी समाज का एक अविच्छिन्न अग मानता है। अतः उसकी कला मे प्रेषणीयता होना अनिवार्य है जो सब को आनन्दित कर सके।

इतर

मनोविश्लेषणशास्त्र का प्रयोग ज्ञान की विभिन्न शाखा और प्रशाखाओं मे किया गया तथा इसके कई आलोचको ने मनोविश्लेषणशास्त्र का घोर विरोध करने के पश्चात भी इसे किसी न किसी रूप मे अपनाया ही। पाश्चात्य साहित्यकारों से लेकर पौरस्त्य समीक्षाकारो तक ने साहित्य और कला मे अवचेतन मन की भूमिका को निर्विवाद रूप से महत्व दिया।

फ्रायड के पश्चात् मनोविश्लेषणवादियो का एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ ही है जो इस विचारधारा की भिन्न-भिन्न समस्याओ पर विचार विनिमय करता है। आधुनिक काल मे फ्रायड द्वारा विश्लेषित मनोविश्लेषणवाद का विकास बच्चों के क्षेत्र मे सबसे अधिक हुआ। फ्रायड की लड़की अन्ना तथा श्रीमती मैलानी क्लेन ने फ्रायड के मानस रचना पर कार्य किया। यद्यपि इनके सिद्धान्त फ्रायड के मानस-रचना सिद्धान्तों के विरोध मे पड़ते है किन्तु उनके इन सिद्धान्तो का आधार पटल फ्रायड के सिद्धान्त ही हैं। उसके सिद्धान्त ही इनका पथ-प्रदर्शन करते है। मनुष्य की कितनी ही जन्मजात प्रवृत्तियो को इन्होने प्रेम से ही अनुशासित बतलाया है। प्रेम और घृणा दोनो जीवन के निर्णयकारी तत्व होते है और सार्वजनीन इन दोनो तत्वो का उचित दिशा मे विकास होना अनिवार्य है। इसके लिए परिवार को सचेत और सावधान रहना आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त इस दिशा मे एलिस बेलिण्ट का 'साइको-एनालिसिस आफ दी नर्सरी' तथा विहल्म स्टेकल ने हजारो पृष्ट फ्रायड के सिद्धान्तो को लेकर लिखे है। जिनकी विद्वानो ने कटु आलोचना की है किन्तु बीसो पंडितो ने बीसों सराहना की है। स्टेकल ने फ्रायड पर चिकित्सा के दृष्टिकोण से ही विचार किया है। इसी काल में लगभग द्वितीय विश्वयुद्ध के समय Infants without family by

Anna Freud & Dorothy Burlingham शीर्षक पुस्तिका भी बहुत प्रसिद्ध हुई जिसका ,कि अनुवाद लगभग सभी भाषाओं में हुआ। इस भांति फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का विकास अपनी सीमायें और शक्तियाँ लेकर हो रहा है।

आलोचना के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों का पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचना क्षेत्रों में विपुल रूप से प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य आलोचना साहित्य में शुद्ध मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रंथ एफ० एल० लुकास रचित साहित्य और मनोविज्ञान है।[1]

लुकास का फ्रायड के सिद्धान्तों के प्रति अपार आस्था है और वे उस आलोचना का जो कि फ्रायड के सिद्धान्तों का स्वीकार नहीं करती आलोचना की व्यर्थता सिद्ध करने लगते हैं।[2]

आलोचक का सबसे बड़ा धर्म उसकी सतत जागरूकता और सामान्य दशा में— शान्त, गम्भीर रहना ही है।

लुकास ने शेक्सपियर के विभिन्न नाटकों और पात्रों का फ्रायड के सिद्धान्तों को मूलाधार लेकर मूल्यांकन किया है। यही नहीं उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में यूरोपीय साहित्य की विभिन्न धाराओं एवं आन्दोलनों का भी इन्हीं प्रतिमानों से विश्लेषण किया है। किन्तु ये एकांगी ही हैं। साहित्यिक समीक्षा और मनोविज्ञान दोनों में हम विभाजन रेखा खींचनी ही पड़ेगी।[3]

कला के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों का विरोध बहुत हुआ किन्तु इसके उपरान्त भी यह ध्रुव सत्य है कि हर्बर्ट रीड, काडवेल, मिस बाडकिन, सी० डे० लविस तक ने मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में अवश्य अपनाया है।

(ख) हिन्दी-आलोचक और फ्रायड

हिन्दी आलोचना में फ्रायड अथवा मनोविश्लेषणवादी किसी अन्य आचार्य के सिद्धान्त उस तरह अवतरित नहीं हुए जिस भांति लुकास के द्वारा

— Literature & psychology p 20

— Ibid p. 16

— Collected Essays in English Criticism p 125 26

अथवा मिस वोडकिन आदि के द्वारा पाश्चात्य आलोचना में फ्रायड के अथवा अन्य मनोविश्लेषणवादी आचार्यों के सिद्धान्तों का अवतरण किया गया। जिस भांति दर्शन के क्षेत्र में हमारे यहाँ कभी भी अनिवाद को प्रश्रय नहीं मिला, ठीक उसी भांति साहित्यशास्त्र में भी कोई सकीर्ण मत का पौधा पल्लवित नहीं हो सका। हां एक बात अवश्य थी कि यदि कोई सिद्धान्त विनम्र होकर बिना अपने अस्तित्व का गर्व किये हमारे साहित्यशास्त्र की महान गंगा में अपने को विसर्जित कर दे तो भले ही उसके कतिपय अच्छे तत्वों को हम गंगा जल के पावन बूंद समझ कर अपना लेंगे।

हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी के काल से ही शनैः शनैः वैयक्तिक चेतना का उदय होने लग गया था। छायावाद का महान काव्य अपने उदात्त मानवी भावों और सार्वजनीन अनुभूतियों के उपरान्त में वैयक्तिक चेतना के कुहासे से सर्वथा मुक्त नहीं है।

इसी समय हमारे साहित्य में द्विवेदी काल के कठोर नैतिक-बन्धनों की शृंखला युग के कठोर सत्य से टकरा कर टूक-टूक हो गई थी। आर्य-समाजियों द्वारा प्रचारित और प्रसारित जीवन-मान युग-सत्य के विशाल क्षितिज को अपने में समेटने में सर्वथा अक्षम थे। अतः हिन्दी के कतिपय सुधी आलोचकों ने यूरोप में प्रचलित इस सिद्धान्त को हिन्दी आलोचना के लिए अपनाया किन्तु हिन्दी में कोई भी आलोचक ऐसा नहीं है जिसने शत प्रतिशत फ्रायड अथवा मनोविश्लेषणवादी साहित्यिक प्रतिमानों को आलोचना में प्रश्रय दिया हो। यों तो हिन्दी में जब कभी मनोविश्लेषणवाद का नाम लिया जाता है हिन्दी के आलोचक शीघ्र ही डाक्टर नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी आदि के नाम बोल दिया करते हैं।

हिन्दी में फ्रायड के इस सिद्धान्त को आलोचना के क्षेत्र में व्यवहृत करने वाले आलोचकों में डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जी (एक सीमा तक ही) तथा अज्ञेय जी प्रमुख हैं।[1]

श्रीमती शचीरानी गुर्टू लिखती हैं—"अपने यहां भी विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिन्हों का अनुसरण

१— राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य पृ० १२

करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वन्द्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है।"

इसी प्रकार नगेन्द्र जी ने समस्त छायावादी काव्य को काम से प्रेरित माना है।[1]

यह स्मरण रखने की बात है कि डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के अवचेतन और चेतन के लिए आत्म और अनात्म की शब्दावली का प्रयोग किया है और इस प्रकार आत्म (जिसको कि शुद्ध आत्मा माना जाता है) के पद के पीछे डाक्टर नगेन्द्र फ्रायड के असामाजिक दमित और निर्वासित काम कुण्ठाओं के पुंज अचेतन को छिपाने का प्रयत्न करते है। अवचेतन की असामाजिक काम-कुण्ठाओं के पुंज अवचेतन को पवित्र शाश्वत नित्य और निर्विकल्प रूप देने के लिए आत्म शब्द की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी 'आलोचना' के इतिहास अंक में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए डा० नगेन्द्र की मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में ही गणना की है,—"इस समाजवादी समीक्षा पद्धति से खौफ खाकर हिन्दी में कतिपय ऐसे भी समीक्षक दिखाई देने लगे हैं जो साहित्य के नितान्त वैयक्तिक उद्‌भव-स्रोतों का उल्लेख करते है, साहित्यिक सृष्टि को दिवा-स्वप्नों का पर्याय मानते हैं, और श्रेष्ठ निर्माण के लिए महती कुण्ठा की अनिवार्यता बताते हैं। इस पद्धति के समीक्षकों में श्री अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नलिन विलोचन शर्मा आदि की गणना की जाती है।"[3]

उपर्युक्त प्रवर समीक्षकों के वक्तव्यों का विश्लेषण करने के पूर्व डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' द्वारा डा० नगेन्द्र से एक साक्षात्कार का कुछ अंश उद्धृत करना असमीचीन नहीं होगा।

डा० नगेन्द्र—सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में भारतीयकाव्यशास्त्र विदेश के काव्यशास्त्र से आगे बढ़ा हुआ है।

१— हिन्दी के आलोचक सम्पादिका शचीरानी गुर्टू पृ० ३
२— राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य पृ० ११
३— आलोचना, इतिहास अंक

विदेश के काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन और ग्रहण ने मेरी रस-दृष्टि को और भी स्थिर कर दिया; मैं काव्य में रस सिद्धान्त को ही अन्तिम सिद्धान्त मानता हूं। उसके बाहर न काव्य की गति है और न सार्थकता। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र को मैंने व्याख्या के साधन के रूप में ग्रहण किया है- वह साध्य नहीं है।

"लेकिन लोग तो आपको फ्रायडवादी कहते हैं?"

"यह गलत है। ऐसा कहने वाले मेरी कुछ उक्तियों को पूरे प्रसंग से अलग करके अपना फतवा दे देते हैं। मैंने फ्रायड के दर्शन को समग्र रूप में कभी ग्रहण नहीं किया। मैं उसे एकांगी और उसकी आधारभूत अनेक उक्तियों को दुराग्रह और अविश्वसनीय मानता हूं। काम जीवन का मुख्य अंग है, मगर सर्वाङ्ग नहीं। ऐसी दशा में मैं फ्रायड के सिद्धान्त को जीवन दर्शन के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूं।"[1]

हिन्दी में फ्रायड के सिद्धान्तों का साहित्यिक-आलोचना के सन्दर्भ में जो अध्ययन प्रस्तुत होना चाहिए था वह नहीं के बराबर हुआ है। फ्रायड का रचना-सिद्धान्त इतना गुह्य और यान्त्रिक है कि जिसका विश्लेषण मात्र 'काम' और 'यौन वर्जनाओं' की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। हां, डा० नगेन्द्र ने फ्रायड से 'काम' और 'यौन वर्जनाओं' के सूत्र अवश्य लिए हैं जो व्यक्तिवादी कविताओं के विश्लेषण के एक आवश्यक तत्व हैं। कवि अथवा साहित्यकार की इन व्यक्तिवादी अभिव्यजनाओं के मूल में जहां राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भावभूमि रहती है वहां उसके व्यक्ति मानस की रचना में उसकी दमित इच्छाओं, काम-लिप्साओं आदि की भूमिका भी कोई कम नहीं होती। अतः व्यक्तिवादी कविता के विश्लेषण में यदि डाक्टर नगेन्द्र ने काम को एक प्रमुख भूमिका दी तो वह कोई असंगत नहीं थी। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने स्वयं इस काव्य को व्यक्तिमुखी बताया है। वे लिखते हैं:—

— "सामान्य जनता अब भी निष्क्रिय और गतिरहित थी, तथा सारा समाज एक अनिश्चित सी स्थिति में पटा हुआ था। ऐसी अवस्था में साहित्य

१— "मैं इनसे मिला था" पृष्ठ १५१–५२, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

और काव्य का स्वरूप व्यक्तिमुखी होने को बाध्य था। कवियों की वाणी म सगीत है, उल्लास है, विद्रोह है और नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा है, परन्तु जाग्रति की यह सारी चेतना व्यक्ति-निष्ठ है आदर्शोंमुखी है।'[1]

डा० नगेन्द्र ने अपनी प्रारम्भिक आलोचनात्मक पुस्तका म ही कृति के विभिन्न पहलुओ पर विचार विनिमय किया है। व कभी भी अपन साहित्यिक मानो को प्रगतिवादियो प्रयोगवादियो अथवा फायडवादियो की भाँति सकीण एव जड नही बनात है। अपनी पहली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पन्त' म उन्होने आलोचना के जिन स्वस्थ बीजा का वमन किया था व निश्चित ही आज पल्लवित और पुष्पित हो रह है। इस बीच जो भी मरणवार आय हैं उनका उन्होंने उन्मूलन किया है। और उनक आलोचना क मान अनवरत रूप से विकसित होकर आज स्थिरता ग्रहण कर रह है। उनक एक आलोचक श्री अमरनाथ जौहरी ने बहुत पहले सितम्बर १९४५ म उनक साहित्यिक प्रतिमाना की व्यापकता और उन्नत्ता पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा था—

'व (नगेन्द्र) राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि पर भी मनोवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं जिसकी ओर अन्य समीक्षको ने उतना ध्यान नही दिया है, इसम उनकी समालोचना म एक प्रकार की व्यापकता तथा सम्पूर्णता आ जाती है। इससे पता चलता है कि आलोचक का मानसिक धरातल बड़ा समुन्नत है।'[2]

मेरा यह सब लिखन का तात्पर्य यहा डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्तो का विश्लेषण करना न होकर केवल यह प्रतिपादित करना है कि डा० नगेन्द्र फायडवादी आलोचक न होकर स्वतन्त्रचेता आलोचक हैं।

जहा तक फ्रायड के प्रभाव का प्रश्न है डा० नगेन्द्र पर उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' म यह सहज रूप से देखा जा सकता है। व काव्य की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखते हैं — "हमारे व्यक्तित्व म होनवाले सघर्ष मूलतया काममय हैं और चूंकि ललित साहित्य तो मूलत रसात्मक

१— नया-साहित्य नय प्रश्न— छायावाद म अनुभूति और कल्पना
२— विशाल भारत— सितम्बर १९४५

होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।"[1]

यहां डा० नगेन्द्र ने 'रसात्मकता' को कामवृत्ति से जाने क्यों अविच्छिन्न रूप से अनुस्यूत कर दिया। किन्तु यहां यदि हम 'काम' का अर्थ अंग्रेजी का सेक्स न लेकर मनोवेग लें तो इस काम की सार्वजनीनता एवं व्यापकता सहज ही सिद्ध हो जाती है। डा० सिकमण्ड फ्रायड ने 'काम' को विशुद्ध शारीरिक रूप में ही ग्रहण किया है। हमारे भारतीय मनीषियों की भांति वे काम को व्याप्ति प्रदान नहीं कर सके। डा० नगेन्द्र ने अपने 'विचार और विवेचन' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में प्रेमचंद के मनः स्वास्थ्य की प्रशंसा की है।[2]

फ्रायड के सिद्धान्त को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूं कि विश्व-साहित्य का वृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सम्वर्धन प्राप्त करता है.. हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम लिप्त हैं। प्रेमचंद ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है।[3]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि डाक्टर नगेन्द्र ने साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग माना है। किन्तु निश्चित ही वे इस योग को उत्कृष्ट नहीं मानते— स्वस्थ नहीं मानते और वे चाहते हैं कि प्रेमचंद की भांति अन्य कलाकारों में भी वैसा ही मानसिक स्वास्थ्य हो, वे काम-ग्रन्थियों से निलिप्त रहें।

हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने जो डा० नगेन्द्र के उक्त कथन को पढ़कर उन्हें विशुद्ध फ्रायडवादी कह दिया है— वे या तो सिकमण्ड फ्रायड के मनः रचना सिद्धान्त की दुरूहता और उसके व्यवहार से परिचित नहीं हैं अथवा उन्होंने डाक्टर नगेन्द्र के ही शब्दों में—

१– 'विचार और अनुभूति'
२– 'विचार और विवेचन' पृ० ९३
३– 'विचार और विवेचन' पृ० ९३

"मेरी कुछ उक्तियों को पूरे प्रसंग से अलग करके अपना फतवा दे दिया है।"[1]

काम, जिसका कि विकास फ्रायड के अनुसार विशुद्ध शारीरिक है और ऐन्द्रिय भी है, डाक्टर नगेन्द्र यहाँ तक कि सामान्य काव्य की बात तो दूर शृंगार रस में भी इसका निषेध करते हैं —

"ऐन्द्रिय वासनायुक्त कामोद्रेक, जिसमें शारीरिकता का ही प्राधान्य हो, शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।"

फ्रायड के नाम के साथ उन्होंने कामाश्रित स्वप्न कल्पनाओं को अनस्यूत किया है। ये कामाश्रित स्वप्न कल्पनाएं फ्रायड के रचना-विधान की पूर्ण पुष्टि में न होकर जो कि गर्भावस्था से ही विकसित होकर आगे जिनका उन्नयन होता है वरन् भारतीय रस शास्त्र के सिद्धान्तों के ही अनुकूल है।

डा० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आज के विकसित मनोविज्ञान- 'उद्दीपन' Stimulas प्रतिक्रिया Response तथा वातावरण (एनविरनमेन्ट) के मङ्लेषण में सदभूत व्यवहारवाद है न कि मनोविश्लेषणवाद। डा० नगेन्द्र ने अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों में 'वातावरण' की कहीं भी अवहेलना नहीं की जबकि फ्रायड सर्वदा उसका तिरस्कार करते ही चले हैं। वस्तुत मनोविज्ञान का यह 'व्यवहारवाद' (Behaviourism) हमारे रस शास्त्र में समाहित है। 'स्थायी भाव' रस, विभाव और अनुभाव आदि की भारतीय व्याख्या मनोविज्ञान के अंतर्गत ही आयेंगी।

किन्तु मेरे उपर्युक्त विश्लेषण का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि डा० नगेन्द्र ने फ्रायड की अवहेलना की हो। फ्रायड द्वारा निरूपित अवचेतन मन का उन्होंने साहित्य की व्याख्या के लिए उपयोग किया है—वह साधन रूप में है व्याख्या की विधि मात्र। वे मनोविज्ञान की मनोविश्लेषणवाद की सीमाओं और उसकी खामियों से भलीभांति परिचित हैं।

इस सम्बन्ध में फ्रायड पर लिखा हुआ उनका लेख उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं कि फ्रायड का मनोविश्लेषण वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक है। फ्रायड के निष्कर्ष स्वस्थ व्यक्तियों की मानसिक स्थिति पर आधृत नहीं हैं—

१— 'मैं इनसे मिला था'— डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' पृ० १२१

विकृतियों के आधार पर प्रतिपादित जीवन दर्शन स्वरूप मानव का जीवन दर्शन कैसे हो सकता है।

"यह एकांगी है–काम जीवन की मूल वृत्ति तो अवश्य है परन्तु वह अंग ही है सर्वांग नही। फ्रायड का जीवन दर्शन अभावात्मक है, उसमे समाधान नही है, साथ ही वह व्यक्ति तक ही सीमित है, समष्टि के लिए उनके पास कोई संदेश नही है, उसमे समाधान नही है।"[1]

फ्रायड पर की गई यह आलोचना अत्यधिक ठोस और व्यावहारिक है और डाक्टर नगेन्द्र के उदार दृष्टिकोण का भी द्योतक। अतः मनोविश्लेषणवाद भले ही डाक्टर नगेन्द्र के कतिपय आलोचनात्मक निबन्धो की व्याख्या का साधन रहा हो पर उन्होंने इस जीवन दर्शन को कही भी पूर्ण रूप से स्वीकार किया हो ऐसा नही जान पड़ता।

पं० इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी का नाम भी मनोविश्लेषणवाद के साथ अविच्छिन्न रूप से अनुस्यूत है। प० इलाचन्द्र जोशी ने अपनी प्रारम्भिक पुस्तको 'साहित्य सर्जना' और 'विवेचना' दोनों मे न केवल आधुनिक साहित्य को मनोविश्लेषणवाद के मान दण्डो से परखा है, अपितु विभिन्न काल के साहित्य को भी मनोविश्लेषणवाद के मान दण्डों से परखा है।

वे तो 'मनोविश्लेषणवाद' और 'प्रगतिशीलता' दोनों को ही पर्याय मानते है। वे भारतीय साहित्य मे प्रगतिशीलता की परम्परा शीर्षक लेख मे लिखते है "मीरा ने ऐसी भावमग्नता और तन्मयता के साथ कृष्ण के प्रति अपना स्त्रीजनोचित प्रेम प्रकट किया है, जिसकी तुलना अन्य किसी वैष्णव कवि की भाव-विमोहता को नही हो सकती। अपनी दबी हुई यौन प्रवृत्ति को उन्होंने सुस्पष्ट (छायात्मक अथवा रहस्यवादी नही) प्रेमानुभूति की सघनता द्वारा ऐसा सुन्दर, उन्नत और परिमार्जित और स्वस्थ रूप दिया है जो किसी भी प्रगतिशील युग के पाठको को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। यह माना कि मीरा ने अपने अधिकांश रहस्यवादी रूपकों को अपने अवचेतन

१– देखिये, विचार और विश्लेषण।

मन की 'फन्टजियो' से लिया है।'[१]

प० इलाचन्द्र जोशी के लिए मीरा की विशेषता जो कि किसी भी प्रगतिशील युग के पाठकों को प्रभावित कर सकती है वह है 'कृष्ण के प्रति अपना स्त्रीजनोचित प्रेम प्रकट करना'। मानो उनके लिए साहित्य का उद्देश्य ही स्त्रीजनोचित प्रेम प्रकट करना ही हो।

जब हिन्दी आलोचना में अथवा अन्य भाषा के समीक्षाशास्त्र में किसी सिद्धांत विशेष के प्रभाव अथवा ग्रहण का प्रश्न खड़ा होता है—तब इस प्रभाव और ग्रहण से तात्पर्य उस जीवन दर्शन विशेष को अक्षरशः उतारना नहीं होता। साहित्य में तो केवल उस दर्शन विशेष की मात्र कतिपय मान्यताओं का प्रयोग किया जायेगा जो कि साहित्य से सीधा सीधा सम्बन्ध रखती हैं। मनोविश्लेषणशास्त्र का उपयोग भी हिन्दी आलोचना में इसी भांति हुआ है। अतः प० इलाचन्द्र जोशी ने साहित्य का मूल उद्गम और साहित्यकार के उद्देश्य को फ्रायड से ही ग्रहण किया है। अतः वे आधुनिक मनोविज्ञान 'व्यवहारवाद' (बिहेवियरिज़म) की अवहेलना करते हैं उस वातावरण कि जिसमें मीरा का चेतन मन ... उसके मानस का निर्माण हुआ था और जिसके फलस्वरूप उसने अपने युग से विद्रोह किया था। यह विद्रोह अवचेतन का विद्रोह न होकर कलाकार के चेतन का विद्रोह था। 'कलात्मक रचना' की उद्भावना के सम्बन्ध में प० इलाचन्द्र जोशी फ्रायड की 'आब्सेंस्ट फैंटेसिस' को ही प्राथमिकता देते हैं। इन्हीं दमित, छायाभासों को ही उन्होंने मीरा-काव्य का प्राण माना है। काव्य की उद्भावना के बारे में वे लिखते हैं—

हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अंग-संचालन प्रत्येक गतिविधि हमारे अज्ञात में हमारी अन्तर्चेतना द्वारा परिचालित होती है। हमारी मूल भावनायें सहज स्वाभाविक जन्म जात मनोवृत्तियां जब सामाजिक शासन चक्र-द्वारा बाधा पाती हैं, तब हमारा सचेत मन उन सहज प्रवृत्तियों को हमारी अन्तश्चेतना के भीतर दबा देता है, वहाँ वे ऐसी दबी पड़ी रहती है कि फिर वे आसानी से ऊपर को उठ नहीं पाती। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं तब हमारे सचेत मन का

१— विवेचन, पृ० १६

भूकम्प के प्रचण्ड धक्कों से हिला देती है। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी 'अज्ञात शक्ति' की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है।"[1]

फ्रायड के अतिरिक्त प० इलाचन्द्र जोशी ने कला के क्षेत्र में आडलर के सिद्धान्तों को भी अपनाया है। कहीं फ्रायड को और कहीं आडलर का अनुगमन करने के कारण जोशी जी अपनी आलोचना के कोई निश्चित मान स्थिर नहीं कर सके। आडलर द्वारा प्रतिपादित हीनता की ग्रन्थि और क्षति पूर्ति के सिद्धान्तों को छायावादी कवियों पर लागू करते हुए वे कहते हैं:—

"छायावादी कवि अपनी आन्तरिक दुर्बलता की क्षति पूर्ति अपने स्वयं सृष्ट काल्पनिक लोक में छायामयी शक्ति प्राप्त करते रहे हैं, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस छाया शक्ति से वे बराबर जनता पर अपनी धौंस जमाते आये हैं। नीत्शे ने जिस प्रवृत्ति को Will to Power (शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा) कहा है, वह अपनी हीनता और अशक्तता के बोध से पीड़ित कवियों में स्वभावत: विभिन्न रूपों में वर्तमान पाई जाती है।"[2]

इस भांति इलाचन्द्र जी सम्पूर्ण मनोविश्लेषणशास्त्र से यानी फ्रायड, आडलर और युग तीनों से साहित्य के सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। इन तीनों मनीषियों में भी वे आडलर और फ्रायड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी विचारणाओं को ही अधिमान्यता प्रदान करते हैं। वे लिखते हैं—"कवियों के शैशव कालीन जीवन के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे किसी न किसी कारण आत्मग्लानि की भावना से विशेष रूप से पीड़ित रहे हैं। कोई अपने विशेष अंग की विकलता के कारण अपने शैशव-सहचरों की तुलना में अपने को शारीरिक रूप से असमर्थ पाकर अपनी हीनता की अनुभूति से दबता रहा है... अत्यधिक आत्मग्लानि की भावना से पीड़ित कवि अनन्त छायालोक पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए विकल हो उठता है।"[3]

१— विवेचना, पृ० ५५
२— वही, पृ० ६४
३— वही, पृ० ५८

ऐसा लगता है कि जोशी जी ने आडलर के सिद्धान्तो का अक्षरश उतार दिया हो। युग द्वारा प्रतिपादित अन्तर्व्यक्तित्व (Introvert) तो उनकी आलोचना में हर स्थान पर मिलता है।

आडलर के सिद्धान्तो के प्रति गहरी आस्था होते हुए भी जोशी जी आडलर द्वारा प्रतिपादित वातावरण की महत्ता को कहीं भी स्वीकार नहीं कर सके और वे 'अन्तश्चेतन', 'अन्तर्व्यक्तित्व' एव 'हीनता की ग्रंथि और प्रतिपूर्ति के सिद्धान्तो का ही अनुकरण करते रहे। किन्तु अपनी 'साहित्य सर्जना' एव 'विवेचना' के पश्चात उनकी दृष्टि मनुष्य के बाह्य जीवन की ओर भी गई है। उन्होने मनोविश्लेषणवाद के एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भी उसे व्याप्ति दी है। *कई स्थानो पर 'विश्लेषण' नामक ग्रन्थ में* ऐसे कितने ही स्थल हैं जहाँ पर जोशी जी ने फ्रायड के सिद्धान्तो की सकीर्णता की परिधि को लाघा है।

वे लिखते हैं --

"मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन, अर्द्ध चेतन मन तक ही सीमित नही है। वह असख्य स्तरो में विभक्त है, जिनमे से अधिकाश स्तर साधारण चेतना की अवस्था मे हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते है। जिन अबोधित प्रवृत्तियो का दमन करते जाते हैं वे किन्ही स्तरो मे जाकर उन्हीं मे घुल मिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक न एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओ मे एक नहीं अनेक स्तर, एक साथ दूसरे से टकराते हुये, सचेत मन पर आकर हमला करते है और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तल मे निहित कौन स्तर कब और क्या उठकर तूफान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है।'[१]

इस भाति श्री जोशी जी ने फ्रायड की मन रचना के जड विभाजन का स्वीकार किया है। यों भी आज का विकसित मनोविज्ञान फ्रायड के मन विभाजन का स्वीकार कर चुका है। मन का हम इस भाति विभाजित कर उसे जड नहीं बना सकते। उस पर वातावरण, देश काल भूगोल, परिवार

१-- विश्लेषण, पृ० १०९।

समाज आदि का किस प्रकार प्रभाव और कितना प्रभाव पड़ता है, यह अज्ञेय ही है। चेतन मन की सतत क्रिया किस वस्तु विशिष्ट से किस प्रक्रिया स्वरूप किस भाव और संवेग को अनुभूत कर लेती है ? यह अनुभूति समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों की होती है अथवा नहीं इन सब प्रश्नों का प्रत्युत्तर मनोविश्लेषणवादियों के पास नहीं है। सब कुछ अनुमानगत ही है, स्पष्ट तथ्यों के आधार पर कुछ भी नहीं।

श्री जोशी ने स्वयं फ्रायड का विरोध करते हुए लिखा है :–

"उसके (फ्रायड) कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन–प्रवृत्ति है, और जितनी सुकृतियाँ सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं, वे भी दमित यौन-प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं। गरज यह कि मानव–जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-प्रवृत्ति। यह कैसा एकांगीय और संकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी। यह ठीक है कि यौनप्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अणु-शक्ति निहित है, जिसके अनियन्त्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन पर भयावह प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनियन्त्रण से जीवन के सुचारु सञ्चालन में एक बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पर समस्त मानवीय भावनाओं, मनुष्य की सभी सुख-दु:खमयी वेदनाओं और आकांक्षाओं की मूल नियन्ता एक मात्र यही प्रवृत्ति है, ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा। असंख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो यौन-भावना से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखतीं, और जो मानव के संघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओं की ओर धक्का देती रहती हैं।"[1]

इस भाँति 'साहित्य सर्जना' और 'विवेचना' के पश्चात् जोशी जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों की परिधि फ्रायड से आगे बढ़ी है और उन्होंने स्थान-स्थान पर व्याप्ति प्रदान की है। यही नहीं जोशी जी ने अन्तश्चेतन और बहिर्चेतन के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध निरूपित कर सचेतन मन को प्रश्रय दिया है। वे तो बाह्य चेतना के अभाव में सूक्ष्म की कल्पना ही नहीं कर सकते।[2]

१– आलोचना–३

२– 'विवेचना', पृ० २२

इसीलिए उन्होंने कई स्थानों पर फ्रायड और मार्क्स के समन्वय की बात भी कही है।

वे लिखते हैं– 'जब तक हमारे साहित्यिक और साहित्यालोचकगण अंतर्जगत के दृष्टिकोण से बाह्य प्रगति को समझने का प्रयास नहीं करेंगे और उसी प्रकार बाह्य जगत के दृष्टिकोण से अंतर्जगत का ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक साहित्य एकांगीयता और अधकचरेपन के दोष से किसी प्रकार बच नहीं सकता।"[1]

अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं– 'वास्तव में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। जब तक हमारे साहित्यिक इस सामंजस्य मूलक दृष्टिकोण को नहीं अपनाते तब तक स्वस्थ और शक्तिशाली साहित्य की सर्जना असम्भव है।'

हिन्दी साहित्य में फ्रायड और मार्क्स के समन्वय की बात सर्वप्रथम इलाचन्द्र जी ने ही प्रारम्भ की थी जो आज आलोचना में अत्यधिक प्रचलित है। इस प्रकार के समन्वय को प्रच्छन्न रूप से हिन्दी के निरपेक्ष आलोचक पं० विनयमोहन शर्मा ने भी की है–

"मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकांगीपन का अब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। उन्होंने फ्रायड का सहारा लिया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि मार्क्सवाद की एकांगिता नष्ट करनी है तो फ्रायड के मानस-तत्वों को अपनाना होगा।'[2]

यही नहीं हिन्दी के अन्य आलोचकों ने भी जो फ्रायड और मार्क्स के मूलतत्व दर्शन को समझने में अक्षम हैं, उन्होंने भी पं० इलाचन्द्र जोशी के इस समन्वय को न केवल सहानुभूति से परखा है अपितु उसे सराहा भी है। श्री रामेश्वर शर्मा इलाचन्द्र जी की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं–

'इलाचन्द्र जी इस दृष्टिकोण से समन्वयवादी रहे हैं, जहाँ डा० नगेन्द्र केवल फ्रायड के मनोविश्लेषण को ही शुद्ध मनोविश्लेषण मानकर केवल

१– 'विवेचना', पृ० २३
२– कवि प्रसाद, पृ० २८

उसी को साहित्यालोचन का एक मात्र आधार मानने का आग्रह करते हैं जहां इलाचन्द्र जी का दृष्टिकोण अधिक व्यापक तथा समन्वयकारी रहा है। फ्रायड के दृष्टिकोण की सकीर्णतायें और उसके घातक प्रभाव से वे परिचित जान पड़ते हैं। इसीलिये आलोचना के क्षेत्र मे भी वे फ्रायड और मार्क्स को मिलाने की बात करते हैं।"[1]

हिन्दी के ये आलोचक, मार्क्स और फ्रायड का समन्वय करने की बात करते हैं वे इन दोनो विचारधाराओं के इस मोटे सत्य से अपरिचित हैं कि मार्क्सवादी कला के क्षेत्र मे वस्तु सत्य को अथवा वस्तुवादी धारणा को अन्तश्चेतन अथवा भाव-जगत का निर्णायक मानते हैं जबकि फ्रायड-वादी कला के क्षेत्र मे समस्त कलात्मक सर्जना को अवचेतन मन की ही उपज मानते हैं। ये दो दोनों विचारधाराओं के आधारभूत छोर हैं जो कभी भी मिल नही सकते। पं० इलाचन्द्र जोशी ने मार्क्स और फ्रायड का जो समन्वय करने की बात कही है वह केवल फ्रांस अथवा अन्य पाश्चात्य देशों के अति यथार्थवादी अश्लील साहित्य को प्रगतिशीलता का बाना पहनाने के लिए ही। कुछ उनके मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के सम्बन्ध में भ्रम भी है। मार्क्सवाद के सम्बन्ध मे उनकी जो फ्रायड के साथ समन्वय करने की धारणा है उसमें वे प्रच्छन्न रूप मे पूर्वग्रही होकर अपने मानो को स्थिर करते है कि मार्क्सवाद फ्रायडवाद की भाति परम्परा का सर्वथा विरोधी है और जो पुराचीन है उसे नष्ट करना चाहता है तथा एक ही आधार पर नये का स्वागत करता है कि 'पुराचीन ऐसा था'। वे शरद् के पात्रों की अयथार्थ-वादिता और आदर्शवादिता चित्रित करते हुए लिखते हैं—

"यदि अपने इन सब नायकों और नायिकाओं को शरद् ने प्रकट रूप से या सकेत रूप द्वारा आदर्श रूप न माना होता, तो हमें इस बात की कोई शिकायत न होती कि उनमे परम्परा के साथ विद्रोह करने की चारित्रिक दृढ़ता नही रही। एक यथार्थवादी कलाकार का आधा कर्तव्य (पूरा नही) अपने पात्रों का (चाहे वे चरित्रवान् हों या चरित्रहीन) यथार्थ चित्रण कर चुकने पर समाप्त हो जाता है। पर शरद् ने अपने मनोविकारग्रस्त और आत्मपरायण पात्रों को आदर्शरूप माना है और उनके प्रति अपना आन्तरिक

१— राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य, पृ० १४

पक्षपात बताया है।"

शरद् के पात्रों के साथ सहमत न होने का जोशी ने कारण दिया वह यथार्थ और आदर्श का उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि जोशी जी का अति यथार्थवाद से लगाव। जोशी जी के कई तर्क ऐसे लगते हैं जैसे कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर पर लिखते हुए गोपियों पर आक्षेप किया था कि गोकुल और मथुरा के बीच का फासला तो केवल चार मील का ही है— गोपियाँ चली क्यों नहीं गईं ?

इस भाँति इलाचन्द्र जी अपने मानों को स्थिरता नहीं प्रदान कर सके। उनके स्वयं के मस्तिष्क में अनेकों पाश्चात्य वादों का जाल बिछा होने के कारण उनके आलोचना-सिद्धान्तों में अस्थिरता, असंगतता तथा अनेकता मिलना स्वाभाविक ही है। उन्होंने भारतीय साहित्य को भारतीय जलवायु में, यहाँ की अपनी विशिष्ट सामाजिक रचना, युगीन परिस्थितियाँ आदि को साहित्य का आधारभूत मानकर नहीं परखा। यही कारण है कि उनके आलोचना के मान साहित्य का मूल्यांकन करते समय साहित्य से पृथक्कार नहीं हो पाते— विश्लेषण के समय कृति और आलोचना के मान दोनों अलग-अलग दृष्टिगत होते हैं।

न तो उनके पास हमारे साहित्य के स्वतन्त्रचेता आलोचकों-सी निष्पक्ष दृष्टि ही है और न आचार्य शुक्ल की मौलिक सूझ। यही कारण है कि आलोचना के क्षेत्र में इतना लिखा जाने पर भी जोशी जी इस क्षेत्र में अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सके।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में तीसरा तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम श्री अज्ञेय जी का है। अज्ञेय हिन्दी-साहित्य में जहाँ प्रयोगवाद के जनक समझे जाते हैं और जितना इस क्षेत्र में उन्होंने ख्याति प्राप्त की है उतने ही वे हिन्दी जगत में अपने विरोधाभासों के लिए प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः न तो उन्हें पूर्ण रूप से मनोविश्लेषणवादी ही कहा जा सकता है और न इलियटवादी। अज्ञेय जी के पास कोई ठोस जीवन-दर्शन न होने के कारण वे समय-असमय आलोचना के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में प्रचलित आधुनिक वादों का अपना लेते हैं और नवीनता के अनन्य आराधक अज्ञेय इन वादों द्वारा हिन्दी-साहित्य

का मूल्यांकन करते रहते है। फलस्वरूप उनके आलोचना के प्रतिमानों मे कही भी हमे स्थिरता के दर्शन नहीं होते है।

जहाँ तक फ्रायड के प्रभाव का प्रश्न है अथवा उनका फ्रायडवादी होने का प्रश्न है, निश्चित ही उन्होने साहित्य मे कुण्ठित यौन-इच्छाओ और यौन-वर्जनाओ को साहित्य का मूल उत्स माना है। अज्ञेय जी का त्रिशंकु मे लिखित निम्नांकित सूत्र फ्रायड की चिन्तन परम्परा मे ही आयेगा।

"आज का हिन्दी-साहित्य अधिकाश मे अतृप्ति का, या कह लीजिये लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।"[1]

यही नही अपने द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' (१९४३) की भूमिका मे वे स्पष्ट लिखते है— "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति 'सेक्स' सम्बन्धिनी वर्जनाओ से आक्रात है; उसका मस्तिष्क दमन की गई 'सेक्स' की भावना के भार से दबा रहता है। उसकी सौन्दर्य-भावना भी 'सेक्स' से उत्पीड़ित है और उसकी उपमायें रूपक यौन सम्बन्धी प्रतीक है। कभी-कभी जब प्रतीकों द्वारा व्यक्ति सत्य को पहचानता है तो वह परिस्थिति से ऐसा भागता है कि जैसे कोई विद्युत प्रहार से चौंक उठा हो।"[2]

फ्रायड के काम सिद्धात के अतिरिक्त अज्ञेय जी ने आडलर को भी अत्यन्त महत्व दिया है, कदाचित फ्रायड से भी अधिक। किन्तु आडलर को उन्होने सैद्धान्तिक रूप से ही ग्रहण किया है; मूल्याकन सम्बन्धी आलोचना मे तथा अपने रचनात्मक साहित्य मे फ्रायड को ही अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' शीर्षक अपने सैद्धान्तिक निबन्ध मे वे लिखते हैं:—

"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न-अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[3]

उस समय के मानव-समाज (उस प्रकार के यूथ को 'समाज' कहना हास्यास्पद लग सकता है, लेकिन 'समाज' का मूल रूप यही विस्तारित

१— त्रिशंकु, पृ० ४७
२— 'तारसप्तक', पृ० ७६
३— त्रिशंकु, पृ० २६

कुटुम्ब रहा होगा) की कल्पना कीजिये और कल्पना कीजिए उस समाज के ऐसे प्राणी की, जो युवावस्था में ही किसी कारण— सर्दी खा जाने से या पेड़ पर से गिर जाने से या आखेट में चोट लग जाने से— किसी तरह कमजोर हो गया है।[1]

आगे—

"और क्या स्वयं उस व्यक्ति को इसका तीखा अनुभव न होता होगा? क्या बिना बताये भी वह इस बोध से तड़पता न होगा कि वह अपात्र है किसी तरह घटिया है, क्षुद्र है? क्या उसका मुंह इससे छोटा न होता होगा और इस अकिंचनता के प्रति विद्रोह न करता होगा।"[2]

आडलर के इस हीनता के सिद्धांत को वे अपने मूल्यांकन सम्बन्धी आलोचना में कहीं भी व्यावहारिक स्वरूप प्रदान नहीं कर सके। व्यावहारिक आलोचनाओं में अज्ञेय जी ईलियटवादी हैं, अपने रचनात्मक साहित्य में कहीं फ्रायड को तो कहीं ईलियट का समर्थन करते हुए दृष्टिगत होते हैं और उपर्युक्त लेख में वे शतप्रतिशत आडलर का अनुगमन करते हैं। किन्तु आडलर के अनुगमन में भी वे आडलर द्वारा प्रतिपादित वातावरण की महत्ता की अवहेलना ही करते हैं और विशुद्ध हीनता की ग्रन्थियों को अपने सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु मानकर चलते हैं। यही कारण है कि उनके ऐसे लेख सूत्र मात्र बनकर रह जाते हैं जिनका साहित्य के जीवन्त सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

यों भी अज्ञेय जी ने आलोचना के क्षेत्र में बहुत कम लिखा है। केवल नवीनता के नाते, एक नया शिगूफा छोड़ने वाले के रूप में उनकी गणना है। 'प्रयोगवाद' के दो सकलन सम्पादित कर देने के कारण तथा उनकी विस्तृत भूमिका एवं उनमें प्रयोगवाद की सिद्धांत चर्चा के कारण हिंदी के कई सुधी आलोचकों ने उन्हें आलोचक के आसन पर आसीन कर दिया है। किंतु वास्तव में आलोचक की अपेक्षा कथाकार और कवि ही तुलनात्मक रूप से अच्छे हैं। आलोचक स्थितप्रज्ञ होता है उसमें जो निरपेक्ष एवं तटस्थ मूल्यांकन क्षमता होती है वह अज्ञेय जी में कम है। फ्रायड, आडलर, डी० एच०

१– त्रिशंकु, पृ०२४-२५
२– वही,

लारेन्स तथा टी० एस० ईलियट के विचारों को साहित्य की विभिन्न विधाओं में उन्मेष करने के कारण भले ही हिन्दी के कतिपय लेखक (पाठक नहीं) उन्हें आलोचक समझ ले किन्तु हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों के लिये अज्ञेय जी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति आलोचकों सा स्थान नहीं बना पाये।

इस भांति हम कह सकते है कि अज्ञेय जी द्वारा 'नोस्टेल्जिया' तथा 'इच्छित विश्वास' आदि द्वारा की हुई आलोचना फायड के सिद्धांतों के अन्तर्गत आयेगी। 'अपर्याप्तता' असहिष्णुता' 'अहम्मन्यता' एवं 'दुर्विनीत श्रेष्ठता' आदि को केन्द्र में रखकर जो उन्होंने साहित्य-सिद्धांतों की चर्चा की है, वह आडलर के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अन्तर्गत आएगी।[1]

किन्तु जैसा कि ऊपर निरुपित किया गया है, आलोचना के क्षेत्र में उनका काम बहुत थोड़ा है। और वे सभी दिशा की ओर अनुधावित होने के कारण किसी मार्ग विशेष का अनुसन्धान नहीं कर पाये, अपने आलोचना के सिद्धांतों में स्थिरता नहीं ला पाए।

उपर्युक्त विश्लेपित आलोचकों के अतिरिक्त इस श्रेणी के आलोचकों में पण्डित नलिनविलोचन शर्मा का नाम भी लिया जा सकता है। नलिन-विलोचन के 'दृष्टिकोण' के कई लेख इस श्रेणी की आलोचना में ही आयेंगे किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक, आलोचनात्मक निबन्धों में केवल मनोविश्लेषणवादी विचारधारा को ही प्रश्रय दिया है, उन्होंने इस के साथ-साथ आज के उन्नत मनोविज्ञान 'वतीववाद' को भी महत्ता दी है। फिर श्री नलिनविलोचन शर्मा, अज्ञेय और इलाचन्द्र जी जैसे भारतीय काव्यशास्त्र से तथा भारतीय सांस्कृतिक उपलब्धियों से अपरिचित नहीं हैं। अतः उन्होंने अपने 'दृष्टिकोण' में मनोवैज्ञानिक विचारणाओं को केवल साधन के रूप में ही अपनाया है; साध्य के रूप में भारतीय रस-वाद ही है।

किन्तु रसवाद बहुत प्रच्छन्न रूप से ही उनके आलोचनात्मक निबन्धों में आता है; यों तो वे अपने मौलिकता और नवीनता के फेर में पाश्चात्य

१- त्रिशंकु, पृ० २७

आलोचना शैली के फेर में ही पड़े रहते हैं और विषय को उलझा देते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध में प्रेमचन्द और जैनेन्द्र तथा तुमनव और दास्ता वस्की विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी आलोचना में आज यह विचारधारा तथा मनोविश्लेषणात्मक शैली मतप्राय ही है। इसका एकांगी दृष्टिकोण होने के कारण आज यह बात एक सार्वजनीन सत्य का रूप धर चुकी है कि मनोविश्लेषणवादी विचारधारा साहित्य का विश्लेषण करने में न केवल अक्षम ही है अपितु दोषपूर्ण भी है। हिन्दी के किसी भी मनोविश्लेषणवादी आलोचक ने किसी एक भी लेखक का उस गहराई से मूल्यांकन नहीं किया जिसमें कि इस विचारधारा अथवा इस शैली का सामर्थ्य प्रकट हो जाता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में —

"पश्चिम में अन्तश्चेतना विज्ञान के तथ्यों का उपयोग कर कतिपय अच्छी कृतियां भी प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु वहाँ यह विज्ञान साहित्य की परम्परा प्राप्त बद्ध-मूल चेतना को उखाड़ फेंकने का असम्भव कार्य नहीं करता, बल्कि नयी शैलियों और भाव-भूमियों के आविष्कार द्वारा उक्त चेतना को और भी व्यापक और परिपुष्ट बनाता है। लियोनार्डो विन्सी के मार्मिक चित्रों और शेक्सपियर के हैमलेट जैसे पात्रों के मनोविश्लेषण द्वारा उन गम्भीर अन्तर्द्वन्द्वों का परिचय मिलता है जो उक्त कलाकारों के सम्बन्ध में हमारी श्रद्धा को बढ़ाने वाले सिद्ध हुए हैं, परन्तु हिन्दी साहित्य में अब तक ऐसा उत्तरदायित्वपूर्ण मनोविश्लेषण न तो रचना के क्षेत्र में और न समीक्षा के क्षेत्र में ही दिखाई देता है। साहित्य सम्बन्धी ऐसे अधूरे और अध-कचरे विश्लेषणों से बचे रहना ही अच्छा है जो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचा सकते हैं।"[1]

मनोविश्लेषणवाद की सीमायें

फ्रायड अन्तश्चेतन को ही निर्णयकारी तत्व मानते हैं जब कि यह चेतन द्वारा ही निर्मित होता है। वास्तव में अन्तश्चेतन का अस्तित्व बिना चेतन की क्रिया-प्रक्रिया के सम्भव ही नहीं, उसकी कल्पना ही नहीं की जा

१— नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० २७

सकती । यह अन्तश्चेतन वस्तुतः वातावरण और संस्कारो से निर्मित मनुष्य की एक मनोवैज्ञानिक मनोदशा के अतिरिक्त और कुछ नही ।

'काम' को जो फ्रायड जीवन के अर्थ से एक परिचालन शक्ति मानता है उसका आधार वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक ही है । अतः उसके स्वभाव के विभाजन अवैज्ञानिक और असंगत ही है ।

यौन-वर्जनाओ और कुण्ठित लिप्साओ को प्रेरणा का मूल विन्दु कहना तथा तज्जनित प्रतीक योजनाओ और स्वप्न परिकल्पनाओ से साहित्य का उत्स मानना साहित्य के मूल स्वरूप पर ही कुठाराघात करना है । साहित्य विकृत मस्तिष्क की उपज न होकर स्वस्थ मस्तिष्क द्वारा सृजित एक महत् अनुष्ठान है ।

फिर मनोविज्ञान जहा तक कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के प्रयोग मे आता हो वहा तक तो फिर भी सह्य है किन्तु जहाँ साहित्य मे मनोविज्ञान देखने का आलोचक साहस करते है वह तो नितान्त उनकी हठधर्मी के अतिरिक्त और कुछ भी नही है । साहित्यिक आलोचनाओ और मनोविज्ञान मे एक विभाजन रेखा हर्बर्ट रीड ने खीची है ।[1]

जहाँ तक शुद्ध फ्रायड के सिद्धान्तो का प्रश्न है वे चिकित्सा-प्रणाली अथवा अन्तश्चेतन के अनुपेक्षण के लिए ही निर्मित हुए हैं । विकृत मस्तिष्कों के अध्ययन-मनन और तदनुसार प्रदत्तो (डेटा) को सकलित कर उनके साथ मुक्त ससर्ग संस्थापना द्वारा उनका उपचार यही फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का मुख्य लक्ष्य है । अतः साहित्य मे फ्रायडियन मनोविज्ञान का उन्मेष—उसके माध्यम से साहित्य का विश्लेषण और परीक्षण कुछ कम ही समीचीन लगता है ।

मनोविश्लेषणशास्त्र मे साहित्य को कुछ प्राप्त होने की आशा अत्यल्प है बल्कि यह कहा जा सकता है कि साहित्य के मनोविश्लेषणवादियो को यदि वे साहित्य का अपने ढग से अध्ययन करें तो निश्चित ही उन्हे कुछ प्राप्त हो सकता है ।

फ्रायडवादियो ने 'वातावरण' के प्रभाव को सर्वथा अस्वीकार किया

---

1. Collected essays in Literary Criticism P. 126

है। जबकि वस्तुत बात यह है कि मानस का प्रत्येक आलोडन-विलोडन वातावरण से उद्दीपन तथा मानस की प्रक्रिया स्वरूप होता है। चेतन और अवचेतन की रचना तथा उसमे होने वाले आवर्तन प्रवर्तन इसी वातावरण के फलस्वरूप है। मनुष्य की केवल अकेली इन्द्रिया ही कार्यरत नही रहती। यही नही उपर्युक्त उद्दीपन के अभाव म इन्द्रियो की मौलिक शक्ति मद पड जाती है। काडवेल ने फ्रायड के वातावरण की अवहेलना पर प्रहार करते हुए यही बात कही है।

इस भाति वातावरण की महत्ता सहज ही अनुमानित की जा सकती है। अन्तश्चेतन म कम महत्वपूर्ण वातावरण नही होता।

फ्रायड भावों का सम्बन्ध सीधा वस्तु जगत से न मानकर उस पर अवचेतन का पर्दा डाल देते हैं तथा सामाजिक प्रतिरोध की अवतारणा कर अपनी धारणाओ की पुष्टि करते हैं-किन्तु वास्तव म बात यह नहीं है। वातावरण और सस्कारो से उसकी वस्तुस्थितियो से ही चेतन मन की सृष्टि होती है और अवचेतन इन्ही वस्तुस्थितियो-जो किसी व्यक्ति विशेष की सहज और ऋजु न होने के कारण उलझी हुई होती है की प्रतिच्छाया मात्र है। वस्तुस्थितिया से निर्मित यह अन्तश्चेतन भले ही व्यक्ति विशेष गौण रखे किन्तु उसके स्वभाव और प्रकृति म उसकी कार्यप्रणाली मे निश्चित ही आभासित हुये बिना न रहेगा। इन नाना स्वप्नच्छायाओ का अवचेतन की भीतरी पर्त म न जाना तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करना यह सब अनुमानित है व्यावहारिक नही।

वास्तव मे फ्रायड की यह अवचेतन की अवतारणा और उसे इतनी गुह्य बना देना, चाहे मानसिक रोगों के लिए (जो आज उसके लिए भी अप्रभावशील सिद्ध हो चुकी हैं) भले ही हो पर साहित्य के लिए इतना अतल व्यक्तिवाद निष्प्रयोजन ही है। साहित्य सामाजिक अनुभूतिगत प्रक्रिया है व्यक्ति स्वय से ऊचा उठकर ही साहित्यकार का आसन ग्रहण कर सकता है-तभी वह अपनी तथा अपने लक्ष-लक्ष पाठको की अपरिसीम भावनाओ एव सवेगो का सस्कार करने और उचित दिशा देने म सक्षम हो सकेगा।

युग ने अवश्य ही फ्रायड की अपेक्षा अधिक तात्विक मार्ग अपनाया। किन्तु व्यक्तित्व के दो जड विभाजन कर इन्हे म अतर्मुखी और बहिर्मुखी बना देने से साहित्य का मूल उत्स नही खोजा जा सकता।

यों भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का जीवन अथवा उसकी मनोगत दशा इस भांति जड़ दशाओं में विभाजित नहीं की जा सकती। व्यवहार जगत में विशुद्ध और बहिर्मुखी मिलना मुश्किल ही है और जो व्यक्ति इस बात का दावा करता है कि उसका व्यक्तित्व शतप्रतिशत बहिर्मुखी अथवा अन्तर्मुखी है: बहाना करता है; वह छल है-भ्रम है; व्यक्तित्व तो समाज सापेक्ष होने के कारण सदैव गत्यात्मक होता है।

युंग के अनुसार कला का मूल उद्गम सम्कारगत मूल प्रवृत्ति है। किन्तु वह भी अपने अन्य मनोविश्लेषणवादी साथियों की तरह काव्य को देश, काल, परिस्थितियों तथा वातावरण से निरपेक्ष मानता है। साहित्य को सामाजिक अनुभूति मानकर केवल संस्कारगत मूलप्रवृत्ति मानने से सामान्य व्यक्तियों की और साहित्यकारों की मूलप्रवृत्ति में विभाजन-रेखा खींचना मुश्किल हो जायेगा।

युग ने इसी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व के आधार पर दो प्रकार की कलात्मक रचना का मनोवैज्ञानिक और आभासगत बतलाई है। वस्तुतः यह विभाजन भी बौद्धिक तर्कों पर कम ही आधारित हो सकता है। अनुभूति एवं रसग्रहण की क्षमता सामान्य पाठक से लेकर लेखक तक एवं वैज्ञानिक तक में होती है। वैज्ञानिक का उद्देश्य एवं रचना प्रणाली में भले ही भेद-प्रभेद निरूपित किए जायें पर सामान्य साधना एवं क्षमताओं में भेद की कम ही गुन्जाइश दृष्टिगत होती है। अतः रचनाकार की सामाजिकता को विस्मृत कर केवल साहित्य-सृजन को संस्कारगत और मूलप्रवृत्तिगत मानना असमीचीन ही होगा।

इसी भांति आडलर का दृष्टिकोण भी संकीर्णतावादी ही है। हीनता की ग्रन्थि मानव जीवन की समग्रता को विश्लेषित करने में न केवल नितान्त एकांगी है वरन् पंगु भी है। हीनता की ग्रन्थि का ऐसा व्यापक व्यापार साहित्य के मूल उद्देश्य पर ही कुठाराघात करना है उसकी व्याप्ति और प्रेषणीयता के महत् तत्व को विस्मृत करके ही उसका सृजन हुआ है। किन्तु फिर भी आडलर ने वातावरण को महत्ता प्रदान कर अपने मनोविज्ञान को फ्रायड और युंग की अपेक्षा व्यापकता प्रदान की है। वह इस हीनता की ग्रन्थि का संस्कार वातावरण और शिक्षा के माध्यम से मानता है। भविष्य के प्रति वह आशान्वित है जबकि अन्य मनोविश्लेषणवादी गुह्य और अन्धकारवादी।

शक्तियां

मनोविश्लेषणवाद अपनी सीमाओं के बावजूद भी एक महान मनो-विज्ञान है और साहित्य के विश्लेषण के लिये इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

कृति का मूल स्त्रोत कृतिकार के जीवन का उसकी वैयक्तिक और सामाजिक जीवन गतिविधियों का सम्यक विश्लेषण किए बिना नहीं जाना जा सकता। साहित्य के आलोचकों को मनोविश्लेषणवाद की यह सबसे बड़ी देन है। साहित्यकार का अथवा किसी अन्य व्यक्ति विशेष का मानस एक विचारधारा अथवा एक विधि विशेष की ओर क्यों अनुधावित होता है, बिना किसी के अन्तश्चेतन का अध्ययन किये बिना किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता। इसमें वातावरण और संस्कार का योग अवश्य रहता है। आइलर ने इस संस्कार और वातावरण को तथा युग ने मूलप्रवृत्तियों के योग को अन्तश्चेतन के साथ समन्वित कर उसे पूर्णता की मंजिल को ले जाने का गुरुतर प्रयत्न किया।

फ्रायड ने अपने युग में प्रचलित ईसाइयत नैतिकता पर मनोविश्लेषण-वाद की प्रतिष्ठा पर एक बहुत बड़ा प्रहार किया। उसने सिद्ध किया कि ये जो नैतिकता की लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं उनके अंतश्चेतन के बहुत अतल की पर्तों में कितना कल्मष है, यह सब बाह्य आवेष्ठन मात्र है।

इस भांति साहित्य और सामान्य जनजीवन के विश्लेषण में फ्रायड के सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

६

प्रगतिवाद और आलोचना

हिन्दी-साहित्य में छायावाद के महत् और उदात्त मानवतावादी युग के पश्चात् : अर्थात् उसके ह्रास के अनन्तर यदि साहित्य की भूमि पर किसी युग के चरण दृढ़ता और शक्ति से जमे तो वह प्रगतिवाद ही था। छायावाद का प्रयोग हम उस युग विशेष की कृतियों के लिए प्रयुक्त करते हैं जो सन् १९२० से सन् १९४० तक लिखी गई।[1] किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, एक युग विशेष के आगमन की आभा उसके आने के पूर्व ही दीपित होने लगती है और उसके तिरोहित होने के पश्चात् भी अपना प्रभाव नहीं छोड़ती। ऐसी कुछ दशा प्रगतिवादी युग की भी है।

यों तो अगर इतिहास के प्रवर्त्तों को साक्ष्य मानकर प्रगतिवाद के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रगतिवाद ने सन् १९३५ के पश्चात् ही पदार्पण किया। जब डा० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के सद्प्रयत्नों से भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष प्रेमचन्द जी और द्वितीय के कलागुरु टैगोर थे।

किन्तु प्रगतिशील साहित्य—वह साहित्य जो जन-चेतना को अपने में समाविष्ट किए हुये हो, इससे पूर्व भी हिन्दी-साहित्य में विद्यमान था, जो

१— नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४९

छायावाद की मूल प्रवृत्तियों से भिन्न था। प्रगतिवाद ने केवल हिन्दी साहित्य में ही एक आधारभूत क्रान्ति नहीं की अपितु आलोचना-जगत में भी उसने एक हलचल उत्पन्न कर दी और साहित्य को परखने के लिए नये मानों का आविष्कार किया।

प्रगतिवाद एक व्याख्या

आज प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य में एक रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका सामान्य अर्थ मार्क्सवाद का साहित्यिक स्वरूप है। कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद, मार्क्सवादी जीवन दर्शन की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवादी साहित्य इन दोनों शब्दों में भी यदा कदा भ्रम उत्पन्न हो जाता है और वे पर्याय मान लिए जाते हैं। इन दोनों के मध्य विभाजन रेखा खींचना भी आवश्यक है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि प्रगतिशील आलोचक हैं, जब कि डाक्टर रामविलास शर्मा, डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान प्रगतिवादी।

प्रगतिवादियों में सिद्धान्त विशेष का आग्रह रहता है जब कि प्रगतिशील साहित्यकार युग की उद्बुद्ध जन चेतना के प्रकाश में, क्रियाशील रचनात्मक जनतन्त्र में विश्वास रखता हुआ नवीन साहित्य का सृजन और पुरातन का मूल्यांकन करता है।

अतः प्रगतिवाद का प्रायोगिक अर्थ मार्क्सवाद का पर्याय ही माना जाता है जो कि दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धान्तों पर अवस्थित है और समाज, साहित्य और संस्कृति की व्याख्या इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से उद्भूत ऐतिहासिक भौतिकवाद को आधार शिला मानकर की जाती है।

जब कि इसके विपरीत प्रगतिशील साहित्य किसी वाद विशेष की कारा में बन्दी न होकर युग की प्रबुद्ध जन-चेतना के रूप में मानवता के विकास और प्रगति के किसी न किसी रूप में प्रत्येक मन्वन्तर, प्रत्येक युग और उसके प्रत्येक चरण में अप्रतिहत गति से प्रवाहमान रहता है।

अतः प्रगतिशील साहित्यकार भी वस्तुस्थितियों और युग की चेतनशील शक्तियों की अपनी स्वस्थ ऐतिहासिक परम्पराओं के सन्दर्भ में अनुभूति

करता है और उसे बिना किसी वाद का आग्रह किए अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

प्रगतिवाद मार्क्सवादी जीवन दर्शन को लेकर चलने के कारण वर्ग संघर्ष में अप्रतिम आस्था लिए हुए है। मार्क्सवाद का कथन है कि आज अन्य युगों की अपेक्षा दो वर्ग अत्यधिक स्पष्ट हो गए हैं और पहले की अपेक्षा अधिक शौर्य और ओज से वे संघर्ष में रत हैं।

साम्यवाद के उभय जनक मार्क्स और ऐंजिल वर्ग संघर्ष का एक क्रमिक विकास मानते हैं जो हमारे युग में और अधिक स्पष्ट हो गया है।

इस पूँजीवादी युग में वर्ग संघर्ष अत्यधिक तीव्र रूप में विद्यमान है तथा शोषित और शोषक दो वर्ग स्पष्ट से स्पष्टतर होते जा रहे हैं। शोषित वर्ग भी आज अत्यधिक जागरूक और चेतन हो गया है तथा शोषक वर्ग से प्राणप्रण से संघर्ष कर रहा है।

शोषकों का वर्ग वह है जो हमारे समाज के गतिमान रथ को पीछे की ओर धकेलता है और उसे आगे नहीं बढ़ने देता। इस वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करना : साहित्य में वर्ग संघर्ष तीव्र करना तथा इस सन्दर्भ में जनता को जागरूक करना साहित्यकार का धर्म है— इसके लिए साहित्य एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। लेनिन भी साहित्य की उपादेयता इसी में मानते हैं।

यही नहीं राल्फफाक्स तो बिना मार्क्सवाद के अध्ययन और उसे जीवन में उतारे मनुष्य के जीवन सत्य तक पहुचना ही असम्भव बतलाते हैं।[1]

हिन्दी-साहित्य में मार्क्सवाद के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करने से पूर्व यह समीचीन होगा कि संक्षेप में उसकी दार्शनिक पीठिका का अध्ययन प्रस्तुत कर दिया जाए।

मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दार्शनिक स्वरूप का राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय स्वरूप है, अतः प्रमुखतः यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से पृथक नहीं किया जा सकता। मार्क्सवादी इसे एक सर्वाङ्ग जीवन-दर्शन,

---

1— Novel & the people by Ral ph Fox

(A world outlook) मानते हैं। वस्तुतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दो शब्दों से निर्मित है। (१) द्वन्द्व और (२) भौतिकवाद।[1]

भौतिकवाद का जब नाम लिया जाता है तब इसी के समानान्तर एक शब्द पर और दृष्टि जाती है– अध्यात्मवाद जिसे अंग्रेजी में Idealism कहते हैं। यह Idealism साहित्य में रूढ़ रूप में प्रयुक्त होने वाले आदर्शवाद से सर्वथा भिन्न है। अतः जब दर्शन के क्षेत्र में हम Idealism का प्रयोग करते हैं तब उसका तात्पर्य आदर्शवाद न होकर अध्यात्मवाद ही होगा। इन दोनों शब्दों अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का दर्शन के क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है। तथा विश्व की प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा की भित्ति के आधार स्तम्भ ये ही दो शब्द हैं— इन्हीं से दर्शन के विभिन्न वादों का अर्थ होता है।[2]

सुविधा के लिए दर्शनशास्त्र को पारस्परिक रूप से तीन विभागों में विभाजित कर लेते हैं—

(१) ज्ञान अथवा विवेकशास्त्र (Apistemology)
(२) अधि दर्शनशास्त्र (Ontology or Metaphysics)
और (३) प्राणी-मूल्यशास्त्र (Axiology)।

मार्क्सवाद के विश्लेषण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्गत प्रयुक्त अधिदर्शनशास्त्र और विवेकशास्त्र का विश्लेषण के लिए आवश्यक है। ये सब भौतिकवादी दर्शन की ही शाखा प्रशाखायें हैं जो प्रगतिवाद का मूलाधार हैं।

भौतिकवाद भूत से बना है जिसका पर्याय पदार्थ से ले सकते हैं। अतएव पदार्थ क्या है? पदार्थ का उद्भव और अभिवृद्धि कैसे और किस रूप में होती है उसका सृष्टि के उद्भव और विकास से कैसा और किस प्रकार का सम्बन्ध है? इसी के उत्तर भौतिकवाद की व्याख्या के मूल सूत्र हो सकते हैं जिसे कि पदार्थवादी सृष्टि का आधारभूत मानते हैं।

१— प्रगतिवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि, लेखक कृष्णवल्लभ जोशी– 'वीणा' जून—५४।

2— Reported from Stalin s Booklet- Dialectical Materialism

भौतिकवाद की संक्षिप्त विकास-रेखा

यूनानियों ने सर्वप्रथम पदार्थ को कठोर और अविभाज्य उपकरण माना था, जब कि पदार्थ एक अवस्था विशेष पर अविभाज्य रह जाता है तब वे कण अणु कहलाते हैं। उस समय यह भी कहा जाता था कि अणु अणु (monads) में विभिन्नता व्याप्त है, कुछ स्निग्ध है, कुछ वर्तुलाकार हैं आदि–आदि। ईसा की पाचवी शताब्दी पूर्व डीमोक्रीट्स तथा अन्य यूनानियों ने सर्वप्रथम विश्व की पदार्थवादी प्रणाली के माध्यम से व्याख्या की। उन्होंने बतलाया कि मनुष्य शरीर अपेक्षाकृत कुछ छोटे-छोटे अणुओं द्वारा निर्मित है और जो आत्मा है वह कुछ स्निग्ध और सूक्ष्म अणुओं के समूहों से बनी हुई है। वह ईश्वरवादी था अतः उसने बतलाया कि जो ईश्वर है वह इन सबसे अपेक्षाकृत अतिस्निग्ध और उत्कृष्ट कोटि के अणुओं द्वारा निर्मित है। ईसा की पहली शताब्दी पूर्व लुक्रीटस ने भौतिकवादी दृष्टिकोण पर एक कविता "Concerning the nature of things" शीर्षक से लिखते हुए बतलाया था कि पदार्थ असख्य अणु–परमाणुओं से निर्मित है जो कि शून्य मे अनवरत रूप से घूमते रहते हैं। इस भांति डीमोक्रट्स तथा अन्य यूनानी एव रोम के दार्शनिकों ने विश्व की और उसके निर्माता की आदि सृष्टि पदार्थ से ही उद्घोषित की थी। यही नहीं आइजक न्यूटन ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'आप्टिक्स' मे इसी पदार्थ को प्राथमिकता दी है जो कि सर्व-प्रथम १७०४ में प्रकाशित हुआ था।[1]

अठारहवी एव उन्नीसवी शती अपने साथ विज्ञान के नवीन चरण लेकर आई। इन शतियों मे, विभिन्न वैज्ञानिकों ने, सिद्ध किया कि अणु जड़ नहीं अपितु गतिशील है— वह गत्यात्मक है और वह विद्युत शक्तियों से (electrical charges) निर्मित है। प्रोटोन्स योगात्मक शक्ति है और इलेक्ट्रोन्स नियोगात्मक शक्ति।

उन्नीसवी शती का यह उपर्युक्त विश्लेषण वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सम्मत है।[2] इन प्रयोगों के आधार पर भौतिकवादी भूत की परिभाषा अथवा पदार्थ की परिभाषा इस तरह करते हैं कि पदार्थ एक वस्तुगत सत्य है जो

1— Elementary Course in Philosophy– P. 32 by Polizer
2— Ibid P. 50

मन से स्वतन्त्र है जिसकी इयत्ता को सिद्ध करने के लिए मन के सन्दर्भ की आवश्यकता नही।[1]

दर्शन की आध्यात्मिक धारा इस पदार्थ की इयत्ता को स्वीकार नहीं करती। इसके समर्थक पदार्थ के गुणो की इयत्ता को (वैशेषिको की भांति) स्वीकार करते हैं और जिन गुणो की हम प्रतीति करते हैं वे हमारे मन म विद्यमान रहते है, पदार्थ मे नहीं।

किन्तु यह जो विचार जगत है इसकी सृष्टि कहाँ से हुई—शून्य मे किसी विचार जगत की सृष्टि नहीं होती है, वह तो वस्तु जगत ही है—पदार्थ जगत ही है जो कि विचार-जगत का सृजन करता है, जो गुणो का उद्भूत करता है। एन्जेल्स ने मस्तिष्क को मात्र पदार्थ की उपज माना है।[2]

कार्लमाक्स ने तो स्पष्टत मनुष्य की समस्त प्रकार की चिन्तना का मूल स्रोत, चाहे वे सामाजिक हो राजनैतिक हो अथवा सांस्कृतिक भौतिक जीवन की उत्पादन विधियो को ही बतलाया है।[3]

मार्क्सवादी बिना पदार्थ की इयत्ता स्वीकार किए विचारो की उद्भावना नितान्त असम्भव मानते हैं। वे आत्मा को मस्तिष्क का ही भावात्मक स्वरूप मानते हैं। मस्तिष्क अथवा आत्मा इसी पदार्थ की सृष्टि है और वस्तुत brain जो कि मस्तिष्क का स्नायुगत सत्य है समस्त विचारो का उत्स है, जो वस्तु सत्य को तथा उस सत्य द्वारा प्राप्त अन्य अनुमानित सत्यों को प्रकट करने मे सक्षम है, क्यो कि आज का विज्ञान इस बात को स्वीकार नहीं करता कि विचार केवल शून्य द्वारा उद्भूत हो सकते हैं।[4]

इस तरह से वैज्ञानिक तरीके से सृष्टि का विश्लेषण ही यथार्थवाद है।[5] एन्जेल्स ने भी अपने 'फ्वेरबाख' नामक ग्रन्थ म भी इस भौतिकवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि वास्तविक जगत—प्रकृति और उसके इतिहास को उसी भांति ग्रहण करता है। जैसा कि वह प्रत्येक चेतन मनुष्य को ज्ञात होती है तथा जो कल्पनाओ की पूर्व धारणाओ से मुक्त है।[6]

1— Feurbach by F Engels

2— Ibid

3— *Literature & Art by K M & F E P 1*

4— Elementary Course in Philosophy p 32 by polizer

5— Idid p 16, 6— Bio History of phi p 59,

वस्तुतः एन्जेल्स, मार्क्सलेनिन, फवेरबाख आदि की पदार्थवाद की परिभाषायें १९ वीं शती की हैं। इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह १९ वीं शती की ही उपज है ? १९ वीं शती में क्या बिना किन्हीं विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों के पदार्थवाद का इतना सुदृढ़ वैज्ञानिक स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो गया ?

उत्तर है, नहीं ? इसका क्रमिक विकास हुआ है। अध्यात्मवाद, आदर्शवाद के वायवी थपेड़ों के आघातों और प्रहारों के उपरांत भी युगीन जनचेतना से गृहीत ये 'भौतिकवाद' के सिद्धात मार्क्स, एन्जेल्स और इनके पश्चात् लेनिन, स्तालिन, जेदेनोव, माओत्सेतुंग, कुओमोजों, नेनालिंग द्वारा विकसित हो रहे हैं।

वास्तव में जैसा कि ऊपर डीमोक्रीट्स तथा लुक्रीटस आदि द्वारा निरूपित किया जा चुका है भौतिकवाद की दिशा में चिन्तन होना प्रारम्भ हो गया था। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इनसे पूर्व हीराक्लीटस ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर सोचना प्रारम्भ कर दिया था।[1]

स्पष्टतः गति और परिवर्तन इन दो मौलिक तत्वों की स्थापना कर हीगेल की द्वन्द्वात्मक चिन्तन प्रणाली का बीज वपन कर दिया था। हीगेल ने स्वयं भी माना है कि उसका जो प्रसिद्ध सिद्धात है 'होना या न होना एक है' वह हीराक्लीटस के मतवाद में आ चुका था। इसके अतिरिक्त डीमोक्रीट्स और इनके गुरु लेवीयस जिन्होंने कि परमाणु के सिद्धांत का आविष्कार किया। इसी परम्परा में आते हैं, जिनकी कि पहले चर्चा की जा चुकी है।

इनके पश्चात् ही पाश्चात्य दर्शन के सुप्रसिद्ध 'चार्वाक' एपीक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०) और लुक्रीटस ने (प्रथम शताब्दी के पूर्व) जो कि दर्शन और सदाचारशास्त्र दोनों में Epicurinists के नाम से अभिहित है; पदार्पण किया। इनकी विचारधारा अति आनन्दवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इन विचारकों को अभिजात्यवर्गीय अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने बहुत ही कोसा है तथा इन्हें यहां तक कि दार्शनिक सुअर कहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एपीक्यूरस के तर्क बहुत ही सशक्त और ठोस होते थे, ऐसा लगता था कि वह अपने जीवन में घोर व्यवहारवादी रहा था।

1- The Social philosopher p. 132.

उसने The social philosophers नामक ग्रन्थ को सम्पादित किया है जिसमें एपीक्यूरस के मौलिक ग्रन्थों के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र दिए हुए है। इनमें उसने विभिन्न विषयों पर अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। इन सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है कि एपीक्यूरस भौतिकवादी था तथा अपने युग का एक महान तार्किक था। 'स्वप्न' पर लिखते हुए वह कहता है।[1]

"गरीबी और अमीरी के सम्बन्ध में उसका यह सूत्र दृष्टव्य है।

एक दूसरे सूत्र में भौतिकवादी आवश्यकताओं पर बल देते हुए कहता है।

लुक्रीटस ने भी अपनी उसी प्रसिद्ध कविता में Concerning the nature लिखा था "मनुष्यता पतित हो गई है क्योंकि धर्म ने मनुष्य को यह सिखा दिया है कि मृत्यु के पश्चात भी आत्मा जीवित रहती है और उसे अपने कर्म का प्रायश्चित करना पड़ता है।"

किन्तु इन महान नास्तिकों के उपरान्त भी यूनानी दर्शन पर ही नहीं अपितु समस्त पाश्चात्य दर्शन पर अध्यात्मवाद और आदर्शवाद का ही शासन रहा हो जो अपने असीम प्रकाश से आज भी किसी न किसी रूप में विश्व की गतिविधियों को अनुशासित कर रहा है।

अध्यात्मवाद के विकास का मुख्य कारण यह है कि पदार्थवाद अपने आप में इतना संकीर्ण हो गया था कि उसने मानव में विद्यमान जीवन के समस्त उदात्त जीवन-मूल्यों को केवल भौतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित कर दिया था। दूसरा कारण यह भी था कि तत्युगीन शासन व्यवस्था में जो कि जनतांत्रिक न होकर राजशाही सत्ता थी इस पदार्थवाद का विरोध किया क्योंकि पदार्थवादी इन राजाओं के कटु आलोचक थे। उनके तर्कों और विश्वासों के कारण राजाओं के निहित स्वार्थों पर आँच आती थी। अतएव जब राजा महाराजाओं तथा सामन्तों की बुद्धिजीवों की महानुभूति का स्पर्श न मिला तब उनका दमनचक्र भी इन पदार्थवादियों के ऊपर चला और

1- XXIV-Dreams have no divine character nor any prophetic force, but they originate from the influx of images

2- XXV-poverty, when measured by the natural purpose of life is great wealth, but unlimited wealth is great poverty

3- The social philosopher P 241 & p 242

मध्यम वर्ग भी इन पदार्थवादियों की अस्थिर मनोदशा के कारण तथा अभिजात्य वर्ग से कीर्ति पाने की अभिलाषा के कारण बुद्धिजीवी वर्ग पुनः स्वप्नों और आदर्शों के गगनांगन में उडाने भरने लगा और इस वर्ग ने सुकरात, अरस्तू और अफलातू जैसे प्रकाड विद्वानों को प्रसूत किया । यद्यपि इन विद्वानों ने आदर्शवादियों एवं अध्यात्मवादियों की परम्परा में बुद्धितत्व को प्रधानता देकर सामान्य जनता को सोचने के लिये विवश किया किन्तु आत्मा की अमरता को बतलाकर यूनान की चली आई हुई पदार्थवादी परम्परा पर प्रहार कर उसके स्थान पर अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा करने में वे सर्वाधिक सफल रहे । ये तीनों विद्वान ज्ञान के मानवीकरण थे । अपनी प्रखर प्रज्ञा और अप्रतिहत तर्कशक्ति के कारण ये जीवन के हर क्षेत्र पर छा गये ।

जिस काल में पाश्चात्य देशों में 'इपीक्यूरिनिस्ट' अति व्यक्तिवाद की धारा को लेकर दर्शन और सदाचार शास्त्र के क्षेत्र में अवतरित हुये थे, उससे भी पूर्व कोई ईसा की ५ वीं शताब्दी पहले भारत में भी अति आनन्दवाद का स्त्रोत 'लोकायनधारा' के नाम से फूट चुका था । इस धारा विशेष के विचारकों के पास 'इपीक्यूरिनिस्टों' की अपेक्षा अधिकतर सशक्त और जीवन्त तर्क थे। 'इपीक्यूरिस्ट' तो अधिकतर सदाचारशास्त्र के अतिआनन्दवाद तक ही सीमित थे । किन्तु उन्होंने तो सदाचारशास्त्र के ही नहीं अपितु दर्शन-शास्त्र के अंगोपागों पर भी प्रकाश डाला है और जिनका प्रभाव बुद्ध जैसे प्रकाण्ड अध्येता पर भी पड़ा, जो कि दर्शन में 'चार्वाक' के नाम से अभिहित है, इस विचारधारा के आदि गुरु बृहस्पति माने जाते हैं । 'बृहस्पति सूत्र' उनका मूल ग्रन्थ माना जाता है, जो आज अलब्ध है । इनके अनुसार प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाता है, तथा जो प्रत्यक्षतः ज्ञेय है वही एक मात्रसत्य है। इनका दूसरा सूत्र चार भूतों (पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि) के योग से मदन की शक्ति की भांति चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है । इनका तीसरा सूत्र निष्कर्ष मूलक है– "अतः न स्वर्गोनापवर्गो वा नैवात्मा पार लौकिक:।" इसी को आगे चलकर सुप्रसिद्ध पदार्थवादी बौद्ध सन्त धर्म कीर्ति ने इस भांति कहा है:—

वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृ वादः स्नाने धर्मेच्छा जाति वादा वलेप.
सन्ता प्रारम्भः पाप हानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञाना पंचलिंगानि जाड्ये ।[1]

१– देखिये 'वीणा' जून १९५४ 'प्रगतिवाद की दार्शनिक पृष्ठ भूमि' कृ० व० जोशी ।

वृहस्पति और चार्वाक, इन चार विचारकों के अतिरिक्त इस धारा में पुराण कश्यप, अजित केश कम्बली, मुकुध कात्यायन, प्रभति पदार्थवादी और हुए हैं और इनके पश्चात तो तर्क और बुद्धि की अनन्यता को लेकर सारे बौद्ध मत पदार्थवादी ही हुए हैं तथा जैन धर्मानुयायियों को भी मोटे तौर पर पदार्थवादी की ही संज्ञा दी जा सकती है।

पाश्चात्य पदार्थवादी के ह्रास के जो मुख्य कारण हैं वे यहां भी लागू हो सकते हैं। किन्तु यहां कुछ अपवाद हैं। यहां की भूमि में ये पदार्थवादी और प्रज्ञात्मक चिन्तन फूल और फल नहीं दे सकते क्योंकि यहां की भूमि में दूर तक, बहुत दूर तक, वेदों के बीज बोये हुए हैं उनका प्रभाव जन-मानस पर अत्यधिक है, अतः पदार्थवाद के चरण इस भूमि पर दृढ़ता से जम हो नहीं सकते। फिर यहां भी अरस्तू, प्लेटो, काण्ट, बर्कले, हीगल आदि की भांति तर्क और विवेक की मूर्त मौलिक प्रतिभाएं शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि महर्षियों के रूप में प्रकट हुईं जिन्होंने पदार्थवाद पर तथा उसके कुटिल तथा मलीन दृष्टिकोण जनता के सामने स्पष्ट किया तथा मानव जीवन में पुनः उदात्त भावनाओं की प्रतिष्ठा की।

किन्तु पाश्चात्य देशों में यन्त्रीकरण व पदार्पण के साथ साथ दो-तीन शताब्दियों के अनन्तर ही वहाँ भी पदार्थवाद क्रमशः इंगलैण्ड और फ्रांस में पुनः अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रस्थ करके खड़ा हो गया जो कि इस काल तक भी अन्तः सलिला की भांति यूरोपीय जन जीवन में प्रवाहमान था। मार्क्स ने लिखा भी है–Materialism is the true son of Great Britain

पदार्थवाद का वास्तविक उत्थान इंगलैण्ड में ही हुआ। क्योंकि इंगलैण्ड में ही सबसे पहले इसके वैज्ञानिक स्वरूप पर विवेचन हुआ। यों तो बर्कले और ह्यूम के विचारवादी अथवा गुणवादी दर्शन का सबसे अधिक तार्किक ढंग से किसी ने विरोध किया था तो वह लॉक ने ही जो गुण को यथार्थ न मानते हुए वस्तु को ही यथार्थ मानता था।

किन्तु सबसे अधिक शक्ति और जीवन्तता के साथ यदि किसी ने यूनानी आदर्शवादी वायवी दर्शन का विरोध किया था तो वह फ्रांसिस बेकन ही था। उसने इन यूनानी मानवादी, तर्कवादी दार्शनिकों को बहुत ही बुरी तरह झिड़का था।[1]

1— Bacon's Essays

लाके के बारे मे ऊपर कहा ही जा चुका है कि उसने उन समस्त विचारकों की मान्यताओ को मिथ्या सिद्ध कर दिया था जो कि इस बात का दावा किया करते थे कि विचार जगत ही सब कुछ है, वस्तु-जगत कुछ भी नही। उसने सिद्ध कर दिया कि सभी विचार अनुभव द्वारा उद्भूत होते है।

इसके अनन्तर हमे यह पदार्थवाद फ्रास मे दृष्टिगत होता है। पदार्थवाद पर डेसकार्ट का सबसे अधिक प्रभाव है। उसने अपने युग के आदर्शवादियो को खूब आडे हाथो लिया। इसके पश्चात् हमे डिडेरोट आता है। लेनिन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेटेरिअलिज्म और इम्पीरिओक्रिटीसिज्म' मे कहा है कि डिडेरोट लगभग अर्वाचीन द्वन्द्ववाद पर पहुच चुका था। इसके अनन्तर हमे फुवेरवाख और हीगेल मिलते है। हीगेल मुख्यत. आदर्शवादी था किन्तु द्वन्द्ववाद की देन दर्शनशास्त्र मे उसी द्वारा प्रणीत है। इसके पश्चात् तो मार्क्स और ऐंजिल्स ने इसे अधुनातन स्वरुप प्रदान किया।

उपर्युक्त पदार्थवाद केवल अन्य दार्शनिक विचारणाओ की भाति सृष्टि और उसके नाना व्यापारो पर ही नही सोचता अपितु वह मनुष्य और प्रकृति मे, समाज और मनुष्य जीवन की समस्त क्रिया और प्रक्रियाओ को निर्णीत कर भौतिक-रासायनिक तथा अन्य सामाजिक सत्यो को उद्घाटित करने मे अपना योग देता है।

हमने भौतिकवाद के विकास की मोटी-मोटी रेखायें प्रस्तुत की है। इस विकास के बाद भी, यह स्पष्ट है कि भौतिकवाद जन-जीवन की सामान्य आवश्यकता और उनके पार्थिव परितोषो पर आधारित होने के उपरान्त भी, जन-मन की वस्तु एक अवधि के पश्चात् ही बन सका। यह अपने युग-विशेष पर अभीप्सित प्रभाव व्यक्त करने में अक्षम ही रहा।

इसके प्रमुख कारण थे:— (१) हीराक्लीटस के अनुयायी उस द्वन्द्ववाद की चिन्तना को जोड़कर आगे बढे। (२) पहले आवश्यक था कि विज्ञान का विकास होता और फिर भावी सिद्धान्तों की उस वैज्ञानिक सत्य के प्रकाश मे परख होती।

विज्ञान के समुचित विकास के पश्चात् ही, कार्ल मार्क्स और फेड्रिक एन्जेल्स का पदार्पण हुआ। आज उनके सिद्धान्तो का प्रणयन हुए भी लगभग

पचहत्तर वर्ष व्यतीत हो गए, तथा विज्ञान अपने नित्य नूतन चरणले कर अग्रसर हो रहा है। अत नवीन अनुसन्धानो और गवेषणाओ की पीठिका म द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और तज्जन्य मार्क्सवादी जीवनदर्शन का पुनर्मूल्यांकन होना अत्यावश्यक है।

भौतिकवाद जहा एक दर्शन है, वहा द्वन्द्ववाद एक चिन्तन प्रणाली है। द्वन्द्व अंग्रेजी के Dilectic का पर्याय है जो मूलत यूनानी Dialego शब्द से अभिनिर्मित है जिसका अर्थ है 'दो आदमियो की बातचीत'। पुरातन काल मे यह किसी सत्य पर अपने विरोधियो की असंगतियो का खण्डन पहुचने की कला थी। पुराने दार्शनिको का इसमे विश्वास था कि किसी आदमी के तर्कों के विरोधाभास जुटाना और उनकी असंगतियो और अन्त विरोधो का उनसे विपरीत तर्कों द्वारा उद्घाटन करने से एक सत्य पर पहुचा जा सकता है। किन्तु बाद म यह द्वन्द्ववाद प्रकृति, समाज तथा अन्य समस्त विज्ञान पर भी लागू होने लग गया।

द्वन्द्ववाद नही मानता है कि प्रकृति एक आकस्मिक रूप स कुछ वस्तुओ का समन्वय है, जो कि एक दूसरे स विच्छिन्न और मुक्त है वरन प्रत्येक वस्तु अन्योन्याश्रित है, साथ ही एक दूसरे से निर्णीत और प्रभावित होती रहती है। इस तरह जैसा कि हेराक्लीटस ने प्रतिपादित किया था समस्त वस्तुयें वातावरण, वायुमण्डल, देशकाल और परिस्थितियो से प्रभावित होती हैं। अध्यात्मवादी अधिदर्शन शास्त्री प्रकृति को जड और अपरिवर्तनीय तत्व मानते हैं किन्तु इसके विपरीत द्वन्द्ववादी प्रकृति को अनवरत रूप म गत्यात्मक और परिवर्तनशील मानते हैं जिसम अनवरत रूप से सर्जन और नाश का व्यापार चलता रहता है। इस भौतिक सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मृत्यु का आलिंगन अवश्य करेगी।

द्वन्द्ववाद सृष्टि के विकास का अध्यात्मिक अधिदर्शनवादियो की भाति वर्तुलाकार नही मानता। उनकी चिन्तन प्रणाली मे परिवर्तन का अप्रतिम महत्व है। द्वन्द्ववादियो का इसमे विश्वास नही कि इतिहास अपने को दोहराता है। वह एक ऐसे विकास मे विश्वास करता है कि एक विशेष अवस्था तक—एक विशेष परिणाम तक पहुचने पर वस्तु विशेष मे गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है और यह परिवर्तन यो ही आकस्मिक संयोगवश नही होता अपितु उसमे वस्तु की अत्यधिकता के कारण एक अगोचर परिवर्तन

चलता रहता है ।[1]

और आगे--द्वन्द्ववाद प्रत्येक वस्तु के मूल मे अंतर्विरोधों को मानता है । उसके अनुसार ये अंतर्विरोध अनवरत् रूप से चला ही करते है और इन्ही के कारण आगे विकास होता रहता है । लेनिन इसी अंतर्विरोध को द्वन्द्ववाद का प्राण मानता है ।[2]

यह कहा जाता है कि Life is life and death is death और हम यह भी मानते है कि दोनो मे कोई भी साम्य स्थापित नही किया जा सकता । किन्तु आज के वैज्ञानिक युग ने इस सम्बन्ध मे यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के सिर मे अनवरत रूप से कोषों का संघर्ष चलता रहता है और इस संघर्ष मे हमेशा कुछ तो मरते है और उनका स्थान दूसरे कोष ग्रहण करते है । इस तरह जीवन अपने आप मे मृत्यु को भी थामे हुये है । पोल्लायजर ने मृत्यु और जीवन के इस विरोधाभास का उद्घाटन किया है ।[3]

हम द्वन्द्ववादी चिन्तन विधि मे दो सूत्रों के माध्यम से तीसरे निष्कर्ष पर पहुचते हैं । प्रथम वाद के रूप मे, द्वितीय प्रतिवाद के रूप मे और तृतीय समाधान अथवा निष्कर्ष के रूप मे होता है । यथा:—

(१) वाद—जीव भूत है ।

(२) प्रतिवाद—जीव भूत नही वह तो एक चेतन तत्व है ।

(३) समाधान अथवा निष्कर्ष—जीव न भूत है न चेतन तत्व वरन् वह तो भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया तत्व है ।

यही द्वन्द्वात्मक तर्क प्रणाली है । यो भी मृत्यु और जीवन के आपसी अन्तर्विरोधो से यह द्वन्द्व-सिद्धांत सहज रूप से जाना जा सकता है । इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रोन के उदाहरण से भी यह सहज ही ज्ञेय तथा स्वत. सिद्ध है कि वह कण भी है और लहर भी ।

दूसरा मोटा सिद्धान्त द्वन्द्ववाद का यह है कि वह इन अन्तर्विरोधों द्वारा जो सृष्टि का विकास मानता है ; वह विच्छिन्न प्रवाह के रूप मे ।

1— Dilectics of Nature by Fredric Engels.

2— Elementary Course in Philosophy by Polizer.

3– Devlopment is the struggle of Opposition.
—Ibid.

यह विच्छिन्न प्रवाह डारविन अथवा लेमार्क की भांति विकासवादी (Evolutionary) न होते हुए, विच्छिन्न रूप में होता है जो क्रमश परिवर्तन की एक विशेष गुणात्मक अवस्था आने पर क्रांति (Revolution) उपस्थित कर जाता है। इस भांति यह द्वन्द्ववाद वस्तुस्थिति प्रकृति और मनुष्य समाज का अध्ययन करने का जो कि साहित्य के प्राण हैं, एक अनन्य साधन है। भौतिकवाद की पूर्णता द्वन्द्ववाद में ही है—ये एक दूसरे से अनुस्यून हैं तथा एक दूसरे के पूरक।

इस भांति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से जो मोटे तौर पर निष्कर्ष निकलते हैं, वे हैं—

(१) ईश्वर में अनास्था।
(२) प्रत्येक वस्तु गत्यात्मक है।
(३) प्रत्येक वस्तु अपने में अन्तर्विरोध लिये हुए है तथा इन अन्तर्विरोधों में गुणात्मक परिवर्तन होने पर एक नवीन वस्तु का सृजन होता है।
(४) आत्मा मस्तिष्क का ही परिष्कृत स्वरूप है।
(५) समाज, साहित्य, संस्कृति तथा प्रकृति आदि का विश्लेषण इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रगतिवाद इन्हीं उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर अग्रसर हुआ है। उसकी आर्थिक और राजनैतिक व्याख्या मार्क्सवाद है तथा साहित्यिक व्याख्या प्रगतिवाद है।

मार्क्सवाद भारत में

भारत में साम्यवादी दल की स्थापना सन् १९२४ में हुई। इसके पूर्व यहां राजनैतिक क्षेत्र में केवल कांग्रेस दल का ही एक छत्र शासन था। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन तथा सत्याग्रह ये समस्त राजनैतिक अस्त्र वस्तुतः अध्यात्मवादी दर्शन की ही उपज थे, गांधी जी ने यद्यपि अपने प्रत्येक सिद्धान्त का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया किन्तु उनके ये सिद्धान्त मूलतः आदर्शवादी और मध्यमवर्गीय थे। उनके सिद्धांतों में अप्रतिहत क्षमता भले ही थी किन्तु मजदूरवर्ग तो सीधी-सीधी कार्यवाही में विश्वास रखता था। बम्बई और अहमदाबाद की मिलों में हड़तालें बराबर हो रही थीं। यद्यपि

इसका दायित्व कपास की सामान्य उपज पर ही था।¹

इसी अवसर पर मजदूरों की गतिविधियों एवं उनकी क्षमताओं और शक्तियों का कांग्रेस ने भी : रूस की क्रांति के प्रकाश मे अध्ययन किया। किन्तु कांग्रेस के निष्कर्ष और उनकी चिन्तना एवं कार्यप्रणाली मूल मे आदर्शवादी और व्यक्तिवादी होने के कारण इस क्षेत्र मे अधिक सफल नही हुई और वह मजदूरों की शक्ति का अधिक उपयोग नही कर सके।

मई १९२४ मे देशबन्धु चितरंजनदास और पण्डित मोतीलाल नेहरू ने अपने एक वक्तव्य मे कहा था:—

"साथ ही हमें मजदूरों और किसानों का देश भर मे संगठन करके कांग्रेस के काम की पूर्ति करनी चाहिए। मजदूर—समस्या सारे देशों मे कठिन समस्या है, पर इस देश मे उसकी कठिनता और भी बढ़ गई है। जहां हमे एक इस प्रकार का संगठन करना चाहिये जिसके द्वारा पूँजीपति और जमींदार मजदूरों का शोषण न कर सकें, वहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ये ही संस्थायें बढ़ी-चढ़ी और गैरवाजिब मांगें पेश करके अत्याचार के साधन न हो जायें। मजदूरों को सचमुच संरक्षण की आवश्यकता है; पर इसी तरह उद्योग धंधों को भी संरक्षण मिलना आवश्यक है। हमारी संस्था को इन दोनों को उक्त शोषण मे बचाना होगा। ट्रेड यूनियन—कांग्रेस का संगठन इस रूप मे होना चाहिए कि वह दोनों के लिये लाभकारी सिद्ध हो। हमारी सम्मति मे तो अन्त मे दोनों पक्षों के हित और देश के हित समान ही हैं।"

(कांग्रेस का इतिहास भाग—१०)

इस भांति राजनैतिक नेताओं का ध्यान मध्यम वर्ग से हट कर किसान-मजदूर वर्ग की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १९२६ मे ही ट्रेड यूनियनों को वैध घोषित कर दिया गया। अब मजदूर किसान अपने संगठन बना सकते थे। साम्यवादी दल ने समस्त देश मे मजदूरों को संगठित किया और उनके अधिकारों के लिये साम्यवादी दर्शन की विचारणाओं को आधार लेकर मिल-मालिकों से लड़ाई प्रारम्भ कर दी।

1– Indian Economics P. 24 by Jathar & Beri

१९३० तक तो साम्यवादी दल बराबर गांधी—नेहरू और कांग्रेस का कट्टर का आलोचक रहा और लेनिन की इस विचारणा के विरुद्ध कि एशिया के साम्यवादियों को राष्ट्रवादियों से मिलजुल कर काम करना चाहिये काम करते रहे। किन्तु भारतीय साम्यवादी दल मानवेन्द्रनाथराय से प्रभावित होकर अत्यधिक संकीर्णवादी बना रहा और १९३० के पश्चात उसने अपनी संयुक्त मोर्चे वाली नीति अपनाई। द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर यह दक्षिण पंथी नीति अधिक सफल हुई।

वाम मार्ग को अपनाने के कारण कम्युनिस्टों ने कल कारखाना मिलों आदि में तोड़ फोड़ प्रारम्भ कर दिया तथा जमींदारों और सामन्तों में अपने गुरिल्लावादी नीति के कारण एक आतंक साम्राज्य-निर्माण किया। इस आतंक का सबसे भयावह स्वरूप तलंगाना के हैदराबाद और आन्ध्रा जिलों में, पश्चिमी बंगाल त्रावनकोर-कोचीन आदि स्थानों में प्रकट हुआ। इसी समय सन् १९४६ में कम्युनिस्टों द्वारा दो समुद्री किनारों गावों पर वेलूर और पुन्नापुर पर भी अधिकार करने के असफल प्रयत्न किए गये। पश्चिमी बंगाल, मद्रास, हैदराबाद, इंदौर, भोपाल आदि स्थानों में इसी उग्र और हिंसात्मक प्रणालियों के कारण इन राज्यों ने केन्द्रीय शासन के सहयोग से साम्यवादी दल को अवैध घोषित कर दिया। साम्यवादियों की हिंसा और आतंक के दमन का सबसे अधिक श्रेय लौह पुरुष वल्लभभाई पटेल को ही है। इसी समय लगभग २५०० साम्यवादी हिरासत में लिए गये।

जहां तक प्रगतिशील साहित्य की रचना का प्रश्न है वहां तो यह स्पष्ट है कि स्वस्थ साहित्य की सर्जना के मूल में ही प्रगतिशीलता विद्यमान रहती है। विश्व के समस्त महान साहित्यकारों की रचना अपने देश और काल की सीमाओं में तो सर्वैव प्रगतिशील होती ही है किन्तु उन साहित्यकारों की अन्तर दृष्टि भविष्य का भी अंकन की क्षमता रखती है तथा उनकी अनुभूति का क्षितिज इतना व्यापक और उदात्त होता है कि वे सर्वकालीन और सर्वदेशीय बन जाती हैं।

हिन्दी में मैं प्रगतिशीलता उसके अर्थ से ही मानता हूं। साहित्य का प्रत्येक चरण उसके पूर्व चरण से प्रगतिशील होता है। हिन्दी में यह

From India today by Frank Moraes,, P 114

प्रगतिशीलता भारतेन्दु जी के उदय से तो और स्पष्ट हो गई थी और उनके युग से प्रेमचन्द के यहाँ तक पहुँचने-पहुँचते हिन्दी लेखक सामान्य जनता के अधिक निकट आ गया था। मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि की रचनाओं में प्रगतिवाद के पूर्व की लाली के दर्शन होने लगते हैं।

किन्तु प्रगतिवाद जिस रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होता है उसका अर्थ साम्यवादी दल की नीति का स्पष्टीकरण हो जाने के पश्चात् से तथा प्रगतिशील लेखक संघ की संस्थापना के अन्तर्गत ही माना जा सकता है। इसके पश्चात् तो प्रगतिवादी आलोचक अनवरत रूप से साम्यवादी दल की नीति के समानान्तर ही अपनी कृतियों का सृजन करते रहे।

प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से दिये गए भाषण में जो साहित्य का उद्देश्य बतलाया था वस्तुतः वह साम्यवादी साहित्यकारों के साहित्य का उद्देश्य चाहे हो अथवा न हो किन्तु साहित्य का तो सच्चा उद्देश्य है ही। उनके शब्दों में— "जो हो, साहित्य का काम केवल मन बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो— जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

इसके पश्चात् 'हंस' द्वारा प्रगतिवाद को अनवरत रूप में सहयोग और सहानुभूति प्राप्त होती गई।

साहित्य का एक व्यापक प्रयोजन लेकर प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुआ। छायावाद के संकीर्ण व्यक्तिवाद और जीवन के प्रति उसका वायवी दृष्टिकोण युग का लब्धबोध पाठक स्वीकार नहीं कर सका और उसने ऐसे साहित्य की माँग की जिसका केन्द्र बिन्दु व्यक्ति न होकर सामूहिक जीवन हो। साहित्यकार में, आज का पाठक एक बौद्धिक तीव्रता और उसके अपने युग की उत्थानमूलक प्रवृत्तियों को ग्रहण करने की क्षमता चाहता है

जो कि उसके साहित्य में झंकृत होना अनिवार्य है। अतः उसका साहित्य मृत्यु के गीत न गाकर अपने युग के जीवन्त सत्य का आकलन करने में सक्षम होना चाहिए।

प्रगतिवाद जैसा कि पहले कहा जा चुका है— इस काल के सभी *मानवतावादी लेखक अपने को प्रगतिवादी कहने में गौरव अनुभव करते थे* तथा प्रगतिवादी होना उस समय 'कम्युनिस्ट' का पर्याय न होकर हिन्दी का एक स्वस्थ साहित्यकार होना समझा जाता था। इसी काल में रामविलास की 'भारतेन्दु-युग' और 'निराला' पुस्तकें प्रकाश में आईं। ये दोनों पुस्तकें *भी प्रगतिवाद को उतनी रूढ़िवादिता से ग्रहण नहीं किए हुए हैं जैसा कि* रामविलास की बाद की पुस्तकें तथा उनके महापण्डित राहुल सांकृत्यायन शिवदान सिंह चौहान तथा रांगेय राघव पर लिखे हुए लेख।

इस काल में स्वर्गीय प्रेमचन्द, निराला, पन्त, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा अंचल, सुमन, भगवतीचरण वर्मा उपेन्द्रनाथ अश्क, गिरिजाकुमार माथुर आदि सभी अपने आपको प्रगतिवादी कवि मानते थे तथा कट्टर प्रगतिवादी भी इन कवियों को अपना संगी ही मानते थे। किन्तु सन १९४७ में ज्यों ही रूस के सम्बन्धों का *अन्य* पाश्चात्य देशों से विघटन होने *लगा* तथा उन्होंने अति वामपंथी मार्ग, जेदनाव की नीति को अपनाया त्यों ही हिन्दी के तथाकथित प्रगतिवादी आलोचक किनने ही कवियों और लेखकों का प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी तथा बुर्जुआ नामों से सम्बोधन करने लग गये। कलकत्ता में सुदूर दक्षिणी एशिया के नवयुवक सम्मेलन होने के पश्चात् डा० रामविलास ने दल की नीति के अनुकूल महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को, रांगेय राघव तथा यहाँ तक कि शिवदान सिंह चौहान, यशपाल आदि को भी प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक तथा ट्राटस्कीवादी घोषित करना प्रारम्भ कर दिया। श्री शिवदान सिंह चौहान पर प्रहार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने जो लिखा है, वह इसी बात का परिचायक है।[1]

१– "अपने क्रान्ति-विरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपना शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है, उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ— यानी साहित्य का लड़ाकू वर्ग रूप खतम कर दो, साहित्य को गैरजिम्मेदारी बनाओ, वर्ग संघर्ष से निर्लिप्त और निस्संग रहो, चौहान ने पूंजीवाद के पढ़ाये हुए तोते की तरह यह

हिन्दी के प्रगतिवादियों मे उदारता दृष्टिगत नही होती । वे तो आपस मे ही एक दूसरे को कोसते रहे और '५० के बाद का प्रगतिवादी आलोचनात्मक साहित्य का यदि हम अध्ययन करें तो उसमें केवल प्रगतिवादियों के आपसी झगड़ो के अतिरिक्त कदाचित ही अपवाद स्वरूप एक दो उच्चकोटि की आलोचनात्मक पुस्तकें देखने को मिलेंगी ।

अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद मे सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत, कुत्सित, भदेस ने ले लिया । छायावादी भावना की आदि उदारता उतनी ही अधिक सिमट कर अत्यन्त सकीर्ण अन्धानुयायिता मे बदल गई ।[1]

वस्तुत. जहाँ तक मार्क्सवादी-दर्शन तथा समाजशास्त्र का प्रश्न है हिन्दी के आलोचको ने इन बड़ी-बड़ी बातो को लेकर तो कई पुस्तकें लिखी तथा अपने सिद्धान्तो को वाल्मीकि से लेकर यशपाल और केदारनाथ अग्रवाल आदि पर अत्यधिक बारीकी से लागू किये किन्तु रचनात्मक साहित्य के नाम पर हिन्दी में कोई भी प्रथम कोटि की रचना का सृजन नही हुआ ।

गत दशाब्दी मे प्रगतिवादियों ने न तो कोई ऐसा चिन्तन प्रधान आलोचनात्मक ग्रन्थ ही लिखा जिसमे कि समाजशास्त्रीय ढग से समस्त हिन्दी—साहित्य का एक वैज्ञानिक विश्लेषण होता और न रचनात्मक क्षेत्र मे ही कोई ऐतिहासिक कार्य किया । केवल इन आपसी वैमनस्यों और झगड़ो मे ही ये व्यस्त रहे । किन्तु इन वाद-विवादो और गत्यावरोधों के उपरान्त भी अपने दक्षिणपथी नीति के काल मे डाक्टर रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहन प्रभृति आलोचको ने आलोचना को एक सामाजिक स्तर प्रदान किया जो आलोचना के क्षेत्र मे सौन्दर्यशास्त्र और समाजशास्त्र के समन्वय के अच्छे उदाहरण है ।

रट लगानी शुरु की । रूप के नाम पर छायावादी विचार-वस्तु का हिमायत की और आखिर मे अश्क जैसे टुटपुंजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचन्द के बराबर बिठाया । प्रगतिशील लेखको का मोर्चा कमजोर करने के लिये चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्म-सिद्धि का परिणाम है ।

१— आज की कविता और मैं— सुमित्रानन्दन पंत, आलोचना ३ से उद्धृत ।

श्री शिवदानसिंह चौहान के भी 'साहित्य की परख' तथा 'मानव आत्मा के शिल्पी में' (नई चेतना अक १) आदि लेख में साहित्य का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण अच्छा बन पडा है।

प्रगतिवादी आलोचक

डा० रामविलास शर्मा

आप शत प्रतिशत साम्यवादी हैं और मार्क्सवादी दर्शन तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विद्वान हैं। उनका आलोचना साहित्य जहा भारतीय साम्यवादी दल के कार्यक्रमों से अत्यधिक प्रभावित रहता है वहा उसमें मार्क्सवादी पकड भी है। जहा वे प्रगतिवाद का सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हैं वहा वे 'साहित्यिकता' को भी अपना समुचित स्थान प्रदान करते हैं।[1]

डाक्टर रामविलास अन्य प्रगतिवादियों की भाति केवल अर्वाचीन साहित्य के ही मर्मज्ञ नही हैं, उन्होने प्राचीन साहित्य का भी बडी गहराई से, सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में अध्ययन किया है। अत यह कहना भ्रम होगा कि डाक्टर रामविलास प्राचीनता को सर्वथा हेय मानते हैं।[2]

१— साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।

इसके आगे वे साहित्य में काव्य पक्ष पर बल देते हुए लिखते हैं प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह साहित्य मर्मस्पर्शी नही है, पढने वाले पर उसका प्रभाव नही पडता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात करने से वह श्रेष्ठ साहित्य तो क्या साधारण साहित्य भी नही हो सकता।'

(प्रगति और परम्परा)

२— नये साहित्य और विशेषकर नयी समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओ से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुरानी परम्परा का उल्लेख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेन्दु को जबरदस्ती प्रगतिशील बना रहे है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओ से परिचित हो। परिचित होने के साथ साथ हमे उनके श्रेष्ठ तत्वो को ग्रहण भी करना चाहिये।

उपर्युक्त कल्पना की परम्परा में ही उनकी 'संस्कृति और साहित्य' नामक पुस्तक में कितने ही लेख हैं, जिनमें तुलसी, वाल्मीकि, रवीन्द्र-शैली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं : 'भारतेन्दु-युग', निराला, रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द आदि पुस्तकें भी उनकी इसी परम्परा में आती हैं। जहाँ वे आधुनिक साहित्यकारों विशेषत भटके हुए मार्क्सवादियों के बारे में अपनी लेखनी चलाते हैं तब वे कट्टर मार्क्सवादी दर्शन ही इन पर लागू करते हैं। यह वाद की प्रणाली जेदनोव की कट्टरतावादी परम्परा में ही आयेगी। डा० नगेन्द्र, महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, शिवदानसिंह चौहान, यशपाल, धर्मवीर भारती, सुमित्रानन्दन पन्त, अमृतराय, रांगेय राघव आदि पर लिखते हुए वे कहीं भी -हमें आदर्शवाद, निराशावाद, प्रतीकवाद, मनोविश्लेषणवाद, अभिव्यंजनावाद तथा राजनीति के क्षेत्र में भारतीय पूँजीवाद सामन्तवाद, प्रतिक्रियावाद तथा साम्प्रदायिकता आदि किन्हीं भी प्रतिक्रियात्मक शक्ति से समझौता करने को तत्पर नहीं दिखाई देते हैं। प्रगतिवाद के विरोध में डाक्टर शर्मा अपने ओजस्वी स्वभाव के अनुसार कुछ सुन नहीं सकते। धर्मवीर भारती की 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' पुस्तक पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं.—

'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' में धर्मवीर भारती ने प्रगतिशील आलोचकों पर वही आक्षेप किये हैं जो चौहान ने इस किताब के पहले और बाद को किये थे। भारती का कहना है, कि 'स्वयं प्रगतिवादियों ने भी सिवा तीखी,

और आगे वे लिखते हैं— "मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाजहित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की क्षति कर देते हैं। उनके लिए बिहारी और तुलसीदास समान रूप से वन्दनीय हैं और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वांछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मेरी दृष्टि में समाज के हित और अहित को भूल नहीं जाना चाहिये। यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे सन्त कवियों की सनक ही माननी चाहिए कि वे दरबारों में सानन्दपूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे।"

(संस्कृति और साहित्य की भूमिका में)

अवसरवादी आलोचनाओं और दलबन्दी तथा गालागलौज के, अभी तक गम्भीरता और शान्ति से समस्याओं के विश्लेषण में उदारता, समझदारी और दूरदर्शिता का परिचय नही दिया है।'

चौहान की तरह भारती को झुँझलाहट सिर्फ हिन्दी के प्रगतिवादियो पर नहीं, उनकी राय में विश्व साहित्य में मार्क्सवाद एक प्रतिक्रियावादी शक्ति साबित हो चुका है। मार्क्सवाद ने ऐसी संकीर्णता दिखाई है कि 'जिस प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन गोर्की, रोलां तक सम्मिलित थे, जिसके अर्न्स्टटालर और रैल्फ फाक्स जैसे शहीदों ने अपने खून से सींचा था (भारती को चौहान की तरह किन मार्क्सवादियों से कितनी हमदर्दी है।) आज स्टीफेन स्पेंडर और आडेन की बात तो दूर Malraux जैसे कट्टर कम्युनिस्ट भी अपने को उसकी संकीर्णता में सतुलित नहीं कर पाते।'

भारती ने यह नहीं बताया कि प्रगतिवाद जिनके लिए इतना सकीर्ण हो गया है, वे स्पेंडर और आडेन आजकल करते क्या है? पिछले दिनों बम्बई में जब अमरीकी साम्राज्यवादियों के इशारों पर संस्कृति-सम्मेलन हुआ, तो उसके अलम्बरदारों में भारती भी थे। (भारती के धर्मगुरु सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन भी वहाँ विद्यमान थे, बल्कि उसके एक कर्णधार थे। (प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें— पृ० २१)

यह उनकी व्यंग्य प्रधान शैली है जिसमें केवल व्यंग्य ही व्यंग्य नहीं अपितु विद्वत्ता के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने मार्क्सवाद के दार्शनिक पक्ष को लेकर भी कई आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। लेकिन वे स्वतन्त्र रूप से न होकर प्रत्यालोचन के रूप में ही। इनमें उनके राहुल पर लिखे हुए लेख तथा नवीन जी की 'क्वासि' नामक काव्य ग्रन्थ पर लिखे हुए लेख विशेष दृष्टव्य हैं। 'क्वासि' पर लिखे हुए लेख में उनकी शैली अत्यधिक शालीन और गम्भीर है।

डाक्टर साहब में आलोचक के अप्रतिम गुण और विशेषतायें है। किन्तु इन विशेषताओं और गुणों के पर वे अपने सिद्ध जीवन सिद्धान्तों और अपने वाद का आग्रह नही छोड़ते।

४. डाक्टर रामविलास में विशेष रचना का आवेग के लिए तर्क और बौद्धिकता और इन सबमें भी उत्कृष्ट जो वे समझते है, वह उनका अपना

वाद है। इनके अतिरिक्त वे कृति के अपने अन्तर्मन पर पड़े हुए प्रभावों को नहीं देखते।

श्री शिवदानसिंह चौहान

श्री शिवदानसिंह चौहान का हिन्दी-आलोचना साहित्य में उदय अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उनके पदार्पण से ही आलोचना-क्षेत्र में एक हलचल का सूत्रपात हो गया— ऐसी मेधावी प्रतिभा, ऐसी अतल-स्पर्शी दृष्टि तथा अंग्रेजी और हिन्दी-आलोचना साहित्य का विशिष्टत. मार्क्सवादी आलोचना साहित्य का ऐसा गहन अध्ययन और उसे भारतीय वातावरण में लागू करने का ऐसा मौलिक प्रयत्न, हिन्दी साहित्य के लिए निश्चित ही एक नई बात थी।

सर्व प्रथम मार्च १९३७ के 'विशाल भारत' में श्री शिवदानसिंह का एक लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक में प्रकाशित हुआ। इस लेख में किसी साहित्यकार विशेष पर कोई प्रहार नहीं था। किसी प्रवृत्ति विशेष पर कोई कटोक्ति नहीं की गई थी। लेख का प्रमुख कलेवर मार्क्सवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा युगीन परिस्थितियाँ और इनका पारस्परिक सम्बन्ध था। इन तथ्यों के प्रकाश में समाज में हो रहे जीवन-मूल्यों में परिवर्तन तथा तदनुसार साहित्य की रचना। इसमें उस युग में जिस साहित्य का सृजन हो रहा था उसकी उपादेयता पर भी प्रकाश डाला गया था। इस लम्बे लेख का यही कलेवर था, इसी लेख ने शिवदान सिंह चौहान को प्रगतिशील आलोचना का सूत्रधार बना दिया। इस लेख के प्रकाशन के कुछ ही समय पश्चात् सन् १९४१ में (प्रेमचंद की मृत्यु के बाद) वे 'हंस' के सम्पादक बन गये। इसी समय से उनकी लेखनी अनवरत रूप से और सवरती गई तथा इस काल में वे अपने लेखों से बराबर हिन्दी के कई लेखकों को एक मन्च पर लाने का प्रयास करते रहे तथा उन्हें 'आत्मपीड़न' 'निराशावाद', 'फ्रायडवाद', 'अभिव्यजनावाद' आदि हिन्दी में उस युग में प्रचलित 'विघटनवादी' प्रवृत्तियों से बचाते रहे।

शुक्ल जी अपने जीवन काल में उपर्युक्त ह्रासोन्मुखी साहित्यिक धाराओं से लड़ते रहे और व्यक्ति के अहं और उनके दम्भ के स्थान पर साहित्य में सामाजिकता और लोक मंगल की भावना को सदैव ही प्राथमिकता प्रदान करते रहे। उनकी मृत्यु पर चौहान जी ने ये शब्द कहे थे:—

नवीन क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्व साहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षा-पद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा आरम्भ किए गए कार्य की सम्पूर्ति देना है, उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमजोर कंधों पर आ पड़ा है उसके गुरुत्व को हम अनुभव कर रहे हैं।" (साहित्य की परख—पृष्ठ ७०)

शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्सवाद को उदारवादी स्वरूप प्रदान कर हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिकता और लोकमंगल की भावना का ही विकास किया है तथा उसी भाँति विघटनवादियों से लड़े जिस भाँति शुक्ल जी को रहस्यवाद छायावाद की असामाजिकता और अभिव्यंजनावाद व रूपवाद को लेकर कई साहित्यकारों से विरोध का सामना करना पड़ा था और उन पर खुल्लमखुल्ला लड़ाई लड़ी थी। हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी लेखकों पर जिस शक्ति से चौहान जी ने प्रहार किया था वह सहज ही शुक्ल जी का स्मरण करा देता है।[1]

शिवदानसिंह जी ने भी प्रगतिवाद की विचारधारा के अनुरूप नवी नता का आग्रह किया और ह्रासोन्मुखी अस्वस्थ और निर्जीव परम्परा का विरोध।

१— मोटे तौर पर मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज प्रवृत्तियों, आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय, सरस और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निदेश करना मनोविज्ञान का काम है। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक?

इन स्वच्छन्दपंथियों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान गवारा नहीं कर सकता। मानवीय विचार, नैतिक मर्यादा, मानवीय भाव सांस्कृतिक परम्परा, समाज-सम्बन्ध, कला-दर्शन विज्ञान आज कोई भी चीज तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नहीं है। मानव-आत्मा और मानव विवेक की हत्या करके धरा पर एक विक्षिप्त नरभक्षी कुम्भकरण को जगाना आज उनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका स्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है। (नई चेतना, अंक ४, १९५१)।

श्री शिवदानसिंह चौहान की आलोचना अन्य प्रगतिवादी आलोचकों की अपेक्षा अधिक सचेत और विश्लेषणात्मक होती है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ उनको सहज ही अंग्रेजी आलोचक हर्बर्ट रीड और क्रिस्टोफर काडवेल के समकक्ष लाकर बैठा देती है। वे साहित्य में कभी भी उग्रवाद अथवा कम्युनिस्टों की वामपंथी विचारधारा के अनुगामी नहीं रहे और उनमें सदैव ही हमें एक समझौतावादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वे वास्तविक रूप में एक उदार मार्क्सवादी रहे हैं और दक्षिणपंथी साम्यवादी, पी० सी० जोशी के विचार--सिद्धान्तों के अनुयायी। चौहान जी का दृष्टिकोण जैसा कि कहा गया है एक व्याप्ति लिए हुये है। उनका इस सत्य में अमित विश्वास है कि प्रत्येक महान लेखक की कलाकृति उसके युग की स्थिति विरोध की सृष्टि होती है उसका सृजन वायु में नहीं होता। उसमें प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप में हमें युग-सत्य के दर्शन अवश्य होते हैं, भले ही उसमें वर्ग संघर्ष उतने तीव्र रूप में अभिव्यक्त नहीं हो।[1]

शिवदानसिंह जी में डाक्टर रामविलास शर्मा जैसी हठवादिता तथा वाद का उतना आग्रह नहीं है। वास्तविक रूप में हिन्दी आलोचना में उन्होंने समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का समन्वय किया है और मार्क्सवादी होते हुए भी वे सर्वश्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि स्वस्थ साहित्यिक परम्परा के ही वाहक हैं। अपने इस उदार दृष्टिकोण के होते हुए भी वे मार्क्सवादी हैं— सही मानों में मार्क्सवादी हैं— जनता में उनकी अमित

१— इसमें संदेह नहीं कि महान् लेखकों की रचनाओं में अपने-अपने काल की सामाजिक विचारधारायें व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियां अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं।

वे आगे साहित्य के इस मर्म को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —"लेकिन इन महान् लेखकों को किसी शोषक वर्ग के खूंटे से बांधना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्तः सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उद्घाटन हुआ है।"

(सम्पादकीय 'आलोचना')

आस्था है और उसकी सेवा करना ही उनका परम धर्म है।[1]

प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रगतिशील आलोचकों में तृतीय नाम डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त का लिया जाता है। गुप्त जी डा० रामविलास, शिवदानसिंह अथवा अमृतराय की भांति प्रगतिवादियों के आपसी झगड़ों में न पड़कर हिन्दी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यकारों का प्रगतिवादी पद्धति से मूल्यांकन करने में ही अधिक व्यस्त रहे। यद्यपि उनके पास आलोचना के लिए वह पैनी और मौलिक सूझ नहीं है जो कि एक आलोचक के लिए वाञ्छनीय है। किन्तु इस अभाव में भी यह निश्चित है कि हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में उन्होंने प्रगतिवादी जीवनमूल्यों के आधार पर हिन्दी के कितने ही प्राचीन और अर्वाचीन कवियों का अपनी सौम्य लेखनी से मूल्यांकन किया है। तुलसी का विश्लेषण करते हुए वे उनके युग की आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए कतिपय सूत्र कह देते हैं।[2]

गुप्त जी रचनात्मक साहित्य के भी प्रणेता हैं, अतः उनकी आलोचना वैज्ञानिक स्वरूप छोड़कर प्रभाववादी हो जाती है। सूरदास, प्रसाद और निराला पर लिखे हुए उनके आलोचनात्मक लेखों से यह सहज ही विदित हो जाता है।

गुप्त जी के कई आलोचनात्मक लेख सामान्य निबन्धों की कोटि में आ जाते हैं। जहां वे सामान्य से हटकर कुछ नई और विशिष्ट बात कहने लगते हैं वहां उनका विश्लेषण छायावादी गद्य लेखकों की भांति उलझ जाता है। सत्य, शिव और सुन्दर का जो विश्लेषण उन्होंने किया है और

१— पन्द्रह साल हो गए जब से मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट पार्टी और जनता का सक्रिय कार्यकर्ता रहा हूं, आजीवन रहूंगा। यही मेरा जीवन है, यही मेरा वस्तु दर्शन और विधान है, केवल पढ़-लिख पाया हुआ ही नहीं वरन् उपचेतना में आत्मसात होकर रक्त-मांस में घुलमिल कर हृदय में पुनः जमा। वस्तुज्ञान में इन्द्रियजन्य बोध के साथ-साथ मन में सतत पनपा, वृत्तियों, संवेदनाओं, मनोवेगों और सहज भाव प्रतिक्रियाओं के सहारे चेतना में विकास पाया— मार्क्सवाद मेरे जीवन का श्वास है।
— 'नई चेतना' अंक ४ पृ० ६

२— किन्तु इतिहास उन्हें (तुलसी) एक महाकवि के रूप में स्वीकार कर

उसकी प्रगतिशील व्याख्या देने का प्रयत्न किया है वह विशेष दृष्टव्य है।[1]

गुप्त जी अपने जीवन मे भले ही मार्क्सवादी हों किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे वे मार्क्सवाद को ठीक नहीं उतार सके। मार्क्सवाद उनके साहित्य मे बहुत ही ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनका मार्क्सवाद का अध्ययन न्यून है। उनके कई लेखो मे चिन्तन की स्पष्टता विद्यमान है।

इस भाँति गुप्त जी का चिन्तन भी मार्क्सवादी है। उनकी दृष्टि से काव्य की आर्थिक पृष्ठभूमि दूर नहीं होती। आर्थिक और सामाजिक वस्तु-स्थितियो को ही वे साहित्य का मूल उत्स मानते है। उनमे साहित्य के मर्म को समझने वाला हृदय विद्यमान है, उनमे सृजन और आलोचक दोनो के गुण स्थित हैं।

अन्य आलोचक

अन्य प्रगतिवादी आलोचको में सर्वश्री भगवतशरण उपाध्याय, अमृत-राय, नामवर सिंह तथा रामेश्वर शर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आलोचको मे प्रथम दो ने ही आलोचना की इस विशिष्ट धारा मे अपना स्थान बनाया है; शेष अभी मार्ग पर हैं।

चुका है। इस सत्य को सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करेंगे। भारतीय संस्कृति की परम्परा मे तुलसी एक अनमोल कड़ी है। इस उत्तराधिकार को अपनाकर ही हम विकास के पथ पर चल सकते है। तुलसी-साहित्य का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विश्लेषण उसके अन्तर्विरोधो को स्पष्ट करता है, किन्तु उन्हे हमारी जनवादी परम्परा के एक महान कवि के रूप मे भी प्रकट करता है।

(आलोचना — अंक ३)

१— 'सत्य, शिव और सुन्दर' की आराधना को शाश्वत कहा जाता है—यानी जीवन में इसका रूप अपरिवर्तित है। हम जीवन को गतिशील और विकासमान समझते हैं। जड़-स्थावर नहीं। सत्य और सुन्दर के भी अधिकाधिक विकसित भाग हमें समाज और कला में मिलते है।

(नया हिन्दी-साहित्य— एक दृष्टि, पृ० ७१)

डा० भगवतशरण उपाध्याय

डा० उपाध्याय प्राच्य और पाश्चात्य दोनों साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हैं। इतिहास के गहरे मर्मज्ञ होने के कारण उपाध्याय जी ने साहित्य का इतिहास और समाजशास्त्र के प्रकाश में बड़ा ही सटीक विश्लेषण किया है। उपाध्याय जी के पूर्व भारतीय संस्कृति को केवल वायवी और आदर्शवादी ही समझा जाता रहा है। यो तो अधिकतर उनकी आलोचना का क्षेत्र भारतीय संस्कृति और इतिहास ही रहा फिर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य पर अपना लोकप्रिय ग्रन्थ 'खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर' में राहुल जी के क्या मगर बोल्गा से गंगा' पर तथा अनेक फुटकल लेखों— जो कि यत्र-तत्र हिन्दी की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है, लिखे हैं। इन सभी लेखों का मूलाधार भारतीय रस शास्त्र, पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के समन्वय से जो साहित्य के प्रतिमान बनते हैं, वे हैं। कालिदास का भारत में भी उन्होंने युग की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है तथा कालिदास के साहित्य को पारस्परिक प्रतिमानों की कसौटी पर न कसकर एतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धति से तौला है।

उपाध्याय जी में अद्भुत ऐतिहासिक चेतना है और समाज के एतिहासिक विकास में उनकी अपार आस्था। अतः जहाँ कहीं भी उन्हें किसी कृति में ऐतिहासिक भूल दृष्टिगत होती है वे उसे क्षमा नहीं करते।

उपाध्याय जी ने आधुनिक साहित्य पर भी कुछ आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। इन लेखों में 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय का उपन्यास), सुहागिन (विद्यावती मिश्र की काव्य-कृति), ज्ञान-दान (यशपाल का कहानी संग्रह) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखों में उन्होंने दो प्रकार की कलाओं का विवेचन किया है— सर्वहारा वर्ग की कला और अभिजात्यवर्ग की कला। सभी लेखों में वाद का आग्रह न होते हुए भी उनकी समाजवादी पकड़ बहुत ही शक्तिवान है। वस्तुतः शुक्ल जी जैसी पैनी दृष्टि आचार्य वाजपेयी जी जैसा सौन्दर्य-सन्धान, डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी-सी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना डा० उपाध्याय में विद्यमान है। भगवतशरण जी वास्तविक अर्थ में हिन्दी के डा० जानसन हैं।

अमृत राय

श्री अमृत राय, शिवदानसिंह चौहान के पश्चात् 'हंस' के सम्पादक

रहे हैं। अतः इन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के विकास में सक्रिय सहयोग दिया है और यदा कदा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। प्रगतिवादियों ने जब से साहित्य में सयुक्त मोर्चे का स्वर बुलन्द किया था तब से अमृतराय आलोचक के रूप में अधिक प्रकाश में आये हैं। उनके आलोचनात्मक लेख तथा 'हंस' के सम्पादन-काल में जो उन्होंने टिप्पणिया लिखी हैं वे 'नयी समीक्षा' में संकलित हैं।

इन लेखों में कोई विशेषता अथवा मौलिकता न होकर कम्युनिस्ट लेखकों की भाति वे ही रटे रटाये सूत्र है— 'साहित्य वर्गवादी होता है', 'हमारी वस्तुस्थितिया ही हमारी चेतना को निर्णीत करती हैं', 'साहित्य और संस्कृति के विकास का मूलाधार हमारी आर्थिक परिस्थितिया होती हैं', आदि आदि।[1]

वस्तुतः इसके बहुत दिनों पूर्व सन १९३७ के 'विशालभारत' में शिवदानसिह चौहान 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता में' तथा डाक्टर रामविलास शर्मा अक्टूबर १९४७ में अपने लेख 'स्वाधीनता आदोलन और साहित्य' में जो कि उनकी आलोचना पुस्तक 'सस्कृति और साहित्य' में संकलित है इस दिशा में सकेत कर चुके थे।

'नई समीक्षा' में एक भी ऐसा लेख नहीं जिसमें उन्होंने मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र से किसी कृति का मूल्याकन किया हो। उन्हें मार्क्सवाद का बहुत ही स्थूल अध्ययन है जिसके कारण वे साहित्य के कला पक्ष का मूल्याकन करने में अक्षम हैं।

'साहित्य में सयुक्त मोर्चा' नामक पुस्तिका कम्युनिस्ट लेखकों के आरोपों और प्रत्यारोपों से भरी पड़ी है तथा उसका महत्व सामयिक ही अधिक था।

१— वर्ग सघर्ष की तीक्ष्णता पर पर्दा डालना ही सुधारवाद की मुख्य विशेषता है। अपने अन्दर उसी चीज से लड़ना हर मार्क्सवादी, लेनिनवादी आलोचक का पहला काम होना चाहिए। सुधारवाद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद का वर्ग शत्रु है और उसके साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिए।

—'नयी समीक्षा' की लेख भूमिका।

अमृतराय मूलतः कथाकार हैं, उनके पास भाषा की शक्ति है। किन्तु यह भाषा की शक्ति जब तक पैनी सूझ, सूक्ष्म बुद्धि, गहन अध्ययन और संवेदन की क्षमता से समन्वित नहीं हो तब तक वह अकेली आलोचना के लिए अधिक महत्त्व नहीं रखती, यह सत्य अमृतराय के ऊपर भी घटित है।

प्रगतिवादी आलोचना की शक्ति

प्रगतिवादी आलोचना ने हिन्दी साहित्य में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह साहित्य से प्रभाववादी तथा पारम्परिक आलोचना पद्धति का निष्कासन। इस आलोचना पद्धति का प्रमुख प्रतिपाद्य था 'किसी भी कृति के सृजन में वैयक्तिक अनुभूति और संवेदना ही सब कुछ नहीं होती अपितु उसके निर्माण में वस्तुस्थितियाँ, युगीन सत्यों एवं आर्थिक और सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भी महान भूमिका होती है। अतः केवल कृति के अन्तर्मुखी तत्वों का विश्लेषण ही आलोचक का धर्म नहीं है अपितु युगीन परिस्थितियों के जीवन्त सत्य के प्रकाश में भी कृतियों का निरीक्षण और परीक्षण किया जाना चाहिए।'[1]

साहित्य में मार्क्सवाद के अभ्युदय के पूर्व इन तत्वों की अवहेलना ही की जाती थी।

प्रगतिवादी आलोचना बड़े ओज और उत्साह से उन समस्त विघटनवादी प्रवृत्तियों से लड़ी है जो साहित्य में सामाजिकता और 'लोकमंगल' की भावना की विरोधी है। इसी आलोचना ने मनोविश्लेषणवादियों, अतियथार्थवादियों, अभिव्यंजनावादियों आदि ह्रासोन्मुखी विभिन्न साहित्यिक धाराओं से डटकर सामना किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य' में प्रगतिशील साहित्य के विकास की सम्भावनाओं को महत्वपूर्ण बतलाया है।

वास्तव में प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को एक नई राह दी है और वह साहित्य को वायवी एवं काल्पनिक जगत से भूमि की ओर लाया है। समाज में हो रहे आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का अनुकूल

1– History of Sanskrit Literature, Page XCI

कर प्रगतिवादियों ने साहित्य में उसे उतारा है तथा तदनुसार साहित्य के नये प्रतिमानों को खोजकर सौन्दर्य-सन्धान की नई सिम्तों को प्रकट करने में उसने सफलता प्राप्त की है। प्रगतिवाद ने लेखकों को संघर्षशील बनाया है और सामाजिक परिवर्तनों एवं संघर्षों में उनकी आस्था को दृढ़ किया है।

इस भांति प्रगतिवादी विश्लेषण ने काव्य को सतत् संघर्षशील और यथार्थवादी परिस्थितियों में अनुस्यूत कर साहित्य और आलोचना दोनों को दृढ़ता प्रदान की है। प्रगतिवाद ने अपनी इस शक्ति और दृढ़ता के कारण निश्चित ही हिन्दी आलोचना के इतिहास में अपना स्थान बना लिया है।

प्रगतिवादी आलोचना की सीमाएं

आचार्य शुक्ल से लेकर कतिपय प्रयोगवाद के समर्थकों को छोड़कर प्रायः सभी आलोचक साहित्य में सामाजिक चेतना की महत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु मार्क्सवाद द्वारा विश्लेषित सामाजिक चेतना अत्यधिक एकांगी एवं घोर संकीर्णतावादी है। जिस भांति मनोविश्लेषणवादी मनुष्य को उसकी निगूढ़ अन्तश्चेतना का क्रीत-दास घोषित करते हैं ठीक उसी भांति, प्रगतिवादी भी मनुष्य को समाज का क्रीत-दास ही बतलाते हैं— इस समूह के बिना उसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते और भौतिक जीवन की आर्थिक परिस्थितियों और उत्पादन के साधनों को ही साहित्य, संस्कृति और बौद्धिकता के क्षेत्र में निर्णयकर्ता घोषित करते हैं[1]

मार्क्सीय कला सिद्धांत भारतीय साहित्य के विश्लेषण के लिए पंगु है। उसके विश्लेषण की एक परम्परा है, जहां वस्तुस्थितियों, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों एवं उत्पादन के साधनों के माध्यम से किसी भी साहित्य के उद्गम साधनों को निर्णीत करते हैं वहां उन परिस्थितियों के अतिरिक्त उस जाति विशेष की सांस्कृतिक धरोहर, उस व्यक्ति का मानस निर्माण तथा उसकी वैयक्तिक रुचियां और प्रवृत्तियां भी साहित्य के उद्गम

१-- प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। उसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं: भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ती थी, जो समाज को नये-नये जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।

और विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। फिर यही नहीं प्रगतिवाद वर्गों के संघर्षों में अपार आस्था रखता है। यह वर्ग संघर्ष वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लाकर अपने राजनैतिक मंतव्यों की सिद्धि चाहता है। इसी लिए वह कला के द्वारा मनुष्य को राजनीतिक रूप में जागरूक करता है और उसे 'बुर्जुआ' वर्ग से लड़ने को तत्पर करता है।

मार्क्सवादी आलोचना पद्धति साहित्य में संयन्त्रण (रेजीमेन्टेशन) की भावना को प्रश्रय देती है और फलस्वरूप साहित्य और उसके रचयिता का कार्य भी यंत्र की तरह ही हो जाता है। फिर यह भी तो एक वास्तविकता है कि प्रगतिवाद की विचार सरणियाँ सर्वथा विदेशी हैं और पाश्चात्य देशों के घोर यन्त्रयुग की उपज है। भारत के पास उसकी अपनी सांस्कृतिक साहित्यिक और दार्शनिक परम्परायें है, उनका भी युग की विशिष्ट परिस्थितियों में विकास हुआ है अतः उन्हें कैसे दृष्टि-ओझल किया जा सकता है।

भारतीय जन-जीवन में वही चिन्तना प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है जिसने कि इसी भूमि में अपना जीवन-रसग्रहण किया हो तथा जिसकी जड़ दूर इसी की मिट्टी में जमकर उसकी अपनी हो गई हो चाहे प्रगतिवादी इसे संकीर्ण अथवा दकियानूसी मनोवृत्ति ही क्यों न कहें। वही साहित्य प्रगतिशील हो सकता है जो बिना किसी वाद का आग्रह किए जनमत की भावनाओं को अभिव्यक्ति देकर उसमें एक उत्कृष्ट कर्मेच्छा और मनोबल पैदा कर सके। साहित्य और आलोचना निर्माण के भावी प्रतिमान इन्हीं आधारों पर निर्मित होंगे जिनमें हमारे आत्मनिर्माण और पार्थिव निर्माण जनतन्त्र और सहअस्तित्व की प्रगतिशील विचारणाओं को पृष्ठभूमि पा सकें।

७

प्रयोगवाद और आलोचना

प्रयोगवाद का मूल उत्स छायावाद अथवा प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप न खोजकर हमारी सामाजिक परिस्थितियों एवं यथार्थ से टकराकर समाज के तेजी से बदलते हुए जीवन-मूल्यों में ही खोजना होगा । प्रयोगवाद को विचार शून्य अथवा केवल शिल्पगत सत्य न मानकर उसकी अपनी विशिष्ट चिन्तन पद्धति है । उसके अपने जीवन-सिद्धान्त है जो वह साहित्य में अवतरित कर रहा है । जब प्रयोगवाद का साहित्य में उन्मेष हुआ था उस समय उसके लेखकों के पास कोई वस्तुगत विचारधारा नहीं थी, वे शिल्पी-मात्र थे-दिग्भ्रमित तथा मार्ग की टोह में ।

यह निश्चित है कि 'प्रयोगवाद' शब्द पाश्चात्य देशों से ही ग्रहण किया है । प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तथा उसके पश्चात् जहा कला के क्षेत्र में प्रचार-वाद का प्रसार हो रहा था ; भर्ती के लिए तथा विजय-प्रचार के लिये पोस्टर और कार्टून बनाये जा रहे थे वहाँ विश्वयुद्ध के पूर्व की कला 'प्रभाव-वाद' का विघटन हो रहा था वे कलाकार जो कि मध्यमवर्गीय निष्क्रिय बौद्धिकता लिये हुए थे युग की इन परिस्थितियों से हताश और कुण्ठित थे । अतः उनके मानसिक जगत में विद्रोह की एक ज्वाला जल रही थी । अत. वे अपनी उलझी हुई एवं दबी हुई (Frustrated) मनः स्थिति में अपनी कला को नाना प्रयोगों के मार्गों से ले जा रहे थे जिसमें उनकी अनुभूतियों में स्थिरता न होकर भागे जाने की प्रवृत्ति थी । उन्होंने न केवल दृश्य उपकरणों

को ही अपनी इस शीघ्रता में चित्रित किया अपितु अपनी अन्तश्चेतन की कुण्ठित स्पृहाओं को मोटी-मोटी सीधी-सीधी रेखाओं में अंकित किया है, अन उनमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त प्रतीकों एवं उपमानों से ही अपनी ऊबन और उलझन व्यंजित की गई है ।[1]

कला के क्षेत्र में यह विचार आन्दोलन विभिन्न अभिधानों में जाना जाता है,– 'कम्यूनिज्म, फ्यूचरिज्म, 'एक्सपेरिमेंटलिज्म,' पोस्टइम्प्रेशनिज्म आदि आदि । इस कला आन्दोलन के साथ कुछ समय बाद 'पाब्लोपिकासो' का नाम जुड़ गया । वस्तुत न केवल इस आन्दोलन के चिन्तनजगत में हमें अराजकता का भाव मिलता है अपितु शिल्प अथवा इस धारा विशेष के कलाकारों द्वारा कला–परिवेश में भी एक अराजकता के दर्शन होते हैं । परम्परागत शिल्प के प्रति एक विद्रोह का भाव लक्षित होता है ।

कला जगत द्वारा प्रणीत यह आन्दोलन साहित्य जगत में भी अवतरित हुआ । भारत के कतिपय साहित्यकार समान वस्तुस्थितियों एवं वैयक्तिक उलझनों के कारण हिन्दी-साहित्य में इस आन्दोलन का बीज लाये ।

द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ हुये कोई चार वर्ष हो गये थे । उसके तात्कालिक एवं भावी परिणाम सामान्य जनता की आँखों के सामने मूर्त हो रहे थे तथा भारतीय जनता मुक्ति के लिये अथक संघर्ष में रत थी ।

मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी भौतिक रूप से इन संघर्षों में प्रभावित नहीं हुआ था किन्तु मन उसका भी आन्दोलित हो रहा था । वह युग की परिस्थितियों और प्रगतिशील शक्तियों पर से अपनी आस्था खो बैठा था और वैचारिक जगत में उसके पास कोई एक स्पष्ट दर्शन नहीं था जिसके द्वारा उसकी खोई हुई आस्था की पुन प्रतिष्ठा हो जाए ।

प्रयोगवाद ऐसी ही कतिपय बुद्धिजीवियों के भटके हुए मस्तिष्कों की उपज है । साहित्य की इस धारा विशेष का उन्नयन अज्ञेय जी द्वारा प्रकाशित 'तार सप्तक' (सन् १९४३) के पश्चात् ही हुआ । सप्तक के संग्रहकर्ता श्री अज्ञेय ने पुस्तक की एक लम्बी 'विवृत्ति' लिखी है । इस विवृत्ति में उन्होंने प्रयोगवाद के सम्बन्ध में विस्तृत सिद्धान्त की चर्चा की है । 'प्रयोग'

1– The out line of Art, P 678

शब्द को लेकर ही उन्होंने अपने नानाप्रकार के वितण्डावादी तर्क प्रस्तुत किए है। जैसे उन्होंने यह शब्द पाश्चात्य कला-संसार से ग्रहण न कर स्वयं आविष्कृत किया हो 'प्रयोग' को लेकर यह कहना कि 'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को 'प्रयोग' का विषय मानते है जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है।' उनका अनन्तर तर्क (Second Thought) ही लगता है, क्योंकि अज्ञेय जी के उपर्युक्त कथन की स्वीपुष्टि संग्रहीत कवियो में से किसी ने नहीं की है।

अज्ञेय जी लिखते है— "किन्तु इससे यह परिणाम नही निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि है, या कि साहित्य-जगत के किसी एक गुट अथवा दल के सदस्य अथवा समर्थक है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं है, अभी राही है, राही नही राहो के अन्वेषी'।

किन्तु इनमे से कितने ही कवि 'राहो के अन्वेषी' नही थे। इनमे से कितने ही कवि राहो के कवि नही है, कुछ अवश्य उनके जैसी ही भटकन लिये हुए थे और जो उन्होंने एक अराजकतावादी राह बतलायी थी उनके राही है। डा० रामविलास शर्मा, गजानन माधव मुक्ति बोध आदि कवियो ने अज्ञेय जी के उपर्युक्त तर्कों को कभी भी समर्थन नहीं दिया।

जहा तक इन कवियों में मूलभूत सैद्धान्तिक एकता का प्रश्न है— वह केवल काव्य के प्रति विद्रोह ही है। इनमें से प्रत्येक कवि ने उस शिल्प का-काव्य के उस पारम्परिक परिवेश के प्रति विद्रोह किया है और यह विद्रोह क्या तो भाषा और प्रतीकों के क्षेत्र में, क्या कल्पना और छंदों के क्षेत्र मे, शिल्प की समग्र छायावादी पद्धति पर, इन कवियों ने अपनी भाषा की अप्रतिम् व्यंजनाशक्ति और नये-नये प्रतीकों के द्वारा, उसके समग्र परिवेश पर बहुत बड़ा प्रहार किया है और कला के शिल्प के क्षेत्र में नई गवेषणायें और कई मौलिक उद्भावनायें की है। पाश्चात्य देशों के 'माडर्निस्ट' कलाकार भी अपने इस नूतन रूपवाद के द्वारा एक रंगमंच पर एकत्रित हुए थे। किन्तु अज्ञेय जी तो इन कवियों की यह भी एकता स्वीकार नहीं करते।[1]

१— उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयो पर उनकी राय अलग–अलग है। जीवन के विषय मे, काव्यवस्तु और शैली के, छंद और तुक

वाजपेयी जी द्वारा लिखित, 'प्रयोगवादी रचनायें' लेख जो कि 'आधुनिक साहित्य' में संग्रहीत है कई बार आवृत्ति कर जाने के पश्चात् भी उसमे यह देखने को नही मिला कि "इन कवियो मे कई मूलभूत सैद्धान्तिक एकता विद्यमान है।"

वाजपेयी जी ने साहित्य के उदात्त मूल्यो के आधार पर प्रयोगवाद का निरपेक्ष मूल्यांकन किया है। किसी सिद्धान्त का चश्मा मानकर नही।

टी० एस० ईलियट की विचारधारा का आगमन तारसप्तक के प्रकाशन के बाद ही हिन्दी-साहित्य मे हुआ। स्वयं अज्ञेय जी टी० एस० ईलियट की विचारधारा का आगमन सन् १९४५ मे मानते है।[1] अत अज्ञेय जी के पास उनकी अपनी कोई मौलिक चिन्तना उस समय तक नही थी। तारसप्तक के प्रकाशन के बाद उनके द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' प्रयोगवाद का मुखपत्र माना जाने लगा और उससे इस धारा को बहुत बड़ी सहायता मिली।

वे कवि वे दायित्वो के, प्रत्येक विषय मे उनका आपस मे मतभेद है। यहां तक की हमारे जगत के सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यो को भी वे समान रूप से स्वीकार नही करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगो का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता इत्यादि।

(तारसप्तक की विवृत्ति)

हिन्दी के एक नए आलोचक लिखते हैं—अज्ञेय जो प्रयोगवाद को कोई वाद नही मानते। किन्तु उसके पीछे उनका सिद्धांत या आग्रह अवश्य है। वे जिन्हें प्रयोगशील कवि कहते हैं वे चाहे तारसप्तक के हो या दूसरे सप्तक के, उनके संगठित होने का आधार अवश्य ही कोई सिद्धान्त है, प० नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह केवल तर्क न्याय से निष्कर्ष न निकालकर भी यदि विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इन कवियो मे कई मूलभूत सैद्धान्तिक एकता विद्यमान है।

(राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य)

लेखक रामेश्वर।

1. 'हंस' दिसम्बर १९४७, पृ० २३६

इस भांति कुछ स्थानीय परिस्थितियों से गृहीत और अधिक मात्रा में टी० एस० ईलियट से काव्य के सिद्धांतों को ग्रहण कर प्रयोगवाद ने आज 'वाद' का रूप धारण कर लिया है।

अतः प्रयोगवाद के पूर्ण विश्लेषण के लिये टी० एस० ईलियट और उसके काव्य सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

टी० एस० ईलियट १८१८ में अमरीका के सेण्ट लुइस स्थान में पैदा हुए थे और १९१५ में इंग्लैण्ड में स्थायी रूप में बसकर १९२७ में वहां की नागरिकता प्राप्त की। उन्होंने सन् १९२० में ही एंग्लो-कैथोलिक चर्च में अपना सम्बन्ध स्थापित किया और अपने आलोचनात्मक लेखों, कविताओं और नाटकों से अपनी धार्मिक कट्टरता की उद्घोषणा की।[1]

हिन्दी-साहित्य में तो यदि यही बात शुक्ल जी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र अथवा प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की होती तो अज्ञेय जी शीघ्र ही कह देते कि लेखक साम्प्रदायिक है–प्रतिक्रियावादी है–संकीर्णतावादी है। कोई भी और कहीं का भी साहित्यकार इतना संकीर्णतावादी नहीं हो सकता। यदि उनमें थोड़ी भी उदारता होती तो एक बार यह तो सहन किया जा सकता था कि ईसाई ही नहीं अपितु समस्त मानवता को सदाचार-शास्त्र तथा धर्मशास्त्र के मूल्यों के प्रकाश में रचित साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

धर्म के रूप में वे एंग्लो कैथोलिक हैं, साहित्य में पुराणवादी हैं और राजनीति में राजपक्षावलम्बी। इस भांति उनका अन्तर एलिजाबेथीय जीवन मूल्यों से अभिनिर्मित है। जिस विद्रोह और परिवर्तन की वे बात करते हैं, वह विद्रोह और परिवर्तन अत्यधिक बाहरी है–बहुत ही सतह का है, मात्र रूप और शिल्प का। हिन्दी में भी जब तारसप्तक का प्रकाशन हुआ था तब पाठकों को सिवाय इस ऊपरी परिवर्तन के ऐसी कोई वस्तु नहीं मिली थी जिसने कि उन्हें किसी एक सूत्र में बांधा हो। तारसप्तक के प्रकाशन के कोई दो वर्ष पूर्व सन् १९४१ में किपलिंग की कविताओं का संपादन करते हुए अपने प्रवेश लेख में भी उन्होंने ऐसी ही असम्बद्धता का प्रतिपादन किया था।[2]

1– (Selected prose by T. S. Eliot P 32).

2– From the editor's Introductory Eassy to a Choise of kipling's Verse, 1941.

पुराणवादी और सामन्तीय जीवन मूल्यों से चिपके होने के कारण ईलियट ने अपने युग की यान्त्रिकता और भौतिक विकास के प्रति असन्तोष और एक विक्षोभ प्रकट किया है। मूलतः धार्मिक होने के कारण उन्हें यह विकास सह्य नहीं जोकि अपने वास्तविक अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है। और वे भावी पीढ़ी के लिए इन्हें घातक सिद्ध करते हैं। ये आस्थायें उन्होंने अपनी कितनी ही प्रसिद्ध कविताओं यथा 'वेस्टलैण्ड', 'दी हॉलोमेन', 'ईस्ट कोकर' आदि में व्यक्त की हैं। प्रथम विश्व युद्ध ने तथा युग की यान्त्रिक और भौतिक प्रगति ने उनके पुराने विश्वासों का आधार हिला दिया था और वे जीवन में एक रीतापन अनुभव करने लगे। जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण उनके पलायनवाद का ही द्योतक है। निष्क्रियता और अविश्वास में ही जीवन में उपयुक्त दृष्टिकोण का सन्निवेश होता है और दूसरा यह कि युग और परिस्थितियों से लड़ने और उन्हें बदलने वाला दृष्टिकोण मनुष्य के पास न होने के कारण वह सहज ही एक रीतापन और निराशा अनुभव करता है।[1]

जीवन के प्रति इस रीतेपन और निराशा के कारण अन्धकार कम प्रकाश में बदल सकता है यह एक आश्चर्यजनक प्रतिपादन ही कहा जा सकता है। ईलियट इस दृष्टिकोण से चिपके हुए हैं धर्म का सहारा लेकर। धर्म और नैतिकता और यह धर्म भी साहित्यकार का धर्म मानव धर्म और सदाचार एवं सद्निष्ठा पर न टिका होकर एक धर्म सापेक्ष नैतिकता है और ईसाईयत। कविता देना, साहित्य का धर्म और नैतिकता ईसाइयत में इस महत्व देना इसी प्रथम कोटि के साहित्यकार की विशेषता ना नहीं कही जा सकती। ईलियट कला को परखने का प्रथम मान धर्म और सदाचार ही मानते हैं।[2]

अपने एक दूसरे आलोचनात्मक ग्रन्थ— The use of poetry & the use of criticism में भी वे आलोचक का उपयुक्त कथित धर्म ही निरूपित करते हैं।[3]

यदि इस धर्म और नैतिकता की तह में जाकर ईलियट के साहित्य

1- East Conquer
2- Select*d Prose P 33
3- The use of Poetry & the Modern Criticism P 126

का मूल उद्देश्य परखने की चेष्टा करें तो स्पष्टतः यह विदित हो जायगा कि साहित्य का धर्म और कर्म सिवाय 'एन्गलोकैथोलिक' धर्म के प्रचार के और कुछ भी नही है।

ईलियट ईसाई धर्म को विश्व धर्म का पर्याय जैसा ही मानते हैं। जिस भांति वे ईमानदार पाठक और ईमानदार ईसाई दोनों का एक ही कर्म और धर्म सिद्ध करते है।[1]

उनकी दो प्रकार के भिन्न-भिन्न साहित्य की ईसाईयो के लिये और मूर्तिपूजकों के लिये चाहना स्पष्टतः उनके संकीर्ण और साम्प्रदायिक विचारों का ही द्योतक है। ईलियट की धर्म के प्रति यह हठधर्मी उन्हे एक विचित्र-सा परम्परावादी बना देती है। वे परम्परा के भी पूरी तरह अनुगामी नहीं रहते और न नूतन को अपनी सम्पूर्ण युगीन चेतना के साथ ग्रहण ही करते है।[2]

ईलियट का यह अतीत की चेतना के प्रति नैरन्तर्य वर्तमान की चेतना को भी निर्णीत करता है। विकसित और सचेत वर्तमान वही है जो अतीत की चेतना को बौद्धिक रूप मे अनुभूत करे।

इसीलिये ईलियट का यह वर्ग वर्तमान की पूर्णता को न थामकर उसके संघर्षशील काल मे अपनी आस्था न रखकर अपने जीवन के कतिपय त्वर क्षणों को ही अभिव्यक्ति देता है।

इस भांति व्यक्ति अतीत की चेतना को लेकर वर्तमान के कतिपय महत्वपूर्ण क्षण मे जो उसके वर्तमान मे समझौता करने मे सक्षम हो अपने व्यक्तित्व का विसर्जन करता हुआ चला जाये, यह सब एक बौद्धिक रूप मे हो, भावात्मक अथवा संवेगात्मक रूप से नहीं क्योंकि उसके वर्तमान को अतीत के प्रति सतत जागरूक रहना है।[3]

ईलियट साहित्य के भाव तत्व और उसकी रागात्मक शक्ति का विरोध कर उसमे बौद्धिकता की प्रतिष्ठा करता है। यह बौद्धिकता भी निरपेक्ष

1- The use of Poetry & the Modern Criticism, p. 42
2- Ibid, p. 24
3- Ibid, p. 30

बौद्धिकता है, वैयक्तिक राग द्वेष अनुभूति और संवेदना से मुक्त। यह निर्वैयक्तिकता ही साहित्य की आत्मा है। हिन्दी के कई लेखकों ने इस निर्वैयक्तिकता और बौद्धिकता का समर्थन किया है और साहित्य-सृजन के लिये इसे वैज्ञानिक प्रक्रिया माना है। समर्थन करने वालों का भी हिन्दी साहित्य में जैसा कि ऊपर कहा गया है एक पूरा वर्ग है जिसके नेता अज्ञेय जी हैं। वे लिखते हैं—(केशवानन्द जी)

'ईलियट की यह निर्वैयक्तिकता एक बिल्कुल वैज्ञानिक प्रक्रिया है वह काव्य में व्यक्तिगत संवेगों का महत्व उस रूप में नहीं स्वीकृत करता जिसमें रोमान्सवादी समीक्षक सोचा करते हैं। व्यक्तित्व के निर्वैयक्तिकरण का सिद्धान्त उसके पूर्व भी समीक्षा की विशेष वस्तु रहा है किन्तु ईलियट ने उसे जैसे तर्कसंगत व्यवस्था दी है वह अवश्य ही स्तुत्य और अनोखी है।'[1]

किन्तु ईलियट तो रोमान्सवादियों की भाँति व्यक्तिगत संवेगों का किसी भी रूप में नहीं मानते। फिर काव्य में यदि रागों और संवेगों का निरूपण नहीं होगा तो फिर उसकी व्याप्ति में ही लेखकों को हाथ धोना पड़ेगा। यही कारण है कि अंग्रेजी जानने वाले देशों में भी ईलियट के पाठकों की संख्या अत्यधिक न्यून है और पाठक आज भी प्राचीन महाकाव्यों नाटकों एवं स्वच्छन्दतावादी कवियों का पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। जहाँ तक रोमांसवादियों की वैयक्तिक अनुभूति और संवेगों का प्रश्न है वह तो हमारे भारतीय काव्य शास्त्र में कभी भी स्तुत्य नहीं रही। किन्तु रोमान्सवादियों में से कितनों ने ही काव्यों में विशुद्ध संवेगों का सृजन न कर संवेगों और रागों को बौद्धिकता की अग्नि में तपाकर ही उन्हें अभिव्यक्त किया है। और आलोचना को तो सदैव ही निर्वैयक्तिक मानते आ रहे हैं।

ईलियट तो समस्त संसार को ईसाईयत में बदल देना चाहते हैं एवं ईसाई जाति बनाना चाहते हैं जिसमें सम्यक सामाजिक धर्म की नैतिकता व्याप्त हो। वे भावना के समाज में एक संकट की अवस्था घोषित करते हैं।[2]

वे इसका कारण अपने युग की यान्त्रिकता में उत्पन्न परिस्थितियों ही

१– आलोचना वर्ष ३, अंक १, अक्टूबर १९५३

2- Ibid

बतलाते हैं जिनके कारण जीवन के शाश्वत मूल्यों का लोप हो गया है।[1]

ऐसा क्यों हुआ ? अन्य युग की इन सीमाओं के साथ-साथ उसकी उपलब्धियाँ भी हैं। यदि इन उपलब्धियों के प्रकाश में इलियट संस्कृति और परम्परा का विवेचन करते तो उन्हें पाप के लिए पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता और वे मानव के रूप में मनःस्थिति की प्रतीति नहीं करते।

इलियट युग की वस्तुस्थितियों से जो काव्य के प्रतिमानों में परिवर्तन की बात कहते हैं वह परिवर्तन केवल शिल्पगत ही रह जाता है— वस्तुगत परिवर्तन के लिये उनके पास इन परिस्थितियों के केवल नकारात्मक दृष्टिकोण और मूल्य की भावभूमि में ईसाईयत का प्रतिपादन मात्र मिलता है। यही कारण है कि उनके द्वारा रचे हुए इस आध्यात्मिक जाल से उनका काव्य मुक्त नहीं हो पाता और ऊपर ही ऊपर उनका काव्य नये शिल्प और नवीन प्रतीकों के मध्य ही क्रियाशील रहा करता है। यही बात स्पष्ट उनके आलोचनात्मक लेखों का है जिनमें ईसाईयत की पृष्ठभूमि में नव युग से उद्भूत स्वातन्त्र्य शक्तियों का विरोध किया गया है। यही कारण है कि उनके आलोचनात्मक लेखों, कविताओं एवं पुस्तिकाओं में एक समन्विति है और उन्हें उनका ऐंग्लो-कैथोलिक दर्शन एकता के सूत्र में बांधे हुये है।

इलियट को जितनी प्रसिद्धि अभी भी हिन्दी के कतिपय भावुक लेखकों ने दिया उतनी ख्याति तो उन्हें पाश्चात्य आलोचकों ने भी नहीं दी। टैगोर को नोबेल पुरस्कार दिया गया तो क्या देश ने और क्या विदेशों ने सभी ने उनके उदात्तमानवतावादी साहित्य को एक स्वर से सराहा था। किन्तु जब सन् १९४८ में इलियट को उनके काव्य पर पुरस्कार मिला तो कई पाश्चात्य लेखकों ने इलियट के काव्य और उनके साहित्य-सिद्धान्तों पर प्रहार किये। प्रसिद्ध आलोचक विल्सन और मैथिसन् जैसे मानवतावादी आलोचकों ने भी इलियट के काव्य को, उसकी दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण के प्रति अपना असंतोष प्रकट किया। कई समाजशास्त्री आलोचकों ने इलियट को प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक और ऐंग्लो-कैथोलिक धर्म विश्वासों का एजेंट कहा।

इलियट का नाम अमरीका में दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में प्रथम

1- Essays in Criticism Vol. VI. 1951.

विश्व युद्ध के समय विकसित 'नव मानवतावाद' के साथ भी लिया जाता है। इस आन्दोलन के जनक ईरविंग बेबिट और पाल एलरमे मोरे थे। यह आन्दोलन समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण की अतिवादिता को समाप्त कर एक संयत और संतुलित दृष्टिकोण को संस्थापित करने के लिए प्रारम्भ हुआ था। इस आन्दोलन में बौद्धिक कलात्मक और नैतिक क्षेत्रों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर बल दिया। इस आन्दोलन के प्रमुख प्रतिमान संतुलन और नियन्त्रण हैं जिन्हें कि हम संयत और स्वतन्त्र बौद्धिकता के अन्तरसंयम में प्राप्त कर सकते हैं। इनके ये विचार एवं मान्यताएँ मे जो कि अमेरिका मे १९३० में हुई थी निश्चित हुए थे। इस नव मानवतावाद' का प्रभाव भी ईलियट पर दृष्टिगत होता है। यद्यपि ईलियट ने स्वयं उसे अपने मौलिक स्वरूप में ग्रहण नहीं किया है तथापि उसने अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए नैतिकता और वैज्ञानिकता को धर्म की पृष्ठभूमि मे सन्निवेशित कर उसी विचारधारा का समर्थन किया है।

इस नवीन सैद्धान्तिक विचारधारा के अतिरिक्त ईलियट की गणना फ्रांस प्रतीकवादियों में की जाती है। इन प्रतीकवादियों का ईलियट पर अत्यधिक ऋण है। यूरोप मे प्रतीकवाद का विकास ईलियट के साहित्यिक मानस के विकास के साथ ही मानना चाहिए। यहाँ तक कहा जा सकता है कि प्रतीकवादियों के काव्य-मूल्यों का विकास ईलियट के विद्यार्थीकाल में हो रहा गया था। इस धारा में नवीनता थी, पृष्ठभूमि वहाँ जिसका कि हमने कला के क्षेत्र में 'क्यूबिज्म', 'पोस्टइम्प्रेशनिज्म' तथा सिम्बालिज्म का विश्लेषण करते हुए की है। वे ही हारे हुए मन थे जिनकी भावनाओं पर युग के आघातों के चिन्ह थे और जो उन्हें सहने में अक्षम थे। साहित्य के क्षेत्र में इनका औपचारिक प्रारम्भ १८८६ से माना जा सकता है। जहाँ इस आन्दोलन के पीछे चित्रकला का हाथ माना जाता है ठीक उसी भाँति इंग्लैण्ड में १९४८ में कला और आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित 'प्री-रफेलाइट ब्रदरहुड' आन्दोलन की भूमिका भी स्वीकार की जाती है जिसके प्रमुख नेता जान रस्कीन, थामस वुलनेर, राजेटी आदि माने जाते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य प्रकृति का बिना किसी परम्परा और अंधविश्वास में बंधकर अध्ययन करना तथा प्राचीन मनीषियों जैसी शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विकास, ये ही इनकी मोटी चिन्तन रेखायें थीं।

सन् १८८६ में 'फिगेरोव' नामक एक साप्ताहिक पत्र में 'प्रतीकवादी'

संप्रादय के संगठन की घोषणा प्रकाशित हुई। इस घोषणा मे लिखा गया था कि इस नवीन प्रकार की कविता का उद्देश्य प्रत्ययों को इद्रियों द्वारा ग्राह्य रूप देना है। यही कारण है कि विशिष्ट धारा ने अपने काव्य में संगीत से भी बहुत सी सामग्री उधार ली तथा उसके माध्यम से कई प्रतीको एवं उपमानो का सृजन किया। सगीत मे विशेषतः वाग्नेर (Wanger)की नई खोजों और उपपत्तियों को ही इस धारा विशेष ने अपने साहित्य मे अवतरित करने का प्रयत्न किया।

किन्तु इस धारा विशेष के प्रतीकों का यह अंतिम ध्येय नही था। अतएव इस प्रकार की कला मे मूर्त दृश्य केवल इद्रिय ग्राह्य रूप है जिनका चरम लक्ष्य आदिम प्रत्ययों को अपने नीहित साम्य का सांकेतिक परिचय देना है। इस आन्दोलन के कुछ समय पश्चात् ही वर्लेन और मलार्मे को केन्द्र बनाकर अनेक नवयुवक कवि एकत्र हुए और इस प्रकार उन दो प्रतीकवादी शिविरो की स्थापना हुई जिनके विश्वासों और आस्थाओं मे आंतरिक रूप से तो बहुत कम वरन् बाह्य रूप से कुछ भेद था। वर्लेन के वर्ग के साहित्यकारो ने आवेगपूर्ण नैराश्य स्वीकार किया। इस आवेगपूर्ण नैराश्य मे उन्होने जिस शैली का प्रयोग किया वह अत्यधिक सहज ऋजु है। किन्तु मलार्मे ने जिस शैली को अपनाया वह अपेक्षाकृत दुरूह और जटिल थी, यही नही उसने जिस शिल्प और काव्य विधान को प्रस्तुत किया वह सरल नहीं है। रीम्बो और मलार्मे काव्य मे सभी प्रकार के इद्रजाल मे.अपनी आस्था रखते थे। उन्होने अपने युग की चित्रकला 'प्रवृत्तियों का अपनी काव्य चिन्तना मे इतना प्रभाव दर्शाया है कि इन्होंने कई अक्षरो के रंग ही निश्चित कर दिए जैसे इन्होंने 'ए' का रंग काला, 'इ' का रंग श्वेत, 'आई' का रग लाल, 'औ' का रग पीला और 'यू' का रंग हरा निर्दिष्ट किया है। इन नवीन उद्भावनाओं द्वारा इन साहित्य मनीषियों ने प्रत्येक अक्षर की विशेषता का निरूपण किया तथा लय को पारम्परिकता से मुक्ति दिलाकर उनमे नवीनता का उन्मेष किया। इस भांति इस धारा के साहित्यकारों का यह दावा है कि इन्होंने भाषा को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। पाश्चात्य देशो मे प्रतीकवादी कवियों और नाटक-कारो मे फ्रांस मे मेटरलिंक, क्लाडेल और वैलरी, जर्मनी मे जार्ज और रील्के, रूस मे चेखव, आयरलैण्ड मे सीझ और यीट्स, स्काटलैण्ड मे बेरी, इंग्लैण्ड मे टी० एस० ईलियट और अमरीका मे कजिन आदि प्रसिद्ध हैं। प्रयोगवादियों को भी यदि प्रतीकवाद की हम धारा विशेष मे लें तो इस विशिष्ट वाद के

अन्तर्गत ले सकते हैं।

वस्तुत जैसा कि प्रतीकवादियों ने प्रगतिवाद के पूर्व ही अपना एक विशिष्ट जीवन दर्शन तथा अपने काव्य सिद्धान्तों का स्पष्ट कर दिया था वैसा इन प्रयोगवादियों ने नहीं किया। इनके आलोचनात्मक सिद्धान्तों का समुचित विकास होना अभी शेष है। जो ये लेख और विश्लेषण अपनी कविताओं का प्रस्तुत करते हैं वह इन्हीं उपयुक्त विश्लेषित कतिपय पाश्चात्य धाराओं के सिद्धान्तों से अपने प्रतिमान ग्रहण कर उन्हें सीधे हिन्दी काव्य पर भी लागू करते रहते हैं।

अज्ञेय जी जैसा कि मनोविश्लेषणवाद और हिन्दी-आलोचना में बतलाया—कहीं फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का पल्ला पकड़ते हुए आज के मनुष्य को 'यौन-वर्जनाओं का पुंज' घोषित करते हैं और कहीं ईलियट के सिद्धान्तों को थामे हुए प्रेमचन्द, प्रसाद और आचार्य शुक्ल को सामान्य कोटि के साहित्यकार घोषित करते हैं। फ्रायड जैसा व्यक्ति जिसने त्रैकालिक ईसा दया की झूठी और फरेबभरी नैतिकता और धर्म विश्वास को कामलिप्सा का ही एक परिष्कृत स्वरूप कहा—ईलियट अपने सैद्धान्तिक क्षेत्र में फूटी आँख देखना भी पसन्द नहीं करते होंगे। अत कहीं तो अज्ञेय जी किसी लेखक पर फ्रायड, युंग, आडलर आदि मनोविश्लेषणवादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित मानदण्डों का उपयोग करते हैं और कहीं ईलियट के परम्परावादी सिद्धांतों का।

अज्ञेय जी प्रसाद की सुप्रसिद्ध कविता 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' का जो विश्लेषण करते हैं वह अत्यन्त एकांगी है।[1]

१— प्रसाद के उपयुक्त उदाहरण में एक कल्पित देश की ओर जाने की लालसा दीखती है। लेकिन यह कहना कठिन है कि यहाँ लालसा 'तोषप्रद अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की माँग के खंडित हो जाने से अपनी प्रौढ़ और विकसित रुचियों के लिये सामाजिक स्वीकृति पाने की कुण्ठा से ही उत्पन्न हुई है। बल्कि इससे यह अनुमान होता है कि कवि इस प्रौढ़ विकसित उलझी हुई, आधुनिक रुचियों या मन स्थितियों को छोड़कर एक सरल और अधिक सुखद जीवन प्रणाली की ओर जाना चाह रहा है, जिसमें व्यक्ति की आवश्यकतायें और उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत सुगम हैं। त्रिशंकु, पृ० ५८

उनका यह विश्लेषण का तरीका निश्चित ही इलियट से न ग्रहण कर मनोविश्लेषणवादियों से उधार लिया हुआ है। किन्तु वे विश्लेषण का निष्कर्ष एक व्यक्तिहीन निर्वेद इलियट से ही ग्रहण करते हैं।

अज्ञेय जी 'स्वातन्त्र्य काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' शीर्षक लेख में इलियट की 'अभिव्यक्ति-बिन्दु' का समर्थन देते हुए लिखते हैं—

"कला कलाकार की अनुभूति उसकी व्याप्ति और साथ ही उसकी अर्थवत्ता, प्रासंगिकता, 'कमिटमेंट' नहीं हो सकती कि दोनों पक्षों को उनका उचित स्थान दे सके ? अतः वे लोग जो साहित्य किसके लिए का उत्तर देते हुए चाहते हैं कि साहित्यकार का क्षेत्र सीमित कर दिया जाय सारी, भूल करते हैं।"

अज्ञेय जी द्वारा दी मानसिक प्रेरणा की 'निर्माण' की आवश्यकता का समर्थन तथा 'साहित्य किस के लिए' का उत्तर न देना ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे से अनुस्यूत हैं क्योंकि जिन परिस्थितियों और 'घर छोड़ने की प्रवृत्ति' ([illegible]) में वे निर्माण की विवशता को अनुभव करते हैं। उसमें इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं हो सकता कि 'साहित्य किस के लिए' निर्माण किया जाय। ऐसी स्थिति में जो साहित्य-निर्माण होगा वह रोमांसों और सपनों का गड़बड़झाला ही होगा, उसमें जीवन के उन उदात्त और जीवन्त सत्यों का चित्रण हो ही नहीं सकता, जिनके द्वारा कि साहित्य का एक नाना-व्याधियों और संघर्षों के मध्य भी अपने विकास पथ पर मानव-जीवन की सभ्यता के इस आरम्भ से लेकर आज तक अनवरत रूप से गतिवान है और मनुष्य को भटकने नहीं दे रहा है। अज्ञेय जी इलियट द्वारा निर्मित इतिहास के [illegible] और परम्परा का समर्थन करते हैं।[1] वे सौन्दर्य विधान और सौन्दर्यबोध में भावना और संवेग की इतिश्री कर देते हैं; जबकि सौन्दर्य की अनुभूति भावना और बुद्धि दोनों की एक समन्वयात्मक प्रक्रिया है।[2]

१— सौन्दर्य-बोध बुद्धि का व्यापार है— यानी हम उन तत्त्वों को बुद्धि द्वारा ही पहचानते हैं— मानव का अनुभव ही उन तत्त्वों की कसौटी है।

'आलोचना' वर्ष ३ अंक— १, अक्टूबर १९५३

२— बुद्धि का तर्क अनुभव के आधार पर क्रमशः नया स्फुटन और प्रस्फुटन होता है और नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता। उसमें

अज्ञेय जी ईलियट का ही भाँति अतीत से वर्तमान को अविच्छेद्य रूप से अनुस्यूत कर देते हैं और सौंदर्य की अनुभूति अनुभव एवं बुद्धि के माध्यम से ही प्रतिपादित करते हैं। जहाँ तक अतीत और वर्तमान की सम्बद्धता का प्रश्न है यदि यह अतीत विशेष वस्तुस्थितियों और ऐतिहासिक विकास के अनुसार वर्तमान का ही बीज स्वरूप है और उसके प्रतिपादन और सबद्धना म कलाकार अपने युग को ही नये स्वर प्रदान करना चाहता है तब तो यह हर किसी पाठक और लेखक को ग्राह्य हो सकता है। नहीं तो ईलियट और अज्ञेय दोनों की यह सामान्य प्रवृत्ति रही है कि अपने वर्तमान के हताश क्षणों को दूर अतीत के अधकार से अनुस्यूत कर अपनी निर्माण क्षमता की अपनी विवशता को प्रकट करना। वास्तव में अज्ञेय जी और ईलियट दोनों न ही अतीत को अपने विकसित स्वरूप में नहीं ग्रहण किया है। वे उसका उपयोग अपने स्वर क्षण को महिमान्वित करने के लिए ही करते हैं। दोनों महत्सा हियकार यत्र युग से अत्यधिक त्रस्त है और इनके अनुसार युग की इस विशिष्ट परिस्थिति ने ही आज के साहित्य को 'घटिया' बना दिया है।[1]

जुड़कर नई परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित में जोड़ ही जोड़ है बाकी नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में हम परम्परा की चर्चा इसी अर्थ में करते हैं— तारतम्य उसमें अनिवार्य है। तो मूल्य शब्दार्थ की दृष्टि से शाश्वत भले ही न हो वे स्थायी अवश्य होते हैं और उनमें जो परिष्कार और नया संस्कार, परिवर्तनमय जानबूझकर नहीं बह रहा— नहीं होता है। उसमें भी सदियाँ और युग लग जाते हैं। कलामूल्य उतने ही शाश्वत हैं जितना कि बुद्धि सम्पन्न मानव शाश्वत है । यह ठीक है कि दूसरे भी मूल्य हैं। सामाजिक मूल्य जो सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षया अधिक तेजी से बदलते हैं।

'आलोचना' वर्ष ३– अंक १ अक्टूबर १९५३।

१– आधुनिक युग मशीन युग है। मशीन के विस्तार से प्राचीन समाज व्यवस्था और संस्कृति नष्ट हो रही है और फुरसत नाम की एक नई वस्तु पैदा हो रही है। फुरसत का समय बिताने के लिये सामग्री चाहिये, लेकिन वह सामग्री एक विशेष प्रकार की भी हो सकती है, क्योंकि उसी का रस लेने की सामर्थ्य आधुनिक मानव में बसती है। इसका परिणाम यह है कि पुरानी संस्कृति के मरने के साथ नई के मान नहीं बन रहे।

यंत्र युग के विरोध में ईलियट के ऐसे कितने ही चित्रकार हैं। पुराने मानों का वे स्मरण करते हैं, आज की भौतिक प्रगति के प्रति असन्तोष प्रकट करते हैं आदि आदि।[1]

वे जीवन मूल्यों के विघटन का यही कारण मानते हैं। भेद इतना ही है कि अज्ञेय जी नास्तिक हैं जबकि ईलियट आस्तिक, ईसाईयत में अमिट आस्था रखने वाले एक धर्म-प्रचारक।

साहित्य की परम्परा के अनुसार अज्ञेय जी द्वारा प्रणीत इस वाद का अध्ययन करें तो इसमें और भी अधिक खोखलापन दृष्टिगत होगा। प्रथम तो यह कि न केवल हिन्दी साहित्य अपितु समस्त भारतीय साहित्य साहित्यकार की अव्यक्तिवादिता में विश्वास नहीं करता। जीवन की वैयक्तिक अनुभूतियां जो कि सामाजिक आधार पर ग्रहण की जाती है;— उन्हीं से प्रथम कोटि का साहित्य-सृजन किया जा सकता है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार उक्त आधार पर व्यक्ति सत्य की प्रतीति व्यापक सत्य में परिमित हो जाती है। अतः यह कहना कि— "इसलिये कि वह (कलाकार) व्यक्तिसत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, कम समीचीन है।"[2]

अज्ञेय जी ने सत्य के जो इस प्रकार के भेद— 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' किये हैं वे साहित्य से भावना जगत का विसर्जन कर देने के ख्याल से ही किये हैं, जो असम्भव है।

पाश्चात्य जगत में जिस भांति प्रतीकवाद अथवा नव मानवतावाद आदि साहित्यिक आन्दोलनों का संगठन किया गया था उन्हीं आधारों पर अज्ञेय जी ने अपने इस नये वाद का भी संगठन किया है।

हमारा मन और आत्मा संकुचित हो रहे हैं। और हम यथार्थता का सामना करने के अयोग्य बनते हैं। दूसरी ओर मशीन युग के साथ जो मास प्रोडक्शन आया है उसके लिये विज्ञापनबाजी आवश्यक है। विज्ञापनबाजी स्वयं मशीन युग की विशेषताओं को उग्रतर बनाती है, और साहित्य को सस्ता, घटिया, और एक रस बनाने का कारण बनती है। 'त्रिशंकु' —पृ० २०

1– Essays in Criticism, P. 304

२– अज्ञेय— 'तारसप्तक' की विवृत्ति

प्रतीकवादियों की भांति संगीत से इन्होंने भी कुछ उसके आवश्यक लयगत तत्वों को बटोरने का प्रयत्न किया था। किन्तु 'तारसप्तक' में सकलित तथा बाद में 'प्रतीक' में प्रकाशित गिरजाकुमार जी का लेख मात्र उन तक ही सीमित रह गया और यहां तक कि उन ध्वनियों का प्रयोगवादियों के काव्य में भी कहीं प्रयोग नहीं मिलता। अज्ञेय जी की स्वयं की कविता में उस नाद सौंदर्य का कोई स्थान नहीं है—वे ही लक्ष्य और संगीतहीन लगती हैं।

साधारणीकरण का प्रश्न

जैसा कि कहा गया है अज्ञेय जी ईलियट की भांति साहित्य में अव्यक्तिवाद के पोषक हैं। उनकी इस विचारणा के कारण ही जन-सामान्य में उनका काव्य लोकप्रिय नहीं हो पाया अथवा उनके काव्य का जन-सामान्य आस्वादन करने में अशक्त ही रहा है।

यदि भावना का बौद्धिक विश्लेषण करें और उसे भी अनुभवगत ही मानें तो भी अनुभवों की सार्वजनिकता संदिग्ध ही होगी। इन्द्रियगत ज्ञान मनुष्य की प्रारम्भिक चेतना पर पड़े हुए प्रभावों, संस्कारों और चिन्हों का ही विकसित स्वरूप है। ये जीवन के अथ के प्रभाव सभी मनुष्य में समान रूप में नहीं पड़ते जिससे कि आगे चलकर उसके अनुभवगत ज्ञान का विकास होता है। यह अनुभवगत ज्ञान ही यदि किसी उपकरण विशेष के संदर्भ में अपना भावनात्मक झुकाव प्रकट करे तो यह अनुभवगत भावनात्मक स्वरूप किसी इतर व्यक्ति का साधारणीकरण करे—भले ही अपने प्रथम कोटि के कलात्मक स्वरूप में भी उसकी अभिव्यक्ति क्या नहीं हुई हो आवश्यक नहीं है और फिर अपनी इन अनुभवगत अनुभूतियों का जिस विधि से पाठक तक पहुंचाने की बात अज्ञेय जी कहते हैं वह विचित्र है। वह सामान्य भावभूमि पर तो स्थित नहीं है उसका माध्यम तो और भी विचित्रता लिए हुए है जो 'क्यूबिज्म' से प्रभावित है। अज्ञेय जी लिखते हैं— 'प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं। यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अनुभव करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, लाइनों और स्थानों के नापों से, अधूरे वाक्यों से, सभी प्रकार के इतर साधनों

से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुंचा सके ।"[1]

प्रश्न यह है कि यह अनुभूति उलझे हुए पाठकों की अनुभूति है अथवा स्वयं कतिपय लेखकों की ही ? यदि पाठक अथवा सामान्य-जन अपनी भाषा को अज्ञेय जी की भांति पंगु मानता तो वह स्वयं भाषा के निर्माण करने की क्षमता रखता है । वे भाषाशास्त्र के इस सामान्य सिद्धांत से कम परिचित लगते हैं कि भाषा कवि अथवा साहित्यकार न बनाकर सामान्य-जन ही उसका निर्माण करता है और ज्यों ही वह अपनी भाषा को किसी भी प्रकार से विकलांग पाता है तो वह उसमें परिवर्तन लाता है, उसे नवीन व्याप्ति प्रदान करता है, नये शब्दों और अर्थों की उद्भावना करता है । इस भांति प्रकृति की भांति भाषा में भी नाश और निर्माण का क्रम चलता ही रहता है । डा० नगेन्द्र ने इस सूत्र का कड़ा सटीक विश्लेषण किया है—वे लिखते हैं:— "भाषा एक सामाजिक साधन है । इसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके । अतएव उसका लक्षणा—व्यंजना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द को कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्तव्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना या । अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्द्ध व्यक्त अनुभव खंड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धांत के ही प्रतिकूल है ।"[2]

उनका प्रथम सूत्र कि कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है, में कोई मौलिक चिन्तन नहीं है । यह तो साहित्य का सहज धर्म है यदि अज्ञेय जी अपने प्रयोग शब्द को अपने रूढ़ अर्थ में न ग्रहण करें तो वास्तव में साहित्य के प्रत्येक युग ने बीज रूप में भावी पीढ़ी के लिये कोई न कोई संदेश दिया है–देता है और भावी पीढ़ी इस बीज का विकास करती है और पुनः नई आने वाली पीढ़ी के लिए कोई न कोई संदेश छोड़ जाती है । कवि इन्हीं नवीन

१– त्रिशंकु, पृ० ११५
२– विचार और विवेचन, १५०

क्षेत्रों का अन्वेषण करता है जिसकी आवश्यकता की प्रतीति सामान्य जनता करती है अथवा जो उसके समाज को आगे बढाने मे सहायक हो। किन्तु अज्ञेय जी वाले इस तर्क को टी० एस० ईलियट तो मानते ही नही हैं वे तो जीवनगत भाव और काव्यगत भाव दोनों को भिन्न भिन्न मानते हैं। और कलाकार के लिए यह भी सम्भव बतलाते है कि कोई कलाकार उस वस्तु के चित्रण को जिसका कि उसने अपने भौतिक जीवन मे अनुभव ही नही किया हो।[1] अत इस धारा विशेष के सम्मुख साधारणीकरण का प्रश्न मुह बाये खडा है जिसका कि हल इनके सामने नही है। अज्ञेय जी स्वय लिखते हैं—

'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक उसकी पूर्णता मे पहुचाया जाय— यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्यायें है— कि वह अनुभूत ही कितना बडा या छोटा घटिया या बढिया, सामाजिक या असामाजिक ऊर्ध्व या अध या अन्त या बहिर्मुखी है।" इत्यादि।[2]

इसका उत्तर यही है कि लेखक और कलाकार द्वारा एकत्रित अनुभूतिया, केवल बौद्धिक और तार्किक उपलब्धिया के आधार पर न ग्रहीत कर सामाजिक आधार पर वैयक्तिक संवेदनागत हो, जोकि प्रयोगवादियों के सिद्धान्तो के विपरीत है। उलझना और वैयक्तिक कुण्ठाओ से ग्रस्त प्रयोगवादी कवि अपनी तथाकथित संवेदनाओ को सामाजिक पृष्ठभूमि से दूर अपने मौलिक रूप म अभिव्यक्त करता रहेगा तब तक उसका काव्य अप्रेषणीय ही रहेगा, भले ही उसमे कितना ही कलात्मक विकास क्यो नही हुआ हो।

प्रयोगवाद के आलोचक

हिन्दी म बहुत शीघ्र ही प्रयोगवाद ने अपने पक्ष और विपक्ष म आलोचको की एक बहुत ही बडी सख्या बना ली है। समर्थन म तो प्राय वे ही आलोचक है जो स्वय प्रयोगवादी कवि भी हैं। इनमे बहुत कम ऐसे कवि है जिनका आलोचक रूप म साहित्य म विकास हुआ हो केवल अज्ञेय ही ऐसे कवि हैं जो अपनी नवीन विचारणाओ के कारण आलोचक के रूप म भी हिन्दी का जिज्ञासु पाठक उन्हे स्थान देता जा रहा है। अन्य

१— विचार और विवेचन, डा० नगेन्द्र, पृ० ६८
२— वही, पृ० ११५

आलोचकों में प्रगतिवादी विचारधारा के लगभग सभी आलोचक तथा हिन्दी के स्वतन्त्रचेता आलोचक भी प्रयोगवाद के विरोध में ही अपना मत व्यक्त करते आ रहे हैं।

अज्ञेय जी

अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद का विश्लेषण तथा उसकी विचार भूमि अपने एक मात्र प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रन्थ 'त्रिशंकु' में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस समय तक वे भी 'प्रयोगवाद' को स्पष्टतः किसी वाद का स्वरूप नहीं दे पाये थे। उनके अपने इन लेखों में जहाँ वे ईलियट से प्रभावित हैं वहाँ मनोविश्लेषणवादी विचारकों से भी कम प्रभावित नहीं हैं। मनोविश्लेषणवादियों से वे इन दिनों भी प्रभावित से लगते हैं। वे लिखते हैं:— "फ्रायड, मार्क्स, डार्विन सभी का प्रभाव नयी कविता पर पड़ा है क्योंकि तीनों ने नई कविता के बारे में हमें नई दृष्टि दी। डार्विन ने जैविक सम्बन्धों पर, मार्क्स ने आर्थिक सम्बन्धों पर और फ्रायड ने मानसिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। और मैं समझता हूँ कि इधर भौतिक विज्ञान ने भौतिक सम्बन्धों पर जो नया प्रकाश डाला है वह भी हमारी कविता में अभिव्यक्त होगा— जब उससे हमारा रागात्मक सम्बन्ध (?) (जिसे अज्ञेय की नूतन प्रयोगवादी उपपत्तियाँ अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानती) लगाव हो जायेगा, जो अभी नहीं है। अभी उसका आकर्षण केवल बौद्धिक है।"[1]

इस भाँति अज्ञेय जी जहाँ उपयुक्त कथित तीनों मनीषियों का प्रभाव स्वीकार करते हैं वहाँ वैज्ञानिक युग से प्राप्त नई उपलब्धियों का भी अपने काव्य में अनिवार्य तत्व मानते हैं, रागात्मकता को तो मानते ही नहीं। अतः लगाव और अलगाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

अज्ञेय जी 'प्रयोगवाद' को वाद नहीं मानते कदाचित उस समय उनकी विचारणा भी इस दिशा में स्पष्ट नहीं थी और यदि रही भी होगी तो उन्होंने अपनी इसी वाद के रूप में चलाने की योजना उन्होंने अपने तक ही सीमित रखी होगी। यदि वे ऐसा नहीं करते तो कदाचित यह सम्भावना थी कि 'तार सप्तक' में संकलित हिन्दी के जागरूक कवि इस धारा विशिष्ट

१— अज्ञेय, रेडियो परिसवाद प्रतीक, जून १९५१

के अन्तगत अपने को मनवाना स्वीकार नही करत, क्योंकि उनमे से कितने ही साहित्यकारो की विचारणा स्पष्ट थी।

साहित्य म कोई भी नई धारा वाद का स्वरूप तब तक नही लता जब तक कि उसके भाव जगत म किसी नई विचारणा का समावेश नहीं होता जब तक वह काव्य के नूतन परिवेश और शिल्प तक सीमित रहती है तब तक वह वाद का रूप ग्रहण नही करती किन्तु अज्ञेय जी जिन्होंने 'तार सप्तक' की विज्ञप्ति म यह घोषित किया था कि प्रयोगवाद कोई वाद नही है, स्वय ही लिखते हैं— *'मै मानता हूँ कि साहित्य मे नवजागरण के साथ नवीन* भावाओं और नवीन कल्पनाओ का ज्वार भी आया, जिसको व्यक्त करने के लिए नवीन परिधान की आवश्यकता थी। परन्तु नवीन परिधान के साथ साथ भावनाओ की नवीनता स्वय म कम मूल्यवान नहीं थी। अतएव प्रयोगशील काव्य के अन्तगत विषयगत और वस्तुगत तत्त्व का भी समावेश मानना चाहिए।'[1]

उपयु क्त तथ्य निरूपित करके अज्ञेय जी न स्वय 'प्रयोगवाद' को एक वाद का जामा पहना दिया है।

अज्ञेय जी क अतिरिक्त इस वाद क समथको म सवश्री धमवीर भारती विजयदेव नारायण साही आदि के तथ्य और लिय जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त बिहार के कतिपय साहित्यकारो म भी प्रयोगवाद क समानान्तर प्रयोगशील धारा का भी श्रीगणेश किया है और उन्होन प्रयोगवाद और प्रयोगशील इन दो धाराओं म एक विभाजन रेखा खीचने का प्रयत्न किया है। बिहार क सवश्री स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश का कविता क सम्बन्ध म एक विशेष दृष्टिकोण है। जिस उनके नामो के प्रथमाक्षरों क आधार पर 'नकेनवाद' कहा जाता है। इन नकेनवादियो न इसे और भी दृढता स एक वाद का स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की। इन्होंने प्रयोग दश सूत्री का प्रयोगवाद के घोषणापत्र का प्रारूप प्रकाशन किया।[2]

१— रेडियो परिसवाद प्रतीक— जून १९५१

२— प्रयोग दश सूत्री— प्रयोगवाद के घोषणापत्र का प्रारूप

(१) प्रयोगवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।

(२) प्रयोगवाद सर्वत्र स्वतन्त्र है। उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।

हिन्दी के पाठकों को प्रयोगवादियों में अत्यधिक कम आस्था है। यही कारण है कि आज भी हिन्दी के पाठक सूर–तुलसी, बिहारी–देव, मैथिली-शरण, हरीऔध, प्रसाद, पन्त निराला आदि को पढ़ना पसन्द करते हैं और इन प्रयोगवादियों को पाठक तक नहीं मिलते। प्रयोगवाद आज हिन्दी के लेखकों में ही प्रचलित है, पाठकों में कम। इन कविताओं ने साहित्य में कुछ ऐसा वातावरण बना दिया है कि जिसमें अच्छी कवितायें भी प्रकाश में कम आ रही हैं और प्रयोगवाद के नाम पर कुछ भी लिख रहा है।

विरोध

हिन्दी में प्रयोगवाद का विरोध खूब हुआ। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने 'आधुनिक साहित्य' में अपने तर्कों के साथ प्रयोगवाद की उपपत्तियों का खण्डन करते हुये प्रयोगवाद को साहित्य की एक असामाजिक और ह्रासोन्मुखी धारा विश्लेषित किया है।[1]

वाजपेयी जी के आक्षेपों का प्रत्युत्तर प्रयोगवादियों के पास कोई नहीं है। उन्होंने जो प्रयोगवादियों पर इस लेख में प्रहार किये हैं उनमें कई प्रयोगवादी तिलमिला गये हैं।

---

(३) वह महान पूर्ववर्त्तियों की परिपाटी को निष्प्राण मानता है।
(४) वह दूसरों से भी अधिक अपना अनुकरण वर्जित समझता है।
(५) उसे मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है।
(६) प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रयोगवाद को साध्य।
(७) प्रयोगवाद की इक्वान्यू-पदीय प्रणाली है।
(८) उसके लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान है।
(९) प्रयोगवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का स्वयं निर्माता है।
(१०) प्रयोगवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है।

हस्ताक्षरित— नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, श्री नरेन।

फक्किका:— (१) Verse Libre Verse Libre
(२) तुलना कीजिए चरित्रशील और चरित्र्यवाद
(३) Verbi-Voco-Virual Method.
(४) जैसे चित्रकार वर्ण योजना का, मूर्तिकार प्रस्तर खंड का

'कल्पना'— अगस्त १९५४, पृ० ५७

१– आधुनिक साहित्य, पृ० ७८

हिन्दी के अत्यधिक सहानुभूतिशील आलोचक तथा भारतीय रसशास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्येता डाक्टर नगेन्द्र ने भी प्रयोगवाद पर बड़े सशक्त आक्षेप किये हैं।[1]

इस स्वनामचेता, सांस्कृतिक दृष्टि सम्पन्न इन आलोचकों ने प्रयोगवाद में अपना सैद्धान्तिक मतभेद प्रकट किया। ये सैद्धान्तिक मतभेद वास्तव में साहित्यशास्त्र के अनुकूल ही हैं। रस-शास्त्र का यह पहला सिद्धान्त है कि भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच एक रागात्मक सम्बन्ध हो। इसके अभाव में काव्य अपनी जनसामान्य भावभूमि पर खड़ा न होकर रस साधारणीकरण करने में असमर्थ ही सिद्ध होगा। डा० रामविलास जैसे प्रगतिवादियों ने तो *प्रयोगवाद को बहुत ही भला-बुरा कहा है।*[2]

'प्रयोगवाद' के प्रवर्तक अज्ञेय ने प्रयोगवाद को उस सीमित विचार-धारा में गुम्फित कर दिया है। यदि ऐसा न होकर जीवन से गृहीत नवीन प्रतीकों और उपमानों के द्वारा कवि अपने समाज की पृष्ठभूमि में जिस कल्याणभूति की अभिव्यक्ति करता है, निश्चित ही उसमें कवियों द्वारा किए गये

१– विचार और विवेचन, पृष्ठ १४५

२– रूपाकारों में प्रयोग करने की स्वाधीनता को हिन्दी में 'प्रयोगवाद' का नाम दिया गया है। यद्यपि इन 'प्रयोगवादी' कविताओं में बहुत सी ऐसी रचनायें भी शामिल कर ली जाती है जो प्रयोगवाद-विरोधी हैं फिर भी प्रयोगवाद अज्ञेय जैसे कलाकारों की सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी होने की माँग है।

प्रयोगवाद का कला सिद्धान्त है कला कला के लिए। उसकी विषय वस्तु पराजय और कुण्ठा के रस में डूबी हुई है उसका रूप कुरूपता का पर्याय है।

अज्ञेय जी कहते हैं —

'लता टूटी, कुरमुराना मूल में है सूक्ष्म भय का कीट' प्रयोगवाद भय ग्रस्त प्राणियों की पुकार है। यह भय उन्हें भविष्य से है, जन आन्दोलन से है, अपनी साहित्यिक परम्पराओं से है जिनसे बचकर वह अपनी मौलिकता प्रमाणित करने के लिए बुरी तरह उत्सुक दिखाई देते हैं।

—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृ० ११४-११५

प्रयोग सार्थक होते । प्रगतिवादी समीक्षक श्री शिवदान सिंह चौहान 'प्रयोग--वाद' के इस उदार स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं:—

"हमारे देश मे, विशेपकर 'नई कविता' के प्रवक्ताओं का एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ है जो एक खास किस्म की आत्मनिष्ठ और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की कविता को ही 'प्रयोगवादी' आधुनिक या 'नई कविता' घोषित करता है । और कविता की भाषा, लय, छंद, शैली आदि मे किये गये एक विशेष प्रकार के प्रयोगों को 'प्रयोग' मानता है । साहित्य मे प्रयोग के अर्थ को एक खास दृष्टिकोण, एक खास किस्म की कुण्ठा, एक खास किस्म के प्रभाव और एक खास किस्म के अन्दाज तक ही सकुचित कर देने मे 'प्रयोग' को लुंज और लगड़ा बना देता है, जबकि आधुनिक युग के सम्पूर्ण अन्तर्वाह्य सत्य को सबल अभिव्यक्ति देने की समस्या इतनी बड़ी है कि आधुनिक कवि और कलाकार को अपने प्रयोगों से जीवन के सपूर्ण विस्तार को नापने की छूट नहीं है, उसमे सामर्थ भी होना चाहिए ।"[1]

वस्तुतः आज प्रयोग को अज्ञेय तथा उनके समर्थकों के सैद्धान्तिक बदीगृह से निकालकर उसे खुली हवा मे लाने की आवश्यकता है । आज हमे हमारे अतर्वाह्य सभी प्रकार के सत्यो को एक सबल अभिव्यक्ति देना है और इसमे केवल किसी लचर क्षण की अभिव्यजना न होकर जीवन के संपूर्ण विस्तार की सशक्त व्यजना होना चाहिए । प्रयोगवाद तभी इस भूमि पर पनप सकता है जब वाद की हठधर्मी छोडकर भावो और अनुभूतियों के मुक्त गगनागन मे विचरे ।

१— आलोचना के मान, पृ० ८६ ।

८

अस्तित्ववाद का स्वर

अस्तित्ववाद

अस्तित्वाद के प्रवतक जनि पाल सार्त्रे माने जाते हैं। यो तो सार्त्रे के पूर्व भी अस्तित्वाद की विचारणा दार्शनिक जगत में व्याप्त थी। किन्तु फिर भी अस्तित्ववाद को जो विकसित रूप प्रदान किया गया है उसका श्रेय सार्त्रे को ही दिया जाता है।

सार्त्रे प्रथम युद्ध होने के ९ वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। जीवन में किसी वैचित्र्य का समावेश नहीं। अध्ययन पेरिस के सुप्रसिद्ध विद्यालय 'इकोल नारमल सेपेरिअर' में हुआ और बड़े होकर दर्शन के आचार्य बन गये। प्रथम विश्व युद्ध के प्रभावों में उनके अन्तश्चेतन का निर्माण किया गया और द्वितीय विश्व युद्ध में वे सचेत रूप से एक जागरूक सिपाही—लेखक की भाँति समस्त प्रभावों, आघातों और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करते रहे। सार्त्रे गत द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनों द्वारा बन्दी बनाए गए। दो विश्व युद्धों ने उनकी समस्त पुरानी मान्यताओं और आस्थाओं को हिला दिया। सारे जीवन के पारम्परिक मूल्य ढह गए और उसने यह उद्घोषणा की कि मनुष्य पीड़ा है, अतः उन समस्त सामाजिक विरोधों का-उन सारे अवरोधों की केंचुली उतार फेंको और अपने मन के- स्वयं के आदेशों का आनन्द लो-स्वयं ही निर्णयकारी है—निर्णय के इतर तत्व झूठे, छल और छद्म लिए हुए होते हैं। सार्त्रे लेखक, दार्शनिक और राजनीतिज्ञ है। जहाँ तक रचनाशील साहित्य का प्रश्न है—वह मूलतः सृजनशील साहित्यकार ही है। उसने अपने प्रथम उपन्यास 'नौजिया'

से ही साहित्य-जगत में ख्याति प्राप्त कर ली थी। द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों और उस काल की परिस्थितियों की प्रक्रिया स्वरूप सार्त्रे ने दो उपन्यास और लिखे। 'रिप्राइव' और 'आयरन इन सोल'। ये दोनों उपन्यास एक दूसरे से प्रत्येक रूप में अनुस्यूत हैं और इस सम्बद्धता के उपरान्त भी अपना अलग-अलग अस्तित्व लिए हुए हैं। इन दोनों उपन्यासों में व्यंग्यात्मक ढंग से उन व्यक्तियों का एक उपयुक्त वातावरण-निर्माण कर उपहास उड़ाया गया है जो मृत्यु की क्षणिकता से भीत होकर समाज में चीख उत्पन्न कर देते हैं। इन परिस्थितियों के कारण मनुष्य अपने को और अपने साथियों को हीन और तुच्छ समझने लग जाता है और ये ही वे चीजें हैं जो मनुष्य को उन अनिवारणीय परिस्थितियों के कारण विप्लवी बना देती हैं। उसका निराकरण उपन्यास में प्रच्छन्न रूप से है। कलात्मक वातावरण में अस्तित्ववाद ही दिया गया है कि मनुष्य इन सबसे परे स्वयं के द्वारा परिचालित हो, उसका-अपना आदेश ही माने।

इस रचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त अंग्रेजी में सहज उपलब्ध उनकी दो पुस्तकें और हैं—'अस्तित्ववाद और मानवतावाद' तथा 'साहित्य क्या है' ? प्रथम पुस्तक में अस्तित्ववाद और मानवतावाद में उन्होंने मानवतावाद की पृष्ठभूमि में 'अस्तित्ववाद' का दार्शनिक विवेचन किया है।

दूसरी पुस्तक 'साहित्य क्या है' में उन्होंने संक्रान्तिवाद की कतिपय साहित्यिक समस्याओं को अस्तित्ववादी ढंग से विवेचन किया है।

सार्त्रे मूलतः एक साहित्यिक रहे हैं किन्तु अभी-अभी उनका राजनैतिक और प्रचारक का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो रहा है। कोरिया के युद्धकाल में जब समस्त विश्व में कम्युनिस्टों द्वारा शान्ति-आन्दोलन चलाया गया था वे उसके सक्रिय कार्यकर्ता थे। बाद में कम्युनिस्टों द्वारा हंगरी में तथाकथित प्रतिगामी सत्त्वों के निर्दयतापूर्वक दमन ने उन्हें उस शान्ति आन्दोलन से भी पृथक कर दिया। वे चुनौतीकारी प्रजातान्त्रिक शैली के संस्थापक हैं। तथा अपने सिद्धान्तों द्वारा एक नवीन प्रकार के समाजवाद में अपनी आस्था प्रकट करते हैं, जिसमें रूस का एकतन्त्रवाद नहीं होगा और अमेरिका का पूँजीवादी दृष्टिकोण नहीं होगा।

जाँ पाल सार्त्रे की विचारधारा यद्यपि भी हिन्दी-आलोचना में प्रविष्ठ नहीं हुई है किन्तु उनका अतिव्यक्तिवाद हिन्दी के कई प्रयोगवादी

कविया में देखा जा सकता है। अभी-अभी सार्त्र के साहित्य सम्बन्धी मूल्या पर एव उनके दार्शनिक सिद्धान्तो पर कुछ हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओ म लेख भी निकलने लगे हैं और हिन्दी के कुछ आलोचका ने अपने लेख-सकलना म सार्त्र और उनके तत्व दर्शन पर लिखे हुए निबन्धा का भी स्थान दिया है। इनमें सर्वश्री माचवे द्वारा उनके 'सतुलन' ग्रन्थ मे सग्रहीत 'अस्तित्ववाद के लिए' तथा आचार्य सीताराम चतुर्वेदी द्वारा लिखे गए वृहत्त आलोचनात्मक ग्रन्थ 'समीक्षा शास्त्र' मे सकलित 'अस्तित्ववाद' ही दृष्टिगत होते हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगवादियो ने भी अपने सिद्धान्तो को और भी अधिक सुलझाने के लिए डा० धर्मवीर भारती के 'आलोचना' के सम्पादन काल मे सार्त्र जैसी ही समस्यायें उठाई हैं और सार्त्र का जिक्र यत्रतत्र अपने सम्पादकीय लेखो में वह इतर प्रकार के तथाकथित सैद्धांतिक लेखो म किया है क्योंकि इस वर्ग के लेखक भी सार्त्र जैसे कई सूत्रो का Man is freedom Man is anguish आदि कहने के आदी रहे हैं।

किन्तु इन चर्चाओ और उप चर्चाओ में विश्लेषण नहीं के उपरान्त भी अभी सार्त्र हिन्दी के आलोचना जगत म नहीं आए हैं। इन लेखको के सामने भी सार्त्र की विचारधारा स्पष्ट नहीं है, अत सामान्य लेखक और पाठक की तो बात ही दूर।

सार्त्र का तत्व दर्शन

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सार्त्र के इस अस्तित्ववाद ने अमेरिका और यूरोप के कतिपय देशो म अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की। किन्तु इस लोकप्रियता के उपरांत भी अस्तित्ववाद इसकी कर्मभूमि फ्रास म भी स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सका और आज भी इसका नाम एक 'फैशन' के रूप म ही वहा प्रचलित है, अस्तित्ववाद विश्व के अतिव्यवस्थावाद के प्रक्रिया स्वरूप ही जन्मा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विज्ञान और यत्रो ने इतना अधिक व्यवस्थित बना दिया है कि मनुष्य इन्ही भौतिक शक्तियो के माध्यम स परिचालित हो रहा है। आत्मपरिचालन के अभाव म प्रत्येक पग पर उसमें असतोष, ऊबन और आन्दोलन व्याप्त है। अस्तित्ववादी आत्म-परिचालन में अपनी अगाध आस्था रखने के कारण वे अपने आप को-अपने सिद्धान्त को इतिहास विरोधी घोषित करते हैं—उनके अपने इस सिद्धान्त का इतिहास से कोई लगाव नहीं।

किन्तु प्रत्येक दार्शनिक अपनी विचारधारा को इतिहास से अनुस्यूत करना चाहता है। उसका अपना ऐतिहासिक विकास निरूपित करना चाहता है। अस्तित्ववाद के पीछे भी एक शती का इतिहास है, जिसे निरूपित करने मे इसके अनुयायियों ने भी कम उत्साह नहीं दिखाया। सर्व प्रथम डेनमार्क के दार्शनिक सोरेन किरके गार्ड ने इस ओर संकेत किया है जबकि जर्मन में हीगेल का द्वन्द्ववादी दर्शन अपनी चरम सीमा पर था और व्यक्ति के मानस पर इतर चिन्तना थोपी जा रही थी। यह दार्शनिक जिसने कि अपना जीवन अत्यधिक शान्ति से व्यतीत किया और जिसका जीवन किन्ही विविध घटनाओं से आपूरित नही था; ऐतिहासिक रूप से अत्यधिक जागरूक था और जिसके नाटकों मे उच्च-कोटि की भावनायें थी। किरके गार्ड का ऋण एक स्वर से लगभग सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। किरके गार्ड ही पहला विचारक था जिसने कि अपने युग के अतिव्यवस्थावाद का विरोध किया। फिलिप मैरेट ने 'अस्तित्ववाद और मानवतावाद' की भूमिका मे लिखा है कि मनुष्य का निश्चय संघर्षों, दुःखों, पीडाओं और समाज में व्याप्त चिन्ताओं, घृणाओं आदि द्वारा ही निश्चित होता है। ये प्रवृत्तियां उसकी आत्मा में अनवरत रूप से प्रवहमान रहती है।[1]

सर्व प्रथम किरके गार्ड ने ही व्यक्ति सत्ता को सर्वाधीश माना था और उसने यह प्रतिपादित किया था कि व्यक्ति ही वास्तव है। उनकी वास्तविक समस्यायें बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक अन्वेषणों में नहीं हो सकतीं और न उनके सम्बन्ध मे बनाई गई विधियों से ही सम्भव है। उनका विश्लेषण मानव आत्मा मे हो रहे सतत् संघर्षों और कोलाहल, चिन्तायें, पीड़ायें, अपरिचित एवं अभेद्य क्षेत्रों के प्रति विपद ग्रस्त आस्थायें आदि द्वारा ही सम्भव है। इस भांति प्रत्येक मनुष्य के अस्तित्व की वास्तविकता मनुष्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से ही विकसित होती है क्योंकि वस्तुगत ज्ञान मनुष्य को सदैव ही सत्य से दूर ले जाता है। सत्य तो सदैव ही अन्तर्मुखी होता है। किरके गार्ड इस बात पर बल देते हैं कि पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने जगत और जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया किन्तु उन्होंने मनुष्य का कोई विवेचन नहीं किया। विचारों और भावों के दार्शनिक विवेचन मे यदि किसी वास्तविक विषय की अवहेलना की गई तो वह मनुष्य की, उसकी अतल गहराई को किसी ने मापने का प्रयत्न नहीं किया।

1- Existentialism and Humanism, P. 5-6.

किर्के गार्ड ने अपनी दृष्टि व्यक्ति पर स्थित रखी। उनके इस अति व्यक्तिवादी विवेचन और मन स्थिति का कारण उनके वैयक्तिक अनुभव और परिस्थितियां थी। इसस उनके जीवन म प्रेम के क्षेत्र म भी सकट की स्थिति आई थी।

अस्तित्ववादी किर्के गार्ड के अतिरिक्त नित्शे को भी अपने ही वर्ग म सम्मिलित मानते हैं। नित्शे जिसने कभी भी अस्तित्ववाद का नाम नही सुना था। उसमे भी अस्तित्ववाद के कतिपय महत्वपूर्ण तत्व मिल जाते है, जैसे— सवेगो का स्वच्छन्दता पर बल, चिन्ता, पीड़ा तथा आत्म निर्णय आदि।

आधुनिक अस्तित्ववाद के विकास म प्रोटस्टेन्ट की धार्मिक विचारणाओ ने भी इसम अत्यधिक योग दिया। किन्तु यदि सबसे महत्वपूर्ण भूमिका इस क्षेत्र मे रही है तो वह हडेगर की धर्मनिरपेक्ष दार्शनिक चिन्तना। फ्रास के आधुनिक अस्तित्ववादियो की नवीन दार्शनिक उदभावनाओ का मूल उत्स हडेगर की धर्म निरपेक्ष दार्शनिक चिन्तना ही रही है।

अस्तित्ववाद के पीछे भी एक सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि रही है। किसी भी दार्शनिक विचारणा के उदय के लिए निश्चित् परिस्थितिया और वातावरण होते हैं जो कि उस विचारणा विशेष के लिए नवीन भूमि तैयार करते है। अस्तित्ववाद भी इसका अपवाद नही है।[1]

जहाँ व्यक्ति पर, उसके अह पर अत्यधिक दबाव और भार डाला जा रहा होगा, सहज ही वह अन्तर्मुखी होगा। जर्मन अस्तित्ववादी कार्लजेस्पर ने भी अपने 'His man in the modern age' मे लिखा है कि इस युग की तकनीकी सभ्यता एक सामाजिक रोग है जो कि वस्तुगत मूल्यो पर अपनी आस्था रखे हुए है तथा मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व की अवहेलना कर रही है।

जेस्पर धार्मिक विचारक थे और ईसाइयत को ही उन्होंने सर्वेसर्वा समझा। फलस्वरूप उनकी विचारणाओ म वह शक्ति नही आई जो कि हम बाद के विचारकों मे पाते हैं। इनकी अपेक्षा समकालीन हडेगर का चिन्तन इस दिशा मे अत्यधिक महत्व रखता है। वह अपनी युग की समस्त दार्शनिक

1– Existentialism and Humanism, P 10

और मनोवैज्ञानिक विचारणा से पूर्ण रूप से परिचित था तथा अपनी अद्भुत बौद्धिक तर्कशक्ति से यूरोप के युद्ध ग्रस्त मनुष्य को उसने मनुष्य के आन्तरिक वेगों और निरपेक्ष अनुभूतियों से परिचित कराया।

हेडेगर मनुष्य की चिन्ता की तीव्रता का कारण जानते हैं। वह इसलिए चिन्तित है कि वह यह अनुभूत करता है कि उसका अस्तित्व है और यही उसकी समस्त चिन्ताओं का मूल है। जैसा कि प्रत्यक्षवादी मनोविज्ञान बतलाता है कि हम न तो बाह्य जानते हैं और न अन्तर। यदि हम मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित सत्यों को ही जानते हैं जो कि इन दोनों की अन्तर प्रक्रिया स्वरूप होते हैं और अत्यधिक क्षणिक होते हैं तब हम निश्चित ही इस प्रत्यक्ष के उद्देश्य में ही पतित हो जायेंगे।

सार्त्रे ने इन्हीं परम्पराओं को ग्रहण किया। वे अनिश्वरवादी हैं और यों भी जो मनुष्य की अविवादिता में विश्वास रखता है वह चाहे भले ही सैद्धान्तिक रूप से ईश्वरवादी हो पर व्यवहार में अनिश्वरवादी ही होगा। सार्त्रे प्राध्यापक रहे हैं। अतः उनमें प्रतिपादन की क्षमता अप्रतिम है। उन्होंने अस्तित्ववाद और मानववाद पर अपने विचार क्षमता के साथ व्यक्त किये हैं।[1]

सार्त्रे अपने अस्तित्ववाद का सम्बन्ध मानव से जोड़ देते हैं और उसे मानव का हितैषी प्रतिपादित करते हैं। वे अस्तित्ववाद को अपने पूर्ववर्ती विचारकों से पृथक करते हैं और बतलाते हैं कि आज के युग में अस्तित्ववाद को लोगों ने 'फैशन' के रूप में ग्रहण कर लिया है और लोग बड़े हर्ष और आश्चर्य मिश्रित भाव से यह कहते और सुनते पाये जाते हैं कि यह अस्तित्ववादी कवि हैं, यह अस्तित्ववादी संगीतकार हैं, यह अस्तित्ववादी चित्रकार है आदि आदि।

सार्त्रे अपने स्वयं को अनिश्वरवादी घोषित करते हैं। किन्तु इसके बाद ही वे ईश्वर के अस्तित्व की प्रच्छन्न स्वीकृति भी दे देते हैं।[2]

इन नास्तिकों को भी आदिम मनुष्य की कल्पना कर ईश्वर को मानना पड़ा, चाहे आस्था ही न होने के कारण ये व्यक्ति उसे ईश्वर नहीं पुकारें।

1- Existentialism & Humanism, P. 24

2- Ibid, p. 28

अब इन अस्तित्ववादियों के मूल सूत्र को भी समझ लेना आवश्यक है कि उनके इस सूत्र का Existence Precedes Essence से क्या तात्पर्य है। इनका कहना है कि मनुष्य सब प्रथम अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है और तब वह अपने आपको इस दुनिया को समर्पण करता है। मनुष्य कुछ भी नहीं है सिवाय इसके कि वह जैसा अपने आपको बनाये और इसी को सामान्य आदमी अन्तर्मुखी दृष्टिकोण कहता है। इसी को सार्त्र ने बहुत ही कलात्मक रूप से कहा है।[1]

अति-व्यक्तिवाद को सार्त्र भावनाओं और प्रवृत्तियों (ये भावनायें और प्रवृत्तियाँ निरपेक्ष रूप से वैयक्तिक होती हैं) से जोड़कर जीवन-मूल्यों के निर्णय की समस्या का निराकरण करते हैं। यदि आपके प्रतिमान अनिश्चित् हैं और वे किसी वस्तुनिष्ठ प्रकरण का निर्णय करने के लिए अत्यधिक भावात्मक हैं तब ऐसे अवसर पर किसी इतर परामर्श पर विश्वास न रखकर केवल अपनी प्रवृत्तियों पर ही विश्वास रखना चाहिए। सार्त्र ने इस सम्बन्ध में अपने एक शिष्य का उदाहरण दिया है। उसके पिता उसकी माता से झगड़ते रहते थे और उनका सम्बन्ध किसी अन्य स्त्री से था। उसका बड़ा भाई १९४० में जर्मनों द्वारा मार डाला गया था। उसकी माता इसके साथ अकेली रहा करती थी और वह अपने बड़े लड़के की मृत्यु तथा पति की दगाबाजी से अत्यधिक त्रस्त थी और उसके जीवन का एकमात्र आश्वासन यह एक लड़का ही था। किन्तु इस समय इस लड़के के सम्मुख दो जटिल समस्यायें खड़ी हो गईं जिसमें से कि उसे किसी एक को चुनना था। या तो उसे इंग्लैण्ड जाकर फ्रांस की आजाद सेना में भर्ती होना चाहिए अथवा घर रह कर अपनी मां की सेवा-सुश्रुषा करनी चाहिये। दोनों ही कार्य अत्यधिक पवित्र और मनुष्य के उदात्त जीवन मूल्यों से सम्बन्धित हैं। वह इस बात को भलीभांति समझता था कि यह औरत केवल उसके सहारे—उसके लिए जी रही है और शायद उसका चला जाना इसकी मृत्यु का कारण भी बन सकता है जो कि उसे अपने भावी जीवन में हताश कर देगा। यही कारण है कि वह जो भी कार्य करता है उसकी मां की इच्छा के अनुकूल होते हैं। और यदि वह इंग्लैण्ड जाता है तो कौन जाने उसे मोर्चे पर जाने को मिलता भी है अथवा नहीं, यह भी सम्भव है कि उसे नव सैनिक भर्ती करने के लिए

1—Existentialism & Humanism, p 28

किसी अल्जीरिया अथवा अन्य स्थान के कार्यालय मे ही नियुक्त कर ले। और इसी समय उसके सामने नैतिक मूल्यों की समस्या खड़ी हो जाती है। एक का तो लक्ष्य मात्र वैयक्तिक है किन्तु अत्यधिक वास्तविक और कटु तथा दूसरा व्यापक किन्तु उसकी वैधता संदिग्ध ही है। क्या इसमें ईसाई धर्म कुछ सहायता कर सकता है; वह इस धर्म के नैतिक मूल्यों की ओर दृष्टि निक्षेप करता है किन्तु वहाँ भी इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं— उसमें तो स्पष्ट है; धर्म का कार्य करो, तुम्हारे पड़ोसी से प्रेम करो; दूसरों के लिए अपने को अस्वीकार करो; वह मार्ग अपनाओ जो दुरूह है। किन्तु कौन सा मार्ग दुरूह है ? किसको अधिक प्यार करे मा को अथवा राष्ट्र को ? कौन–सा लक्ष्य अधिक उपादेय है ? पूरे समाज के लिए लड़ना अथवा मा के लिए ?

इसका प्रत्युत्तर यही है कि इसका निर्णय मनुष्य की निरपेक्ष भावनाओं की शक्ति ही कर सकती है, इतर, ऊपर से थोपे हुए जीवन के प्रतिमान नहीं कर सकते है। यही कारण है कि वह माँ के पास रहा। इस द्वन्द्वात्मक अवस्था मे उसके मन की निरपेक्ष भावनाये ही उसका पथ-प्रदर्शन करती रही है।[1]

इस भाँति हम अस्तित्ववाद को सक्षेप मे इस तरह कह सकते है.–

(१) अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य सर्वप्रथम अपने अस्तित्व मे आस्था रखता है, उसे सदैव इसकी प्रतीति रहती है कि उसका अस्तित्व है।

(२) मनुष्य वही बनता है जो कि वह अपने आपको बनाना चाहता है अथवा जो उसने बनाया है।

(३) मनुष्य की निर्णयकारी प्रतिभा किसी अन्य प्रतिमान मे स्थित न होकर उसकी प्रवृत्तियों मे ही निहित है। ये प्रवृत्तिया उसे दिशा निश्चित करने मे सहायक होती है।

(४) यह अनिश्चयवस्थावाद के विरोध मे एक आन्दोलन है, अतः मनुष्य के आत्मपरिचालन मे विश्वास रखता है और किसी पर अपनी धारणाये और मत थोपने मे इसकी आस्था नहीं है।

(५) इसमे अनिश्वरवाद की ओर आग्रह है और अपने मे पूर्व की समस्त पुरातन मान्यताओ–यहा तक ईसाइयों की नैतिक मान्यताओ तथा

1– Existentialism and Humanism, P. 35-36

इतर प्रकार के दार्शनिक जीवन-मूल्यों में अविश्वास प्रकट करता है।

ये ही अस्तित्ववाद के मूल सिद्धान्त हैं, इन्ही के अनुसार जीवन के इतर क्षेत्रों का मूल्यांकन किया गया है।

जहां 'संतुलन' में संकलित माचवे जी का लेख है वह 'साहित्य क्या है' के आधार पर लिखा हुआ लेख है जो उनको स्वयं को समझने में नहीं आया है–वे स्वयं इस पुस्तक को जटिल समझते हैं। लेख, Modern Quarterly, 1947 के एक उद्धरण से प्रारम्भ करते हुए उनके माध्यम से वह क्या प्रतिपादित करना चाहते हैं, एक अबूझ पहेली ही है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अपने बृहत 'समीक्षाशास्त्र' ग्रंथ में संसार के साहित्य-वाद के अंतर्गत सार्त्रे के इस अस्तित्ववाद का भी विश्लेषण किया है। किन्तु यह सार्त्रे के 'क्लब मेण्टेनेन्ट' में दिए गये भाषण का भावानुवाद मात्र है जो कि पुस्तकाकार रूप में 'अस्तित्ववाद और मानववाद' शीर्षक से प्रकाशित हुई है। किसी पुस्तक से आलोचक अपनी अभीष्ट सामग्री का चयन कर सकता है किन्तु यह तभी उपयुक्त है जब कि वह उसका संदर्भ अंकित कर दे।

श्री चतुर्वेदी जी ने यहां अपने विश्लेषण में मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है और वे थोड़ा-सा उक्त कथित ग्रंथ से दूर जाकर इस वाद के माध्यम से साहित्य का अथवा संस्कृति-दर्शन का मूल्यांकन करने गये हैं वहां उन्होंने बहुत बड़ी-बड़ी भूल की है, यथा डा० चतुर्वेदी लिखते हैं–

"हमारे यहां का चार्वाक सिद्धान्त भी कुछ अंशों में अस्तित्ववादी था, कम से कम इस अंश में कि वह मनुष्य को छूट देता था कि अपने अस्तित्व के लिए वह जो चाहे कर सकता है। किन्तु इस अस्तित्ववाद के सिद्धान्तानुसार शुद्ध रूप से जिन्होंने विचार किया वे संसार के अत्यन्त घृणित व्यक्ति माने गये हैं।"[1]

यही नहीं आपने हिरण्यकश्यप, रावण आदि को भी इसी परम्परा के अन्तर्गत माना है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी यह भूल जाते हैं कि अस्तित्ववाद का प्रारम्भ

१– समीक्षाशास्त्र, पृ० १३०४

अति व्यवस्थावाद के विरोध में हुआ था। इस व्यवस्थावाद ने मनुष्य के मन और मस्तिष्क में घर कर लिया था ; किन्तु इस व्यवस्थावाद के विरोध का तात्पर्य अराजकतावाद नही।

चार्वाक धारा और पाश्चात्य ईपीक्यूरिनिस्ट दोनों ही धारायें अति व्यक्तिवाद को तो लिये हुए हैं ही किन्तु यह अतिव्यक्तिवाद भौतिक जीवन में ही ग्रहण किया गया है। तदनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को वे इसी भौतिकवादी दृष्टिकोण से यानी वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देखते हैं। जबकि अस्तित्ववादी जीवन को अंतर्मुखी मानते हैं और प्रवृत्तिगत सत्य में विश्वास रखते हैं।

सार्त्रे ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने साहित्य के मूल्य निर्धारित किए हैं। हाँ–थोड़े से वे इन सिद्धान्तों को साहित्य पर लागू करने में उदारवादी हो गये है, अन्यथा पृष्ठभूमि वही है जिसमें उन्होंने अन्तर्प्रवृत्तियों (Subjectivity) को वस्तुस्थितियों की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया है। सार्त्रे मूलतः अन्तर्प्रवृत्तियों को प्रश्रय देते हैं। अतः वे वस्तुचित्रण में विश्वास न रखकर अपने कथन को प्रतीकों तथा अन्य इतर उपमानों से व्यक्त करते हैं। वस्तुतः यह एक कलागत सत्य भी है; अतः मनुष्य वस्तुस्थितियों को अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल ही निर्णीत करता है जो अपने विभिन्न उपमानों और प्रतीकों की सयोजना द्वारा पाठक अथवा दर्शक के रागों को उद्दीप्त करता है।[1]

इसी प्रकार साहित्य के सृजन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न उपादानों से निर्मित जो कृति बनती है उसके सृजन की विभिन्न अवस्थाओं की अस्तित्ववादी व्याख्या करते हुए उन्होंने कृति में निरूपित प्रवृत्ति विशेष के अतिरिक्त एक नवीन सृजन के अस्तित्व की भी कल्पना की है।[2]

लय अथवा काव्य का कोई भी आवश्यक उपादान अपने आप में एक निरपेक्ष महत्व रखता है क्योंकि वह शब्द सृष्टि के जाने कितने आघातों को सहन कर काव्य के उपयुक्त बनता है। अतः उनका अस्तित्व जब वह विशेष रूप से बनकर तैयार हो जाती है तब उसके अतिरिक्त और कहीं नहीं होता है। भावों और विचारों के लिए यह सूत्र लागू नहीं होता ; उनका उद्‌भव

1– what is literature, P. 3

2– Ibid, p. 3

और विकास तथा अस्तित्व हम इतर वस्तुओं में भी खोज सकते हैं। इस लय को चाहे हम हर्षोत्पादक कहें अथवा दुःखोत्पादक कहें। यह तो इन सब वस्तुओं से पर है। अतः वह जिन उपादानों द्वारा निर्मित होती है वे उपादान तो उसमें रहते ही हैं उसके अतिरिक्त उनके सहयोग और सम्मिलन से एक नई वस्तु का निर्माण हो जाता है। जिस भांति दुख की चीत्कार दुख का संकेत है जो कि उसे उद्वेलित करता है, किंतु यदि वह दुख का गीत है तो उसमें दुख तो है ही किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ भी होगा। यह और कुछ क्या है ? सार्त्रे के पास कदापि इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं है। क्योंकि उसका दर्शन भी जन सामान्य की भावभूमि पर स्थित न होकर अत्यन्त भिन्न उलझनों से अभिनिर्मित है। भारतीय काव्य-शास्त्र के पास इसका प्रत्युत्तर है कि इसके बाद का तत्व वह है जिसके लिए पाठक साहित्य पढ़ता है– 'ब्रह्मानन्द सहोदर'।

अपने इसी सिद्धांत के समर्थन में सार्त्रे साहित्य की एक दूसरी समस्या का हल प्रस्तुत करते हैं कि लेखक क्यों लिखे ?[1]

सार्त्रे लेखक को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानता है, अतः वह जो कुछ सृजन करता है उसमें भी वह अपने स्वातन्त्र्य को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह लेखक की मौलिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर सके। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि पाठक उस वस्तु विशेष को अपने सहज रूप में ग्रहण कर ही लेगा। सार्त्रे अंतःप्रवृत्तियों को समाज निरपेक्ष मानता है जिसमें कि उन प्रवृत्तियों का विकास होता है। बिना उनकी सामाजिक स्वीकृतियों के कोई भी प्रवृत्ति अभिव्यक्ति के उपयुक्त होती है ? उनका विकास किस रूप में माना जाएगा। मान लीजिये प्रवृत्ति विशेष स्थायीभाव के रूप में प्रत्येक मनुष्य में समान रूप से विद्यमान रहती है किन्तु उनका उद्दीप्त करने वाले उपकरण तो समाज द्वारा मान्य प्रतिमानों के आधार पर ही चुने जायंगे। यहां उद्दीप्त करने वाले उपकरण से मेरा तात्पर्य वह वस्तु और उसकी संयोजना के लिए प्रयोग में आने वाले समस्त उपादान हैं, उनकी व्यवस्था को लेखक तोड़ दे तो उसका दर्शन शास्त्र कहा जायगा ? व्यवस्था तो जीवन का धर्म ही है। सार्त्रे इस व्यवस्था का विरोध करते हैं। इसीलिए आगे चलकर

1– what is literature, P 54

वे मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना की बात कहते है।[1]

इस भांति वे अन्तर्प्रवृत्तियो की स्वीकृति को ही सौन्दर्य-चेतना का प्रमुख धर्म मान लेते है। उपर्युक्त प्रश्न को वे सौन्दर्य-चेतना से अंतर्प्रवृत्तियों का समन्वय कर उसका हल प्रस्तुत करते हैं। लेखक ने अपना तीसरा निबन्ध इस समस्या के रूप मे लिखा है कि 'लेखक किसके लिए लिखता है' ? वे इसे भी अपने आत्म स्वातन्त्र्य के साथ अनुस्यूत कर देते है।[2]

लेखक मुक्ति के लिए लिखता है जो कि छीन ली गई है, युग और काल की विषमताओं मे आच्छादित है तथा जो अप्राप्य है, लेखक का उद्देश्य इसी को अपने लिए तथा उसके लक्ष-लक्ष पाठकों के लिए प्राप्त करवाना है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता भी उतनी शुद्ध नही है। यह स्वतन्त्रता दी नहीं जाती, प्राप्त की जाती है। मनुष्य को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना है, अपने मनोवेगो पर, अपने वर्ग पर, अपनी जाति और राष्ट्र पर विजय प्राप्त करना है और उसे अन्य मनुष्यों को भी जीतना है। उसमे विजय अन्तर्मुखी विजय होगी, जिसमे वह अपने मनोवेगो पर विजय प्राप्त करेगा।

सार्त्रे अपने साहित्यिक प्रतिमानो द्वारा समस्त साहित्य के मूल्यांकन की बात नही कहते, वे तो अपने युग विशेष की बात ही करते हैं जिसमे आज व्यक्ति की अन्तर्मुखी विजय-प्राप्ति की लालसा अत्यधिक उत्कृष्ट हो गई है और वह उस समस्त व्यवस्थावाद को जो कि उसकी अन्तर्प्रवृत्तियों को दास बनाये हुए है विरोध करता है।

आज के साहित्यकार का यही दायित्व है कि वह अन्तर्प्रवृत्तियों को समाज की विषमताओं एवं उसके द्वारा उस पर थोपी हुई समस्त मान्यताओं के जुए को निकाल फेंके और उनको स्वच्छन्दता का मार्ग निर्देशित करें। अतः साहित्य का सबसे बड़ा प्रतिमान यही है कि साहित्यकार ने इस अन्त-र्प्रवृत्तियों की मुक्ति के लिए प्रयास किये हैं अथवा नहीं ? और उसकी स्वीकृति को निर्णायक प्रतिपादित किया है या नही ?

सार्त्रे ने जिस भांति दर्शन के क्षेत्र में जिस तरह समस्त वादो का

1- What is literature, P. 35
2- Ibid, P. 47

विरोध कर अपने वाद की स्थापना की है उसी भाति उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में भी अपने युग मे प्रचलित अतियथार्थवाद तथा प्रगतिवाद आदि का बहुत ही सशक्त रूप से विरोध किया है।[1]

सार्त्र ने इस भाति इन कवियो और लेखको पर आक्रोश प्रकट किया है जो यह बतलाते है कि व्यवस्था ही पव है और अव्यवस्था एक बुरी चीज। उन्हें इस बात से चिढ है कि कोई भी साहित्यकार दैनन्दिन जीवन की कविता लिखे। आग वे अपन इस आक्रोश की भावभूमि और स्पष्ट कर दत हैं तथा अतियथार्थवाद जो कि वस्तुत सार्त्र क अत्यधिक निकट है उसम भी अपना मतभेद प्रकट करते हैं। उनके इस मतभेद क प्रकटीकरण मूल म कवल एक बात है कि अतियथार्थवाद क फ्रास के कतिपय लखको न कम्युनिस्टों से अपना समझौता कर लिया था।[2]

इस भाति सार्त्र कम्युनिस्ट दर्शन क पक्क दुश्मन हैं तथा व नही चाहते कि कोई भी साहित्यकार कम्युनिस्टो स समझौता करे कम्युनिस्टो स क्या, किसी भी क्रातिकारी दल स।

वास्तव म जिस भाति सार्त्र की दार्शनिक उपपत्तियाँ नानाप्रकार की उलझनें लिए हुए हैं उसी प्रकार उनके साहित्यिक प्रतिमान भी। साहित्य का विश्लेषण करत समय सिवाय उनके दो तीन सैद्धान्तिक सूत्रो के अतिरिक्त व विषय को इतना उलझा देते है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि सार्त्र जो का अभिप्रेत क्या है।

उनकी दृष्टि अतमुखी होते हुए भी जीवन क उदात्त मूल्यो स शून्य है और उनका दर्शन व्यक्ति क इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है। वे स्पष्ट नहीं हैं।

साहित्य मूलत समाज सापेक्ष होता है व्यक्ति की अतर्प्रवृत्तियाँ तक उस सीमित रखकर हम उसके अस्तित्व पर ही कुठाराघात करते हैं। जहाँ तक उनकी प्रवृत्तियो के स्वातन्त्र्य का प्रश्न है उस भी हम निरपेक्ष रूप नही द सकते। उनके अनुसार घृणा, पीड़ा, आक्रोश य ही प्रवृत्तियाँ साहित्य क

1- What is literature, P 35
2- *Ibid, P 239*

लिए अथवा मनुष्य के अस्तित्व की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। अतः वे साहित्य में इन्हीं प्रवृत्तियों को आवश्यक समझते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ मनुष्य की उदात्त विचारधारायें और भावनायें भी होती हैं जो उसे पशु जगत से अलग करती आ रही हैं और जिन प्रतिदिन उसके अपने उच्च जीवन-मूल्यों के कारण उसमें और पशु में गहरे से गहरा भेद होता जा रहा है।

अस्तित्ववाद भारतीय जलवायु में

अस्तित्ववाद भारतीय जलवायु के अनुकूल है अथवा नहीं? इसका विकास इस भूमि में हो सकता है—इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'न' के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता, फिर चाहे भले ही आचार्य सीताराम चतुर्वेदी अस्तित्ववाद को चार्वाक, हिरण्यकश्यप तथा रावण में ढूँढने का प्रयत्न करें। एक बार हम रावण, हिरण्यकश्यप तथा चार्वाक के अंदर अहंवादी भौतिकवाद का स्वागत कर सकते हैं पर अस्तित्ववाद का नहीं, क्योंकि इनके दर्शन के पीछे भी एक परम्परा थी और वह सामाजिक जीवन-मूल्यों से इतना निरपेक्ष नहीं था जितना कि अस्तित्ववाद।

भारतीय जनता जीवन की कुरूपता में विश्वास नहीं करती; वह तो सत्य, शिव और सुन्दर की आराधक है अतः भय, घृणा और पीड़ा के स्थान पर वह इन्हीं की प्रतिष्ठा चाहती है। हमारी आर्थिक परिस्थितियों में एक कम्पन ही रही हो अथवा नए परिवर्तनों का समावेश हुआ हो; किन्तु जन-सामान्य ने जीवन के वे उदात्त मूल्य, करुणा, दया, क्षमा, शील, प्रीति को नहीं छोड़ा। अतः अस्तित्ववाद का भारतीय जीवन में प्रवेश एक निरर्थक ही प्रयत्न होगा। क्षणवादी दर्शन का यों भी भारतीय संस्कृति में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि हमारे बाह्य परिस्थितियों में तो आज अवसरवाद का समावेश हो रहा है किन्तु हमारे यहाँ हृदय-प्रदेश में तो विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के होते हुए भी एक संगठनयुक्त व्यवस्था थी, जिसे कि विश्व का कोई भी दर्शन नहीं ललकार सका। वह दर्शन जिसमें कि इस हृदय-प्रदेश के आन्तरिक संगठन को और दृढ़ करने की क्षमता नहीं है इस भूमि में अपनी जड़ें नहीं फैला सकता है।

यही कारण है कि अस्तित्ववाद पाश्चात्य देशों में भी कतिपय

मनुष्यों का ही दर्शन है। यद्यपि ये कतिपय व्यक्ति साधन सम्पन्न होने के कारण अपनी दार्शनिक विचारणा का प्रचार और प्रसार करने में अत्यधिक समर्थ और दक्ष हैं, अन्यथा जिस भांति छायावादियों को एक युग विशेष में चिढाया करने थे ठीक उसी भांति किसी भी आदमी को यह कह दिया जाता है कि वह अस्तित्ववादी है।

९

स्वतन्त्रचेता आलोचक और आलोचना

पूर्व के अध्यायो में केवल उन आलोचको का और उनके द्वारा प्रणीत और विकसित साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है; जो आलोचक राजनैतिक अथवा किसी विशिष्ट दार्शनिक जीवन प्रणाली के मत-वाद से या तो प्रभावित है अथवा अनुगामी हैं।

हिन्दी मे वादो से मुक्त आचार्य शुक्ल ने अपनी युगीन एव वैचारिक सीमाओ मे आलोचना की एक स्वस्थ परम्परा का श्रीगणेश किया, उनके मूल्याकन के प्रतिमान विशुद्ध रूप से साहित्यिक थे किन्तु उनका मूल समाज और वस्तुस्थितियों की गहराई मे था। अपनी पैनी दृष्टि और अप्रतिम सूझ से उन्होंने कृति और कृतिकार का निरपेक्ष मूल्यांकन किया। इस मूल्याकन का जहाँ आधार और समन्विति एक स्वस्थ भारतीय साहित्यशास्त्र की परम्परा थी वही उसमे युग मे उपलब्ध आलोचना की नई प्रणालिया और परिवेश भी थे, शुक्ल जी की आलोचना का विकास इसी दिशा की ओर था। किन्तु फिर भी उनके आलोचना के मार्ग मे कुछ अवरोध खड़े कर दिये थे जिनके कारण अपनी विचार-परिधि मे न आने वाले साहित्यकारो को वे तटस्थ और सहृदय होकर परखने मे अक्षम रहे।

शुक्ल जी की उपर्युक्त कथित परम्परा का विकास हिन्दी के कतिपय आलोचको ने किया जिनमे शुक्ल जी की सी सीमाये तो है ही नही, उनकी पारदर्शी दृष्टि, मौलिक सूझ एव गहन प्रज्ञा है तथा आज जो यन्त्रयुग के

कारण क्षण भग परिवर्तित नई विचार पद्धतियाँ, नये वाद और नये दर्शन चले हैं, उनसे सर्वथा मुक्त है। इनकी चेतना विशुद्ध रूप से साहित्यिक है जो भारतीय रसशास्त्र की परम्परा की अनुगामिनी है तथा जिसमें उनके प्रकाण्ड अध्ययन और इनकी मेधावी शक्ति के कारण पाश्चात्य देशों की विश्लेषण पद्धतियों का भी समावेश है। किन्तु चिन्तन जगत में ये भारतीय साहित्य से ही प्रभावित हैं इनमें इतर प्रभाव ढूँढ़ना व्यर्थ होगा— इनकी साहित्यिक चेतना इस भाँति स्वतन्त्र है, वह साहित्य के आधुनिक युग के वादों से निर्लिप्त है और जो वाद हैं भी तो वह भारतीय साहित्य-परम्परा के विकसित स्वरूप से उपलब्ध सहज निष्कर्ष के रूप में। यही कारण है कि मैंने इन आलोचकों को स्वतन्त्रचेता आलोचक के नाम से अभिहित किया है क्योंकि इसके अतिरिक्त इस वर्ग के आलोचकों के लिये इतर अभिधान कम ही उपयुक्त है। अतः इस विशिष्ट प्रणाली के लिए उपयुक्त यही है कि इसको प्रतिनिधित्व करने वाले *किसी शब्द के साथ वाद नहीं जोड़ा जाए।*

आचार्य नन्ददुलारे जी ने शुक्ल जी की इस विकसित आलोचना पद्धति को साहित्यिक शैली कहा है जो कि मेरे नामकरण के अधिक समीप है। वे लिखते हैं— "साहित्य की रूपगत, भावगत और शैलीगत स्वरूप विवेचना के कारण शुक्ल जी ने समीक्षा की एक नई शैली स्थापित की जो अपने सम्पूर्ण उपादानों के साथ, साहित्यिक शैली कही जाती है। *यह शैली आवश्यक संशोधन और परिष्कार के साथ आज भी प्रचलित है।*"[1]

किन्तु मेरा निवेदन इस सम्बन्ध में यह है कि 'साहित्यिक शैली' इन आलोचकों के प्रतिमानों का स्पष्ट नहीं करती, उसमें आज के साहित्य में प्रचलित धाराओं के कारण आवश्यक नहीं कि 'साहित्यिक शैली' वाद मुक्त हो।

डाक्टर भगवतस्वरूप मिश्र ने अपने आलोचना ग्रन्थ 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' में स्वतन्त्रचेता आलोचकों को 'सौष्ठववादी आलोचकों' के नाम से अभिहित किया है।

यह अभिधान भी अच्छा है, किन्तु इसमें भी साहित्य के प्रति एक आदर्शवादी दृष्टिकोण ध्वनित होता है। इस प्रकार के आलोचकों में एक

१— 'नया साहित्य नये प्रश्न' पृ० ४० ६१

आदर्शवादिता तो है ही– किन्तु प्रश्न यह है कि किस भांति के आलोचकों में किस पद्धति को स्वीकार करने वाले आलोचक में अपने आदर्शों के प्रति आस्था नहीं होती ? प्रत्येक वर्ग और धारा का आलोचक अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा चाहता है, हां वह आदर्श युग के जीवन्त सत्य से, युग की स्पन्दित चेतना से विलग न हो। अतः सौष्ठव में– केवल सौष्ठव में मुझे इस स्पन्दित चेतना का अभाव दिखाई देता है जो कि इस प्रकार के आलोचकों में नहीं है। अतः डाक्टर मिश्र का यह कथन कि–– "आधुनिक हिन्दी कविता में युगान्तरकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद की अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।"[1]

इन आलोचकों को एक सीमित परिधि में बाँध देता है।

अपने उपर्युक्त सीमित दृष्टिकोण के कारण ही डा० मिश्र इन स्वतन्त्रचेता आलोचकों की आलोचना पद्धति का सम्यक मूल्यांकन नहीं कर सके और उनके आलोचना की रचनात्मक तटस्थता को समझने में अक्षम रहे। यही कारण है कि वे इनके प्रतिमानों के बारे में शंकालु हैं और वे लिखते हैं:– "फिर भी मूल्यांकन और निर्णय दोनों ही आलोचना के मूलभूत तत्व हैं और ये किसी न किसी रूप में प्रत्येक आलोचक में विद्यमान रहते हैं, वह चाहे इसे अस्वीकार कर दे। मार्क्स या फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित रचना की समीक्षा में– सौष्ठववादी कितना तटस्थ रह सकेगा, साहित्य की अपनी मान्य धारणाओं का उस पर आरोप करने का मोह कितना संवरण कर सकेगा, उसमें विद्यमान प्रबल बुद्धि तत्व की प्रमुखता तथा सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदना की उपेक्षा उसे कितनी सह्य हो सकेगी, इस प्रकार की पद्धति में वह निगमनात्मक पद्धति का कहाँ तक अनुसरण करके अपने प्रमुख निर्णायक रूप को कहाँ तक जाग्रत नहीं होने देगा, ये सभी बातें विचारणीय और विवाद-ग्रस्त हैं।"[2]

हिन्दी के इन स्वतन्त्रचेता आलोचकों के सम्मुख यह प्रश्न केवल मिश्र जी ने ही उपस्थित नहीं किया अपितु हिन्दी में प्रचलित कई वादों के उन्नायकों

१– 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' पृ० ४२९
२– वही, पृ० ४२९–३०

न भी इनके साहित्यिक प्रतिमानों पर एक चिंतन हो प्रहार किये हैं और यह सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है कि इनका दृष्टिकोण नकारात्मक है *और य आलोचक अप्रत्यक्ष रूप से कलावाद के ही उपासक हैं,* किन्तु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने सौन्दर्य-चेतना सम्मत रसवादी दृष्टिकोण के पक्ष मे अपनी ही नहीं ऐसा लगता है कि समस्त स्वतन्त्रचेता आलोचकों के सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण का विश्लेषण कर दिया है —

'भारत के बाहर विकास की दो प्रधान दिशायें हैं जिसकी हम उपेक्षा नही कर सकते। इनमे पहली है एशिया और अफ्रीका के साम्राज्य शासित देशों को अपनी सारी हमदर्दी देना और उन्हें साम्राज्यशाही से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध रहना। साहित्य के क्षेत्र में हमारी विदेश नीति की आधार शिला यही बन सकती है। दूसरी प्रधान वस्तु है आज की एटम सभ्यता की विभीषिका से संसार को मुक्ति दिलाना। ये सब अपने आप में इतने बड़े कार्य हैं कि हिन्दी-साहित्यकारों की सारी प्रतिभा इनकी पूर्ति में लग सकती है।'

उपलब्धि क्या है? उपलब्धि समय विशेष की अवधि में विकास की एक निश्चित सीमा रेखा है। वह इतिहास की क्रियाशील और निर्णायक देन है। भारतीय परिस्थिति में हिन्दी साहित्य की अद्यतन उपलब्धि क्या है? मेरे विचार से वह नवीन प्रजातान्त्रिक भावनाओं और आदर्शों की उपलब्धि है जिसकी स्वाभाविक परिणति समाजवादी राष्ट्रीयता के रूप में हो चुकी है। प्रसाद की कामायनी, प्रेमचन्द के उपन्यास और आचार्य शुक्ल की आलोचना उसी की नवीन और प्रौढ़तम अभिव्यक्तियाँ हैं।[1]

यह प्रत्युत्तर तो वाद के संकीर्ण घेरे में बाँधने वालों का है। उन कला-वादियों का भी उनका प्रत्युत्तर जो कि यह मानते हैं कि इस सामाजिक पृष्ठ भूमि पर स्थित ये स्वतन्त्रचेता आलोचक साहित्य को उन कलात्मक वृत्तियों को परखने में अक्षम हैं जो कि विशुद्ध रूप से साहित्यिक हैं बहुत ही मार्मिक और चोट करने वाला है। वाजपेयी जी आगे लिखते हैं —

'विप्रतिपत्ति का प्रश्न यह है कि क्या उक्त प्रकार की रचनात्मक *चेतना न होने पर, श्रेष्ठ साहित्य न होने पर श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण सम्भव है*

१— 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' पृ० २७

नही है ? क्या महान दुःखान्त कृतियां साहित्य मे ऊँचे स्थान की अधिकारिणी नही बन सकी हैं ? क्या करुण रस के काव्य में महत्ता का गुण नही होता ? मेरा निवेदन यह है कि दुःखान्त कृतिया और करुण काव्य मे जो महत्ता आती है वह इसी कारण कि उनके अन्तस्तल मे कवि की वही रचनात्मक जीवन चेतना समाई रहती है। जितनी ही गहरी कवि की यह क्रियात्मक चेतना होगी, उसके काव्य मे उतना ही समुन्नत संवेदन होगा, उतनी ही रसात्मकता होगी। इसके विपरीत जिन कवियो के पास जीवन का वह रचनात्मक आधार नही है वे ही निराशा और निस्तेज वृत्तियो की अंधियाली मे स्वयं रहते हैं और पाठकों को भी रखते है।'[1]

इस भांति इस सौष्ठववाद के कारण ही डाक्टर मिश्र स्वतन्त्रचेता आलोचकों के प्रतिमानों को इतना निरपेक्ष मान बैठे है। सौष्ठववादियो के अन्तर्गत उन्होंने जीवन का वह रचनात्मक आधार नही माना है जो कि इनके मूल्यों का मूल आधार है।

यदि मार्क्सवादियो के कथ्य मे आनुपातिक बुद्धिवाद के साथ-साथ समुन्नत संवेदन और रसात्मकता है जो बहुत से प्रगतिवादियो मे पाई भी जाती है तो ये स्वतन्त्रचेता आलोचक उन कृतियो का स्वागत करेंगे और यदि फ्रायडियन कृतियो मे रचनात्मक जीवन-चेतना का वह स्वाभाविक स्रोत नही है, उसका आधार समाज की सामूहिक चेतना से गृहीत समुन्नत संवेदना नही है तो ऐसी कृतिया निश्चित ही अच्छी नही कहेंगे-उनकी भर्त्सना करेंगे।

जहा तटस्थता का प्रश्न है, तटस्थता स्वय सापेक्ष हो गई है, तटस्थता के मान भी तो उसके अपने प्रतिमान होते है जिसके आधार पर वह निर्माण होती है और जिसका कारण बनती है। आखिर तटस्थता क्यो ? इसीलिए कि कलाकार की कृति मे व्याप्त सत्य, शिव और सौन्दर्य का अपने मौलिक रूप में उद्घाटन हो-मंगल की व्याप्ति हो, इस मगल की व्याप्ति मे तो तटस्थता की भी स्वीकृति ही रहती है। अतः यह कहना कि उसका (सौष्ठववादी) तटस्थ रहकर आलोचना करने में सदेह है।[2] एक समाजशास्त्रीय विरोधाभास ही है। क्योकि भावी समाज का निर्माता साहित्यकार वाच्यार्थ

१- हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० २८-२९

२- वही, पृ० ४३०

म तटस्थ रह भी कैसे सकता है ।

फिर एक बात और है कि डाक्टर मिश्र न इन स्वत-प्रवेता आलोचको को छायावाद और प्रभाववाद के साथ रख दिया है, जो वस्तुत नितान्त असगत और तर्कहीन है । छायावाद का विकसित सौन्दयवाद इनमे अवश्य है किन्तु इसके अतिरिक्त जो य सामाजिक आधार और जीवन की रचनात्मक चेतना को लेकर आगे आये हैं, इनका छायावाद और प्रभाववाद दोनो म अभाव सा ही है। फिर यह भी जरा उलझन की वस्तु है कि डा० मिश्र छायावाद और प्रभाववाद इन दोनो वादो को अलग-अलग बनाकर क्या प्रतिपादित करना चाहते है ? यही कारण है कि व अपने इस अध्याय म शान्तिप्रिय द्विवेदी के साथ हजारीप्रसाद द्विवेदी और प० इलाचन्द्र जोशी क साथ आचाय न ददुलारे वाजपेयी को रख देते है । उनका सौष्ठववाद का ऐसा व्यापक मानदण्ड कि उसम हिन्दी क कई वादग्रस्त आलोचक भी आ जाते हैं।

स्वत प्रवेता आलोचक, जैसा कि ऊपर कहा गया है कि एक स्वत-प्र-साहित्यिक दृष्टि सम्पन्न है और भारतीय सस्कृति के विकास स उपलब्ध जीवन के सहज सत्यो के आराधक है। भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा व रसवादी दृष्टिकोण को साहित्य का एक अनिवाय प्रतिमान मानते हुए भी पाश्चात्य सौन्दय शास्त्र के स्वरूप स्वस्थ तत्वो का बिना किसी सकोच के ग्रहण कर लेते है ।

सास्कृतिक दृष्टिकोण

स्वत-प्रवेता आलोचको का दृष्टिकोण, सास्कृतिक दृष्टिकोण है। वे अपने युग की वस्तुस्थितियो, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियो स उतने प्रभावित नही हैं जितने कि व अपने काल की सास्कृतिक उपलब्धियो से । यो भी सस्कृति के विकास म वस्तुस्थितियो का योग होता ही है । किन्तु इन वस्तुस्थितियो का उत्पन्न करने म सस्कृति की भी कोई साधारण भूमिका नहीं होती । इस भाँति ये कभी प्रच्छन्न और कभी प्रत्यक्ष रूप स एक दूसरे का प्रभावित करते रहते हैं। यही कारण है कि न तो युग की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उपलब्धियो का सस्कृति स विलग करके ही मूल्याकन हो सकता है और न किसी युग की सस्कृति का उसके युग की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से विच्छिन्न कर सस्कृति ही का सम्यक विश्लेषण

किया जा सकता है। दोनों में एक बहुत बड़ी विभेद रेखा खींची जा सकती है। सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक स्थितियां विशेषत. हमारे वर्तमान युग मे पल-पल परिवर्तित होती रहती है, उनमें स्थिरता नहीं रहती और वे कभी-कभी अपनी परम्पराओं से इस भांति विलग हो जाती है कि उन्हें पहचानना भी कठिन हो जाता है। किन्तु सस्कृति के लिए यह बात नहीं। वह अपने युग के प्रगतिशील तत्वों को तो ग्रहण करेगी ही, साथ मे अपनी पुरातन परम्पराओं से भी वह अविच्छेद्य रूप से अनुस्यूत रहेगी। प्राचीन मे अर्वाचीन की कडी मिलाने वाली यदि कोई वस्तु होती है तो वह यह सस्कृति है। यह युग के प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण करती रहती है अत: नित्य नूतन है और उसका परम्पराओ से अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है, अतएव पुरातन तो है ही। अत: ये वस्तुस्थितिया-राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होती हैं।

संस्कृति की इन्ही विशेषताओ के कारण ही हमारे स्वतन्त्रचेता आलोचकों ने अपना कृति के प्रति मूल दृष्टिकोण सास्कृतिक ही रखा। मैं सास्कृतिक दृष्टिकोण में ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी सम्मिलित मानता हू। क्योंकि इतिहास सस्कृति का (एक) अत्यधिक महत्वपूर्ण अग है। इतिहास से दूर सस्कृति भूमि की वस्तु न रहकर किसी और गृह की वस्तु हो जायेगी। अतः इन आलोचको ने अपने सास्कृतिक दृष्टिकोण मे ऐतिहासिक परम्पराओं को भी स्पष्ट रूप से अपनी महत्ता प्रदान की है। इन समीक्षको को इस सास्कृतिक दृष्टिकोण ने जहा उन्हें गाम्भीर्य प्रदान किया है वहीं इनके साहित्यिक मूल्यों में सवेदनशीलता और शालीनता और समन्वयता का भी समावेश हुआ है। शुक्ल जी द्वारा रचे हुए साहित्यिक मूल्यों की परिधि इन मनीषियों के स्पर्श से और व्यापक बनी है उसका और विकास हुआ है।

समन्वयवाद

साहित्यकार अपने जीवन मे नाना वस्तुओ और परिस्थितियों से समझौता करता है। मेरा तो यह विश्वास है कि साहित्य का विकास ही मनुष्य की सतत् समन्वय की चेष्टा से ही होता है। साहित्य मे गति उत्पन्न करने के लिए यह समन्वय अत्यधिक आवश्यक तत्व है। साहित्यकार अपनी प्रवृत्तियों का अपने वातावरण मे समन्वय स्थापित कर उनका सस्कार करता है। वह

अपने युग की परिस्थितियों की स्फूर्ति, भावनाओं और सवर्गों से समझौता कर उसके अनुसार उन्हें ढालकर युग के जीवन्त सत्यों को वाणी देना है। अतः साहित्य यदि समन्वयवादी नहीं होगा तो उसकी गति मंद हो जायेगी—उसमें शनैः शनैः जड़ता का समावेश होने लगेगा। प्रगतिवाद में भी आज इस समन्वयवाद के अभाव में एक जड़ता का समावेश हो रहा है, चाहे प्रगतिशील आलोचक इसे माने अथवा न मानें।

हिन्दी के स्वतन्त्रचेता आलोचकों ने भी समन्वयवाद के इसी स्वरूप को अपनाया है। उनके समन्वयवादी होने का यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ आज के जन-जीवन में व्याप्त विभिन्न प्रकार के मतों में से किसी एक मत से समझौता कर लिया हो। उनका अपना सांस्कृतिक दृष्टिकोण होने के कारण वे सहज रूप में इतने उदार हैं कि उनकी व्याप्ति में अप्रयत्न ही युग की विकसित विचारधाराओं के स्वस्थ तत्वों का सन्निवेश हो जाता है जिनके बिना किन्हीं पूर्वाग्रहों के सहज रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यह समझौता कभी भी उन आधारों पर नहीं होता जहां इनके अपने मौलिक प्रतिमानों पर ही चोट पहुंचती हो। समझौता वहीं सम्भव है जिसके माध्यम से उभय विचारधाराओं का सम्यक् विकास हो सके। यही कारण है कि ये स्वतन्त्रचेता आलोचक जहां पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र की विश्लेषण पद्धति को बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लेते हैं वहां इस देश के प्रयोगवादियों, घोर फ्रायडवादियों तथा कट्टर मार्क्सवादियों से ये समझौता नहीं कर पाते।

अतः जहां एक ओर इनके प्रतिमान अपने आप में एक पुरातन स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा लिए हुए होते हैं, वहीं इनमें अभिनव के प्रति भी एक जीवन्त चेतना का सन्निवेश रहता है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी में, कबीर में स्वतन्त्रचेता साहित्यकारों की इसी समन्वयवादी प्रवृत्ति का दर्शन किया था। द्विवेदी जी के शब्दों में— "भारतवर्ष में लोक नायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भौतिकी परस्पर विरोधिनी संस्कृतियां, साधनायें, जातियां, आचारनिष्ठा और विचार पद्धतियां प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है, और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"[1]

---

१ - हि० सा० की भूमिका, पृ० १०३

अपने 'कबीर' ग्रंथ में भी वे कबीर की इसी समन्वयवादी प्रवृत्ति का स्तवन करते हैं और उसके आधार पर उन्हें श्रेष्ठ कवि, श्रेष्ठ सुधारक और संत घोषित करते हैं।

"वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधू होकर भी साधू (अग्रहस्थ) नहीं थे—वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानवमूर्ति थे। नृसिंह की भांति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे।.... असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन-बिंदु पर खड़े थे। जहां एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व...जहां पर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति–मार्ग, जहां से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना .....।"[1]

द्विवेदी जी के इसी दृष्टिकोण पर भारतीय संस्कृति का प्रासाद खड़ा हुआ है और चूंकि इन स्वतन्त्रचेता आलोचकों का दृष्टिकोण संस्कृतिनिष्ठ था, फलस्वरूप इन्होंने भी नाना विरोधाभासों में एक मिलन-बिंदु को खोजने की चेष्टा की। शुक्ल जी में भी एक सांस्कृतिक दृष्टि थी पर वे अपने संस्कारों में आबद्ध होने के कारण अपने जीवन और आलोचना में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण नहीं अपना सके—उनमें उस सापेक्ष तटस्थता का अभाव था जो कि इन स्वतन्त्रचेता समन्वयवादी समालोचकों में विद्यमान है। इस ओर आचार्य वाजपेयी ने संकेत करते हुए लिखा है:– "यह स्वीकार करना होगा कि शुक्ल जी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरुपण अवश्य किया, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निर्भ्रान्ति समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः शुक्ल जी के दार्शनिक विचार और धारणायें तथा उनका नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। प्रबन्ध काव्य और प्रगति रचनाओं के बीच जिस अव्याबहृत सतुलन की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति शुक्ल जी ने नहीं की। इसी के साथ शुक्ल जी ने लोक–साहित्य के समीप-प्रवाहित होने वाली कबीर जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक

१– कबीर, पृ० १८१–८२

सत्कार नहीं किया और नए युग के आदर्श इस मत यह देखते हैं कि उन्होंने बदलती हुई राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों, तथा उनमें विकसित होने वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की।"[1]

वस्तुतः शुक्ल जी में सन्तुलन और समन्वय का सर्वथा अभाव था शुक्ल जी के अभाव की पूर्ति इन नए स्वतन्त्रचेता आलोचकों द्वारा ही हो रही है।

पौर्वात्य वाङ्मय का प्रगाढ़ अध्ययन

ये स्वतन्त्रचेता आलोचक जहां पाश्चात्य देशों में बदलते हुए साहित्य के प्रतिमानों से और उनके विवेचन की विभिन्न शैलियों से परिचित हैं, वहां वे पौर्वात्य वाङ्मय के भी प्रगाढ़ अध्येता हैं। जहां अभिव्यंजनावादियों, प्रभाववादियों, मनोविश्लेषणवादियों, प्रगतिवादियों, प्रयोगवादियों आदि ने पाश्चात्य साहित्य से अपनी मूल प्रेरणा ग्रहण की वहां इनकी मूल साहित्य-चेतना पौर्वात्य वाङ्मय से ही गृहीत है। किन्तु यह अतीत की चेतना वर्तमान से पलायन स्वरूप न होकर उसके जीवन्त स्वरूप से ही अभिप्रेरित है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जो कि इस धारा के प्रमुख आलोचकों में से एक हैं, अपने आप में अतीत की चेतना लिए हुए हैं, और पौर्वात्य वाङ्मय के प्रगाढ़ अध्येता होते हुए भी वर्तमान की चेतना से उनका आलोचना साहित्य भी सम्पन्न है। वे लिखते हैं—"आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनने का ही नहीं है। उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातें सुनने में बाधक है।'[2]

'कबीर' 'हिन्दी साहित्य का आदि युग' 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' आदि ग्रन्थों के रचयिता के लिए वर्तमान की यह चेतना उसकी जागरूकता का ही परिचायक है। इन स्वतन्त्रचेता आलोचकों में डाक्टर नगेन्द्र का भी मैं प्रमुख स्थान मानता हूं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी में जहां अतीत की चेतना की प्रधानता होते हुए वर्तमान के प्रति वे सतत् जागरूक हैं उसी भांति डाक्टर नगेन्द्र में वर्तमान की चेतना की प्रधानता होते हुए भी अपने पौर्वात्य वाङ्मय पर उन्हें अप्रतिम आस्था और अभिमान है। वे लिखते —

१— नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० २६
२— अशोक के फूल, पृ० १६७

"भारतीय काव्य-शास्त्र की परिधि और भी विस्तृत है। काव्य-दर्शन के अन्तर्गत हमारे आचार्यो ने मुख्यतः काव्य का स्वरुप और परिभाषा काव्य की आत्मा, काव्य के अंग, प्रयोजन, हेतु काव्य की अनुभूति (रस) का स्वरुप, रस के कारण, (विभाव), कार्य (अनुभाव), स्थायी और सचारीभाव, रस की स्थिति, आदि मूलभूत तथ्यो का गम्भीर विवेचन किया है। अनेक आचार्यों मे मीमांसा, साख्य, वेदान्त आदि दर्शनो की भी सहायता लेकर रस-भोक्ता (सहृदय) के मन का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। काव्य रीति के क्षेत्र मे तो मेरी धारणा है कि उन्होंने कुछ भी नही छोड़ा। वस्तु, पात्र के अनेकश. भेद, शैली के अनेक प्रकार, गुण-दोष, शब्द शक्तिया, अलंकारो के अगणित रुप, छन्दो के शत-शत प्रस्तार पूरे विस्तार के साथ दिये है, जहा तक विस्तार का सम्बन्ध है, भारतीय आचार्य अपराजेय है। यूरोप का अलंकार-शास्त्र भरत के अलकार-शास्त्र की तुलना मे अत्यन्त निर्धन है।"[1]

अतः इन आलोचको मे चाहे वर्तमान की चेतना का प्राधान्य हो अथवा अतीत की, उनकी इस चेतना का निर्माण भारतीय वाङ्मय की प्रगाढ अध्ययनशीलता से ही हुआ है।

आस्तिकता

एक तत्व और है आस्तिकता, जो कि इन आलोचको को एक सूत्र मे पिरोता है। यह तत्व अपनी अलग-अलग आराधना विधियों के साथ सभी मे समान रूप से विद्यमान है। यो भी सास्कृतिक प्रधान दृष्टिकोण होने के कारण आस्तिकता एक निष्कर्ष रुप मे भी हम समझ सकते है। किन्तु इन आलोचको की यह आस्तिकता न तो पौराणिक आस्तिकता है और न छाया-वादियों और रहस्यवादियो सी सर्वथा वायवी आस्तिकता ही। आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने इस आस्तिकता के प्रच्छन्न रुप को बहुत अच्छे तरीके से कह दिया है।

विकास या प्रगति की कोई परिभाषा इदमित्थ मानकर मैंने नही स्वी-कार की है। परन्तु उसके मुख्य पहलू मेरे समक्ष आरम्भ से ही स्पष्ट रहे है। अपने समय के समाज मे पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति और भारत का

१– विचार और विवेचन, पृ० १३-१४

उसके प्रति अदम्य विद्रोह अांखो देखा दृश्य है। देश की सीमा मे समाज की नई संघटना और तत्सम्बधी अनिवार्य परिवर्तनो के लिए हम सभी प्रयत्नशील रहे हैं। संस्कृति और व्यवहार के क्षेत्र मे हम अपने आध्यात्मिक आदर्शों का छोड नहीं सके हैं, बल्कि उन्हें नये रूपो मे अपनाने की चेष्टा की है। व्यक्ति के असीम आध्यात्मिक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी हम व्यक्तिवादी नही हैं। सामाजिक अर्थनीति के क्षेत्र मे समाजवादी व्यवस्था का स्वीकार करते हुए भी हम वैज्ञानिक या 'अवैज्ञानिक' किसी प्रकार के भूतवादी नही है।[1]

वस्तुत आस्तिकता का विकसित स्वरूप यही इन चेता आलोचको ने स्वीकार किया है।

इन आलोचको को हम दो श्रेणियो म विभक्त कर सकते हैं। हमारे विभाजन का आधार उनकी मानस चेतना ही है। उक्त विभाजन इस प्रकार है–१–वे जिनमे वर्तमान की चेतना का प्राधान्य है और–२–वे जिनमे अतीत की चेतना का प्राधान्य है। यह स्पष्ट है कि इस विभाजन मे संगति और तर्क होते हुए भी अत्यधिक स्थूल विभाजन है। क्योकि यह वर्ग ही अतीत को वर्तमान म अविच्छेद्य रूप म अनुस्यूत मानता है और वर्तमान का अतीत के अभाव मे अस्तित्व नहीं मानता। किन्तु विश्लेषण की सुविधा से यह विभाजन अत्यन्त उपयुक्त है।

वे आलोचक जिनमे वर्तमान की चेतना का प्राधान्य है

इस श्रेणी के प्रतिनिधि आलोचको म आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० महेन्द्र, बाबू गुलाबराय, डा० विनयमोहन शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

डा० नगेन्द्र ने अपने द्वारा सम्पादित 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' के परिशिष्ट में आचार्य वाजपेयी के आलोचक-स्वरूप के सम्बन्ध मे कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्षात्मक सूत्र कहे हैं जिनसे हिन्दी का कोई प्रबुद्ध लेखक सहमत हुये बिना नहीं रह सकता।

१– नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० ६

"सौष्ठववादी आलोचना पद्धति के ये प्रमुख आलोचक है । सैद्धांतिक आलोचना की अपेक्षा व्यावहारिक समीक्षा मे इनकी रुचि अधिक रही है। इनका दृष्टिकोण भी रसवादी है, काव्य मे अनुभूति को ही इन्होंने प्रधान माना है, अभिव्यजना को नही । वाजपेयी जी की आलोचना प्रौढ़ काव्य-दर्शन का आधार लेकर चलती है । सांस्कृतिक-सामाजिक प्रेरणाओ को यथावत महत्व देने पर भी इनकी विवेचना के मूल्य साहित्यिक ही रहे है ।"[1]

जहा तक सौष्ठववाद का प्रश्न है मैं इसे इन आलोचकों के लिये इस धारा विशेष के लिये यह अभिधान ही स्वीकार नहीं करता, इसमे इन स्वतन्त्र-चेता समालोचकों की सौन्दर्य चेतना को अभिव्यक्त करने की क्षमता तो है किन्तु इनकी सामाजिक चेतना को यह शब्द प्रकट करने में पगु ही लगता है । और फिर वाजपेयी जी जिनमे सौन्दर्य चेतना और सामाजिक चेतना का आनुपातिक समन्वय विद्यमान है उन्हे तो स्वतन्त्रचेता आलोचक कहना ही अधिक समीचीन होगा ।

सैद्धान्तिक आलोचना

वाजपेयी जी ने सैद्धांतिक आलोचना पर अलग से कोई ग्रन्थ नही लिखा किन्तु इससे यह समझना भारी भूल होगी कि वाजपेयी जी की आलोचना का यह पक्ष निर्बल है । उन्होंने अपने आलोचना के दोनो ग्रंथों- 'हिन्दी-साहित्य' और 'नया साहित्य : नये प्रश्न' मे कई लेख विशुद्ध सैद्धान्तिक रूप से ही लिखे हैं जो उनके साहित्य के प्रतिमानो को अन्य ग्रन्थाकार सैद्धान्तिक चर्चा करने वालों की अपेक्षा अधिक शक्ति और स्पष्टता से उद्घाटित करते है । आचार्य शुक्ल के पश्चात् यदि उनके द्वारा रचित साहित्य के मानो के विकसित स्वरूप मे कोई स्थिरिता ला पाया हो और अपने प्रारम्भिक लेखों के तारतम्य मे ही अपने प्रतिमानों का विरन्तर रूप से विकसित और उन्नत करता रहा हो तो वे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ही है । इतर धारा के लेखको के साथ सत्य लागू नहीं है । उनके दस वर्ष के आलोचनात्मक निबन्धों को पढने पर उनमे अनेकानेक विरोधाभास लक्षित होगे । यही नही, उनके प्रथम आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी सदी' में ही कितने ही स्थानो पर साहित्य के सिद्धांतों की विवेचना की गई है और अपने नए

१- भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा पृ० ६३६

प्रतिमानों का सृजन किया है। उनका हिन्दी के कतिपय आलोचकों की भांति या तो युग की प्रगति और सत्य से बिलकुल ही आखें मूँद कर अतीत की स्वप्निल गोदी मे शरण ले ले अथवा अतीत की स्वस्थ सांस्कृतिक परम्पराओं से बिल्कुल कटकर केवल वर्तमान के गगन में ही दिग्भ्रमित हो चक्कर लगाते रहें यह वाजपेयी जी को बिल्कुल पसन्द नही है। उन्होंने वर्तमान की अच्छाई को भी कोसा है और अतीत की बुराई को भी। ऐसा लगता है कि कालिदास का—'मालविकाग्निमित्र' मे कहा गया यह पद वाजपेयी जी की आलोचना मे व्यवहृत हो गया हो —

पुराणमित्येव न च साधु सर्व
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धिः। (माल० १/२)

उन्होंने भारतीय रसशास्त्र की सकीर्ण मनोवृत्ति को अपने 'हिन्दी साहित्य बीसवीं सदी' मे कोसा है और उसे व्यापक रूप देने की बात कही है। वे रस को साहित्य-शास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त मानते हुए भी उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व में विश्वास नहीं रखते। वे लिखते हैं — रसानुभूति सम्बन्धी अलौकिकता के पाखंड मे काव्य का अनिष्ट ही हुआ है, उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई है और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है। इस सिद्धान्त को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी समीक्षा का मूल आधार बन सके।[1]

ठीक इसी भांति वाजपेयी जी अलंकारवादियों से भी समझौता न करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि उच्चकोटि के काव्य मे अलंकार स्वयं तिरोहित हो जाते हैं, उनका अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है। वे लिखते हैं — कविता जिस स्तर पर पहुंच कर अलंकार विहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह मे अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।[2]

१– हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० ६७
२– वही, पृ० ६८

वाजपेयी जी का यह स्वरूप काव्य के पुराने घिसे-पिटे प्रतिमानो के विरोध मे, एक विद्रोह स्वरूप है। किन्तु वे इसे सर्वथा नष्ट करने की बात नही कहते उसे युग की आवश्यकता के अनुरूप विकसित करना चाहता है। उन्होंने आलोचक का दायित्व कवि और साहित्यकार के दायित्व से बहुत बड़ा माना है और उसी प्रकार उसके कर्तव्य को भी बहुत ही दुरूह कहा है:— काव्य की इस अशेष रूप-सृष्टि मे चयन और व्यवस्था का कार्य समीक्षक को ही करना पडता है, और इसके लिए उसकी सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि और काव्य-प्रज्ञा अपेक्षित होती है। एक ओर उसे संसार के श्रेष्ठतम साहित्य के निर्देशको को अपनी स्मृति मे संकलित करना पड़ता है और दूसरी ओर अपने युग की रचनात्मक प्रेरणाओ को अपने व्यक्तित्व का अग बनाना पडता है। इस दृष्टिकोण से उसका दायित्व कवि या सृष्टा के दायित्व मे कही अधिक हो जाता है। कवि अपने काव्य के लिए ही जिम्मेदार है, पर समीक्षक अपने युग की सम्पूर्ण साहित्यिक-चेतना के लिए जिम्मेदार है। तुलसीदास जी ने समीक्षक को साहित्य-सरोवर का सरक्षक बताया है, पर वस्तुत: वह इससे भी कुछ अधिक होता है। सरक्षण तो वह करता ही है, साहित्य की प्रगति का वह पुरस्कर्ता भी होता है। एक अर्थ मे उसे जातीय जीवन का नियामक ही कह सकते है।[1]

इस भाति वाजपेयी जी ने पहली बार आलोचको के सामने उनका वास्तविक धर्म और दायित्व निश्चित किया। हिन्दी मे प्रथम बार आलोचक के धर्म और दायित्व को इतना व्यापक स्वरूप दिया गया और उसे सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया गया। वाजपेयी जी किसी भी कृति अथवा कृतिकार का मूल्यांकन अपने पूर्वगृही साहित्यिक सिद्धान्तो के आधार पर नही करेंगे। वे तो कृति का ही सम्यक विश्लेषण करते है, यह सम्यक विश्लेषण जहाँ एक ओर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति पर आधारित है वहाँ दूसरी ओर भारतीय रसशास्त्र के व्यापक स्वरूप से भी सम्मत है। वे किसी कृति के विश्लेषण का आधार अपने 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी सदी' मे इस तरह बतलाते है:—

(१) रचना मे कवि की अन्तर्प्रवृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन

१— नया साहित्य : नए प्रश्न पृ० ७

(२) रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सर्जन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन

(३) रीतियो, शैलिया और रचना के बाह्यागा का अध्ययन

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उनके प्रभाव का अध्ययन

(६) कवि क दार्शनिक सामाजिक और राजनैतिक विचारों का अध्ययन

(७) काव्य क जीवन-सम्बन्धी सामाजस्य और सदेश का अध्ययन

वास्तव म य सूत्र व हैं जिनसे एक स्वस्थ आलोचना का लेखन सम्भव होता है।

इन सूत्रो की परीक्षा करने पर एक सामान्य आलोचक के सामने एक प्रश्न खडा हो जाता है तो फिर क्या आलोचक आचार्य वाजपयी की आलोचना करने का अर्थ है मात्र उस कृति का सौष्ठव मूलक प्रतिपादन ? फिर आलोचक भावी समाज का नियामक कैसे हो जाता है ? यह तो आलोचक का कृति के प्रति वैसा ही रुख हो जाता है जिस भांति वनस्पति शास्त्र के विद्वान का सम्बन्ध एक नये पौधे के साथ। इसका उत्तर है नहीं क्योकि आलोचक जहाँ किसी कृति की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता का उदघाटन करता है, वही कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनतिक विचारो का भी अध्ययन करता है और इस अध्ययन के माध्यम से वह कवि की सौन्दर्य-चेतना क साथ-साथ उसकी सामाजिक चेतना का भी उद्घाटन करता है और इस ओर सकेत करता है कि उसकी यह सौन्दर्य चेतना उसकी स्वस्थ सामाजिक चेतना स उदभूत है या नही और यदि उसम सौन्दर्य-चेतना का अभाव है तो उसका कारण उसमे उस स्वस्थ सामाजिक चेतना की प्रेरणा का अभाव माना जाएगा जो कि मनुष्य व कृतित्व को सौन्दर्य प्रदान करती है। इस भांति वाजपयी जी के आलोचना के सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक आधार लिए हुए हैं और जिनमे प्रत्येक प्रकार की साहित्यिक कृति को परखने की अद्भुत व्यावहारिक क्षमतायें विद्यमान हैं।

जहाँ तक वाजपयी जी की व्यावहारिक आलोचना का प्रश्न है

वाजपेयी जी ने समस्त आधुनिक साहित्य को अपने उपर्युक्त प्रतिमानो से अत्यधिक स्वस्थ ढग से मापा है।

वाजपेयी जी की आलोचना एक सास्कृतिक दृष्टिकोण लिए हुए है। अत. छायावाद जो कि मूलतः एक स्वस्थ सास्कृतिक आन्दोलन का साहित्यिक स्वरूप थी, वाजपेयी जी के आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात ही हिन्दी जगत मे अपने उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सकी। वाजपेयी जी ही उसकी सास्कृतिक भाव धारा को सर्व प्रथम प्रकाश मे लाये थे अन्यथा आचार्य शुक्ल ने तो उसे अभिव्यंजना की एक शैली विशेष कह कर चलताऊ कर दिया था। वास्तव मे आचार्य नन्ददुलारे जी छायावाद की सास्कृतिक चेतना पर जिसके प्रतिनिधि साहित्यकार बाबू जयशंकर प्रसाद है अत्यधिक मुग्ध है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि छायावाद के दोषों से अपरिचित है, अथवा उन्होने उस ओर सकेत नही किया। वे छायावाद मे अनुभूति और कल्पना का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं.—परन्तु जाग्रति की यह सारी चेतना व्यक्तिनिष्ठ है, आदर्शोन्मुखी है। सामाजिक उत्थान का सामूहिक स्वर, विशाल क्रिया-कलाप और समवेत प्रवाह इस युग के काव्य मे नही आ सका है।[1]

आचार्य वाजपेयी जी मे मैंने वर्तमान की चेतना का प्राधान्य माना है। अतः उन्होंने अपने युग के समस्त साहित्य का इसी चेतना की पुष्टि मे विश्लेषण किया। प्रगतिवाद जब अपने शैशवावस्था मे था यानी १९४० के लगभग तब उन्होंने इस धारा का विद्वतापूर्ण विश्लेषण किया था। आपने उसी समय यह निरूपित किया था कि जहाँ तक सामाजिक चेतना का प्रश्न है हिन्दी मे वह स्तुत्य है किन्तु उसे किसी वाद मे बाधने पर उसमे से सौंदर्य-चेतना तिरोहित हो जाती है। इसीलिए प्रगतिवादियो को आचार्य वाजपेयी जी ने परामर्श दिया था— "प्रगतिशील साहित्यिक के लिए आवश्यकता यही नही कि वह नई विचारणा को लेकर साहित्य के बगीचे मे उसे इस प्रकार लगा दे कि वह चार ही दिन में सूख जाय आवश्यक यह भी है कि वह अपनी विचार-लता को कला के संजीवन-रस से सिंचित करे और उसे उपवन के अन्य सुन्दर वृक्षो और बेलियो के साथ लहलहाने योग्य बनाये।[2]

१— देखिये नया साहित्य नये प्रश्न
२— आधुनिक साहित्य, पृ० ३८७

किन्तु इन प्रगतिवादियो ने विचार–लता को कला के संजीवन रस मे न सींचकर केवल नारो और विचारो के मोटे सहारे ही दिए जिनके कारण आज ये सहारे विचार-लता का ही लेकर लडखडा कर गिर रहे हैं। साहित्य प्रचार और नारे बाजी से सामान्य जन के हृदय तक नही पहुच सकता। उसके लिए उसको बात को अपने हृदय के साथ एक रास करनी होगी—आपकी सवेदन शक्ति इतनी सक्षम होना चाहिए कि वह पर पीडा को आत्म पीडा बनाकर उसे रचनात्मक कल्पनाओ की सयोजना से साहित्य का रूप द सके। इन प्रगतिवादियो न अपनी विचारणाओ को साहित्य मे लाने के लिए साहित्यिक प्रयत्न न करके सघटनात्मक और राजनैतिक नीतियो का ही आश्रय लिया। वाजपेयी जी ने इसकी विवेचना करते हुए कम्युनिस्टो की इस प्रणाली का बडे सहज रूप म उद्घाटन किया है।

इस कल्पना प्रधान विद्रोही युग की सामाजिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनीति में समाजवादी विचारो के आगमन और अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील सघ की स्थापना क पश्चात, इस सघ की सदस्यता हिन्दी मे मुह माग मिल रही थी, इसलिए बहुत से अपरिचित और अनाकाक्षी व्यक्ति इसम आरम्भ स ही सम्मिलित हो गये। जिन्ह साहित्य के राजद्वार स माग नहीं मिला, वे इस रास्ते घुस आये। फिर सम्भवत इस सघ का लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इसम श्री सुमित्रानन्दन पन्त जसे भिन्न रुचि वाले व्यक्ति को प्रवेश कराया गया और उन्हे प्रगति का सूत्र सौंपा गया। यह सारी चेष्टा ऊपर ही ऊपर चल रही थी। काव्य-क्षेत्र म इसके पनपने के लिए जमीन तैयार नही की गई थी।[1]

वस्तुत प्रगतिवादी काव्य जो आज पतन की ओर जा रहा है उसका कारण यही है कि प्रगतिवादियो ने अपनी विचारणा और दर्शन का बहुत ही सतही रूप से काव्य के माध्यम मे चित्रित किया और अधिकतर इसकी प्रसारणा के लिए राजनैतिक हथकडे ही प्रयुक्त किये।

वाजपेयी जी न प्रगतिवाद ही नही अपन युग की सर्वाधिक विवादास्पद काव्यधारा प्रयोगवाद का भी विश्लेषण किया। यह विश्लेषण इतना विदग्ध और मार्मिक है कि हिन्दी के कितन ही प्रयोगवादी साहित्यकार उनके प्रहार को नही सह सके और उन्होंने आलोचना के शालीन मार्ग को छोडकर

१– आधुनिक साहित्य, पृ० ३९२

पीत पत्रकारिता, के रूप में उनकी आलोचना की प्रत्यालोचना की। किन्तु आचार्य वाजपेयी जी के अकाट्य तर्क और अतल स्पर्शी मेधा के सामने लक्ष्मीकान्त वर्मा, विष्णु स्वरूप आदि के तर्क अत्यधिक बचकाने और निरे सतही हैं। इनके विपरीत आचार्य वाजपेयी जी ने प्रयोगवाद की विचार-भूमि और उनके शिल्प आदि का उद्घाटन करते हुये हिन्दी के पाठकों की सहृदयता और उदारता ही प्रकट की है।

हमें मानना पड़ेगा कि प्रयोगवाद की किसी सुनिश्चित आवश्यकता या वैशिष्ट्य पर हम आग्रह पूर्वक कुछ नहीं कह सकते, सिवाय इसके कि युग और समाज की स्थितियों और प्रवृत्तियों ने इसे भी जन्म दिया है और हिन्दी के विशाल काव्योद्यान में प्रयोगवादियों के लिए भी स्थान मिल गया है। एक दूसरे अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि काव्य-समृद्धि के युगों में ही कोई साहित्य ऐसे प्रयोगों के लिए अवकाश पा सकता है और हिन्दी में इतनी पर्याप्त समृद्धि है कि वह इन नमयालु और संस्कार-शिथिल कवियों के अनगढ़ प्रयोगों को भी सहन कर लेती है।[1]

उनकी इस आलोचना का अत्यधिक विरोध हुआ और कई साहित्यकारों ने उसका समर्थन भी किया। वाजपेयी जी के ही शब्दों में.– "प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्द्धना का शब्द नहीं है बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबन्ध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तारसप्तक' महारथियों के लिए मेरी उस निबन्ध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का बचकाना प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि यह अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय-परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गये हैं और कई तो खेमा छोड़कर बाहर चले गये हैं।"[2]

इस भांति वाजपेयी जी ने जो लिखा वह अपने व्यक्तित्व की दृढ़ता, अभयता और शक्ति से ही लिखा। आलोचक के व्यक्तित्व की इन तीन विशेषताओं में वाजपेयी जी शुक्ल जी की भांति ही अडिग है। उनके विश्वासों और आस्थाओं का विकास अवश्य होता है, वे डिगते नहीं हैं।

१– आधुनिक साहित्य, पृ० ८०

२– नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २१

वाजपेयी जी ने सिवाय सूरदास के किसी अन्य प्राचीन कवियों अथवा उनकी कृतियों पर अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया। अतः कभी-कभी हिन्दी के आलोचक उन्हें आधुनिक साहित्य का ही मर्मज्ञ समझने की भूल कर बैठते हैं और उनके 'नवीन यथार्थवाद' नव्यतम समीक्षा शैलियाँ, पाश्चात्य समीक्षा सैद्धान्तिक विकास तथा उनके अन्य आधुनिक साहित्य पर लिखे हुए समीक्षात्मक निबन्धों को देखकर उन्हें मात्र आधुनिक साहित्य के समालोचक ही समझने की भूल कर बैठते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। वाजपेयी जी ने अपने आकार में छोटे ग्रन्थ 'सूर सौरभ' का प्रणयन कर इस बात का परिचय दे दिया है कि उनके साहित्यिक प्रतिमान जिस भाँति आधुनिक साहित्य पर बड़ी दक्षता से लागू हो सकते हैं ठीक उसी भाँति प्राचीन कृतियों पर भी इन मानदण्डों से मूल्यांकन किया जा सकता है। कवि सूरदास की तो सर्वमुखी प्रतिभा का उद्घाटन करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं — स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना क्रम का आभास भी दें और साथ ही सम्मुखत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायँ, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन धारण के प्रसंग कथात्मक हैं। किन्तु इन कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतों में परिणित कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक में भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन में सूर के काव्य की विशेषता केवल भावात्मक ढंग से ही प्रतिपादित न कर वाजपेयी जी ने उसका मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक विधि से ही उसके सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन किया है। ठीक इसी भाँति 'रास' के सम्बन्ध में भी वाजपेयी जी का विश्लेषण सूर आलोचना साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सूर द्वारा रास के चित्रण पर वाजपेयी जी लिखते हैं —

'रास वर्णन में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल श्रीमद्भागवत की अनुकृति कवि ने नहीं की है वरन् वास्तव में वे आध्यात्मिक रास रचे विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल

1— सूर-सन्दर्भ, पृ० १५

वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो लज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टियों का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास के वर्णन में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बंधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के प्रभाव जो उत्पन्न किये गये हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।"[1]

वाजपेयी जी के इस भाँति दो स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ एक ओर उनका सामाजिक दृष्टिकोण प्रधान है वहाँ दूसरी ओर सौन्दर्य-चेतना भी समुन्नत और सुविकसित है। कभी-कभी उनकी इस विकसित सौन्दर्य-चेतना की ऊपरी परख करने के कारण हिन्दी के कई आलोचक उनका सम्बन्ध जीवन निरपेक्ष कलावाद से जोड देते हैं। विजय शंकर मल्ल उनके 'आधुनिक साहित्य' ग्रंथ की आलोचना करते हुए लिखते हैं:— अन्त में कला विज्ञानियों (aestheticias) द्वारा निरूपित काव्य-प्रक्रिया के साथ वाजपेयी जी ने जो सहमति व्यक्त की है और 'अभिव्यजनावाद', 'साहित्य का प्रयोजन', 'आत्मानुभूति' जैसे निबन्धों में उनकी उपपत्तियों की कुछ दूर तक मान्यता प्रदान की है उनमें उनके जीवन निरपेक्ष कलावादी होने का भ्रम है।[2]

किन्तु 'मल्ल' जी का यह भ्रम मात्र है। कला और सौन्दर्य को वाजपेयी जी सदैव ही समाज सापेक्ष मानते आ रहे हैं। काव्य की प्रेरणा युग के जीवन्त सत्य से ही उपलब्ध होती है। वाजपेयी जी ने कला और साहित्य के सम्बन्ध में उनकी तथा इतर साहित्यकारों की सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक धारणायें क्या होनी चाहिए इस पर भी उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में अच्छा प्रकाश डाला है।

वाजपेयी जी की आलोचना अत्यधिक प्रौढ है अतः अंधियारे और प्रकाश की पहिचान उन्हें खूब है। रत्नाकर जी से लेकर अद्यतन एक शती की साहित्यिक धाराओं का जो ऐतिहासिक विश्लेषण वाजपेयी जी ने किया है— जो विश्लेषण की स्वतन्त्र शैली निर्माण की है तथा आलोचना के जो मानदण्ड बनाये हैं वे अब स्थायित्व प्राप्त कर रहे हैं। हिन्दी के साहित्यकार

१— सूर-सन्दर्भ, पृ० २६
२— आलोचना— अंक ३

अब वादो को छोडकर स्वतन्त्रचेता आलोचको की ओर बढ रहे हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी आलोचना को अब कही से उधार लेने की आवश्यकता नही।

आचार्य वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति और प्रतिमाना के बारे मे एक बात और स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि आप मे आलोचक का एक दृढ व्यक्तित्व और तटस्थता होने के उपरान्त भी वे एक सहृदय समीक्षक हैं, उनमे स्वय में सवेदनशीलता का ऐसा विकसित रूप प्राप्त है कि वे कवि की अनुभूति प्रवणता को सवदनीय बना लेते है। अत उन्हे केवल समाजशास्त्रीय समीक्षक अथवा सौन्दयशास्त्रीय आलोचक न समझा जाय। वस्तुत स्वतन्त्रचेता आलोचको म य विश्लेषण की तीनो क्षमतायें अनुपातिक रूप म विद्यमान होना चाहिए वाजपेयी जी मे विद्यमान है।

वाजपेयी जी भी अन्य स्वतन्त्रचेता आलोचको की भाँति आस्तिक हैं, वैदिक-दर्शन मे उनकी अपार आस्था है और इस हा व पूर्ण जीवन दर्शन मानते हैं।

डा० नगेन्द्र

डाक्टर नगेन्द्र का भी आलोचनात्मक स्वरूप आचार्य शुक्ल के सामने ही विकसित हो गया था। हिन्दी के इस अनुभूति प्रवण, अत्यधिक सहानुभूत समालोचक को भी वाजपेयी जी की भाँति आचार्य शुक्ल से लेकर आज के प्रगतिवादियो आदि के विरोधो का सामना करना पडा। आचार्य वाजपेयी जी को तो कम से कम शुक्ल जी के तीक्ष्ण व्यग्य बाण नही सहना पडे, किन्तु जहाँ तक डाक्टर नगेन्द्र का प्रश्न है नयी आलोचना पद्धति को लेकर शुक्ल जी ने स्थान-स्थान पर उनकी ओर संकेत किया है। किन्तु उनकी गहरी मनोवैज्ञानिक पैठ मौलिक दृष्टि और प्रगाढ अध्ययन के कारण शुक्ल जी को भी डाक्टर नगेन्द्र का आलोचक स्वरूप स्वीकार करना पडा। आचार्य शुक्ल जी लिखते है – "काव्य की छायावाद शाखा चले काफी दिन हुए पर ऐसी कोई समीक्षा-पुस्तक देखने मे नही आई जिसमे उक्त शाखा की रचना प्रक्रिया (Technique), प्रसार की भिन्न भिन्न भूमियाँ, सोच समझकर निर्दिष्ट की गई हो। केवल प्रोफेसर नगेन्द्र की 'सुमित्रा नन्दन पत' पुस्तक ही ठिकान

की मिली ।"[1]

यों भी आचार्य शुक्ल को डा० नगेन्द्र कैसे पसन्द आ सकते थे । उन परिस्थितियों में यह ठिकाने का शब्द ही शुक्ल की कलम से निकल जाना नयी आलोचना धारा के लिये बहुत बड़ी बात थी । क्योंकि डा० नगेन्द्र ने आलोचना की जिस शैली का, साहित्य के जिन प्रतिमानो का तथा आलोचना की जिस भाषा का साहित्य में उन्मेष किया था वे सब आचार्य शुक्ल के आदर्श के आदर्शवादी, नीतिवादी और हठवादी आलोचना के प्रतिमानो के विरोध मे ही ठहरते थे । यद्यपि डा० नगेन्द्र के ये प्रतिमान भारतीय रसशास्त्र के विरोध मे नही थे किन्तु फिर भी उनके प्रतिमानों ने रसशास्त्र का आधार लेकर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की नवीन विश्लेषण शैलियों को भी उनका उचित स्थान दिया । हिन्दी-अलोचना मे डा० नगेन्द्र की यह क्रान्तिकारी भूमिका थी । उनको आलोचना की नवीन पद्धति की उद्भावना ने हिन्दी-आलोचना में कोहराम मचा दिया और कई अच्छे अलोचक भी डा० नगेन्द्र को फ्रायडवादी, अभिव्यन्जनावादी, प्रभाववादी आदि नामों से अभिहित करने लगे ।

किन्तु वस्तुतः डाक्टर नगेन्द्र ने नये वादों को कभी भी सिद्धान्त के रूप मे नही अपनाया, उन्होंने इन वादो को विशेषतः मनोविश्लेषणवाद को एक शैली के रूप में ही अपनाया और उन्ही के कारण आज आलोचना मे यह स्वय सिद्ध माना जाता है कि किसी भी कृति को कृतिकार से अलग कर के नही परखा जा सकता ।

डाक्टर नगेन्द्र स्वतन्त्रचेता आलोचकों मे रहे है, उन्होंने कभी किसी वाद की सैद्धान्तिक विचारणाओं से साहित्य का मूल्यांकन नही किया । उनकी आलोचना का व्यापक आधार रसशास्त्र ही है । डा० नगेन्द्र ने यही बात डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश को एक सक्षात्कार मे कही है ।

"सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र मे भारतीय काव्यशास्त्र विदेश के काव्यशास्त्र से आगे बढ़ा हुआ है ।"[2]

"विदेश के काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र के

१– हि० सा०, पृ० ६२६
२– मैं इनसे मिला था, पृ० १५०

अध्ययन और ग्रहण ने मेरी रस दृष्टि को और भी स्थिर कर दिया। मैं काव्य म इस सिद्धान्त को ही अन्तिम सिद्धान्त मानता हू। उसके बाहर न काव्य की गति है और न सार्थकता। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र को मैंने व्याख्या के साधन के रूप मे ग्रहण किया है, वे साध्य नही हैं।"

"लेकिन लोग तो आपको फायडवादी कहते हैं?"

"यह गलत है। ऐसा कहने वाले मेरी कुछ उक्तियो को पूरे प्रसग म अलग करके अपना फतवा द देते हैं। मैंने फायड के दर्शन को समग्र रूप म कभी ग्रहण नही किया। मैं उसे एकागी मानता हू और उसकी आधारभूत अनेक उक्तियो को दुरारूढ और अविश्वसनीय मानता हू। काम जीवन का मुख्य अग है मगर सर्वांग नही। एसी दशा म भी मैं फ्रायड के सिद्धान्त को जीवन-दर्शन के रूप म कैसे स्वीकार कर सकता हू। फिर भी मैं फायड को एक बहुत बडी मेधा मानता हू। उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक है, रस सिद्धान्त म भी फायड का सिद्धान्त साधक है बाधक नहीं।"[1]

डा० नगेन्द्र फायड का समर्थन वहा तक करते हैं जहाँ तक वह रस शास्त्र के सिद्धान्त का अनुमोदन करता है और उसके विश्लेषण म सहायक होता है। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि रसशास्त्र के विवेचन म अभिव्यञ्जनावाद का दार्शनिक पक्ष और फायडवाद का मनोवैज्ञानिक पक्ष पहले स ही विद्यमान है। यही कारण है कि रसशास्त्र पाठक, लेखक और उसम उद्भूत उसकी कृति तीनो मे एक समन्वय करता रहा है। वाजपेयी जी ने भी भारतीय रसशास्त्र म क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद की व्याप्ति को स्वीकार किया है। वे अपने साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति म लिखते हैं —

'भाव के निरूपण के अनुसार अनुभूति समग्र या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखण्ड अनुभूति समस्त कवियो और रचनाकारो म होती है। काव्यमात्र म उसकी अखण्डता स्वय सिद्ध है। समस्त कवि एक है उनम परस्पर भेद नही। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल म एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नही है, उसका यथार्थ रूप हम समझना होगा।"

१– मैं इनसे मिला था, पृ० १५१–५२

"काव्य गत अनुभूति के सम्बन्ध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नहीं है।"[1]

इसी भांति डा० नगेन्द्र ने भी फ्रायड के सिद्धान्त को केवल दो रूपों में स्वीकार किया है कि सृजन की जो नाना प्रकार की प्रेरणायें होती हैं उसमें 'काम' भी एक है जो वासना रूप में पाठक और लेखक दोनों में समान रूप से विद्यमान होती है। काव्य के जगत में वे ही प्रवृत्तियां स्थायित्व प्राप्त कर सकती हैं जो समान रूप से देश-काल में निरपेक्ष और अप्रभावित मनुष्य काल में विद्यमान हों। काम एक ऐसी ही प्रवृत्ति है।

दूसरा वे इस सिद्धान्त के आधार पर कृति और कृतिकार को एक दूसरे से अविच्छिन्न मानते हैं। कृति की मनोभूमि कृतिकार की ही मनोभूमि होती है अतः उसकी उपेक्षा करने का तात्पर्य है, कृति की उपेक्षा करना, यही कारण है कि उनका रस का सिद्धान्त अभिनव गुप्त के सिद्धान्तों से ही अनुमोदित है। वे रीति काव्य की भूमिका में लिखते हैं:—"रस सर्वथा विषयीगत होता है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्‌बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्तायें आती हैं—— कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को सवेद्य बनाता है, वस्तु तत्वतः उसकी अनुभूति है और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस सवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है।"[2]

इस भांति यह स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर नगेन्द्र ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को रसशास्त्र के समर्थन में ही स्वीकार किया है। और यों भी इस वर्ग का स्वतन्त्रचेता आलोचक फ्रायड के संस्कार हीन मात्र 'काम' के आसपास चक्कर लगाने वाला, मनुष्य की समस्त सांस्कृतिक और साहित्यिक उपलब्धियों को उसके मन की विकृति से उद्‌भूत बताने वाले दर्शन को कैसे अपना जीवन दर्शन स्वीकार कर सकता है।

नगेन्द्र जी ने जहां सैद्धान्तिक रूप से कई विद्वत्तापूर्ण आलोचनायें प्रस्तुत की हैं वहां व्यावहारिक आलोचना लिखने में भी आप सिद्ध-हस्त हैं।

१— आधुनिक साहित्य, पृ० ४६६
२— रीति काव्य की भूमिका, पृ० ५०

वास्तव मे उनके आलोचना के प्रतिमान ही इतने सहज हैं कि किसी भी रचना का उनके द्वारा सही मूल्यांकन हो जाता है। वे किसी भी कृति के अंगो-उपांगो का उस कृति से उन्हें पृथक कर विश्लेषण नहीं करते वरन उस कृति और कृतिकार मे सम्बन्ध निरूपित कर कृति के मानसिक और भावात्मक चेतना का सम्यक रूप से अध्ययन कर उसे एक सघटित रूप मे उपस्थित करते हैं। यह कार्य करते हुए वे एक सचेत तटस्थ दृष्टि हो रखते हैं जिसके कारण कृति पर अथवा कृतिकार पर उनका अपना विशिष्ट जीवन दर्शन न लद कर केवल सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि मे कलात्मक सौन्दर्य का ही उद्घाटन हो। यदि किसी कृति मे यह कलात्मक सौन्दर्य अपनी पूर्णता पर है तो वे यह आवश्यक नहीं समझते कि कलाकार की विचारधारा क्या है? उसका जीवन-दर्शन क्या है? यदि वह कलाकार अपने जीवन-दर्शन को पाठक के ऊपर सीधा-सीधा न थोपकर अपनी कलात्मक सौन्दर्यपूर्ण सयोजनाओ द्वारा उसका आभास भर दे। क्योंकि निरपेक्ष कलात्मक सौन्दर्य मे नगेन्द्र जी भी विश्वास नहीं करते। किन्तु उसकी साहित्यिकता और कलात्मकता किसी भी सृजन की आवश्यक शर्त है। राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं — "आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोल्गा से गंगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुल जी के पास ऐश्वर्यमयी कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भण्डार है, एकान्त, स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन दर्शन है और सहस्त्रो वर्षो के व्यवधान के आरपार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्पी विशेष नहीं हैं।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियां एक संयत और तटस्थ आलोचक की लेखनी से ही निकल सकती है जिसमे कृति की विचारणाओ मे निरपेक्ष उसके सौन्दर्य के दर्शन करने की अतल दृष्टि हो। अन्यथा प्रगतिवादी आलोचक तो ऐसी कृतियो के कला-पक्ष पर न सोचकर युग की सामाजिक प्रक्रिया, आर्थिक राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का ही विश्लेषण करने लग जाता, जिसके फलस्वरूप कला की आत्मा तो दूर छिटक जाती है और वह उसके बाह्य स्वरूप को ही लेकर उसका विश्लेषण करने बैठ जाता।

डा० नगेन्द्र यथार्थवाद के अनन्य पोषक हैं किन्तु यह यथार्थवाद भौतिकवादियों का यथार्थवाद न होकर कलात्मक यथार्थवाद है। 'विचार

1— विचार और विवेचन, पृ० १२८

और अनुभूति' में वाणी के न्याय मन्दिर से लेकर उनके 'विचार और विवेचन' में सकलित 'प्रेमचन्द' तक में उन्होंने आदर्शवाद का अनवरत रूप में विरोध किया। 'आदर्शवाद' वस्तुतः साहित्य का क्षेत्र कम होकर दर्शन और धर्म का ही क्षेत्र अधिक है, फलस्वरूप डाक्टर नगेन्द्र प्रेमचन्द के साहित्य के इस पक्ष आदर्शवाद, नीतिवाद और सुधारवाद के कटु आलोचक रहे हैं। प्रेमचन्द जी की इन प्रवृत्तियों को प्रगतिवादी आलोचक चाहे किन्हीं रूप में विश्लेषित करें किन्तु उनकी आदर्शवादिता, नीतिवादिता तथा सुधारवादिता उनके साहित्य में स्पष्ट रूप में विद्यमान है। डाक्टर नगेन्द्र इसी सन्दर्भ में यथार्थवाद का विश्लेषण करते है तथा आदर्श और यथार्थ में मौलिक अन्तर प्रतिपादित करते हुए वे लिखते है:— "यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमे कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही देखता है और चित्रित करता है— अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं एक रोमानी और दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रगीन आवरण में लपेट कर देखता है और चित्रित करता है तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है।"[1]

वस्तुतः रोमानी दृष्टिकोण, यह भी मूल में आदर्शवादी होता है किन्तु इसमे भावनाओं और कल्पनाओं का योग होने के कारण यह आदर्शवाद सौन्दर्य मूलक आदर्शवाद हो जाता है। किन्तु प्रेमचन्द का आदर्शवाद तो व्यावहारिक आदर्शवाद था इतना स्पष्ट, इतना सहज और सुलझा हुआ कि उनका कोई भी उपन्यास और कथा इस आदर्शवाद से अछूती नही रही।

यही कारण है कि डा० रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द पर दो पुस्तकें लिखने के बाद भी और अमृतराय हिन्दी के आलोचक स्तम्भ तथा प्रेमचन्द की परम्परा जैसे विस्तृत लेख लिखने के उपरान्त भी उन्हें यथार्थवादी सिद्ध नहीं कर सके, हां उसके स्थान पर सामाजिक यथार्थवाद शब्द को वे प्रेमचद के इर्द-गिर्द घुमाते रहे किन्तु गोर्की और हर्बर्ट रीड द्वारा प्रतिपादित

१— विचार और विवेचन, पृ० ९७

सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धान्त प्रेमचन्द मे नहीं मिलते कितने ही उपन्यासो मे तो वे गाधीवाद के प्रवक्ता मात्र हैं। यही कारण है कि डा० नगेन्द्र जिनका स्वय का जीवन-दर्शन (जो कुछ मैं उनके साहित्य से जान सका हू तदनुसार) गांधीवाद के निकट है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि साहित्यकार सत्य और सौन्दर्य के अपने मूल सिद्धान्तो को छोडकर प्रगतिवादियो की भांति पाठक पर अपना जीवन-दर्शन ही लादता चला जाये। यही कारण है कि डा० नगेन्द्र साहित्य म सत्य के अनन्य आराधक है। कलाकार के लिए सब प्रथम यही अलभ है कि वह सत्य का निरूपण करे। डाक्टर नगेन्द्र लिखते है — प्रेमचन्द के उपन्यासो मे उन्हे अपना नित्य प्रति का जीवन अपने पास पड़ोस के लोग अपनी व्यावहारिक समस्याए मिली। निदान उन्होने इन उपन्यासो को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया, परन्तु जब उनका गम्भीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निभ्रान्त रूप से किसी न किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनायें नैतिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।"[1]

हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचक प्रेमचन्द की इस वास्तविकता का उद्घाटन करने के कारण नगेन्द्र जी से अत्यधिक क्रोधित हैं यही कारण है कि डा० नगेन्द्र की 'विचार और अनुभूति' पर प्रहार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने अहं का विस्फोट' शीर्षक लेख मे विचार और अनुभूति' को 'एक कदम आगे तो चार कदम पीछे' कहा था। स्पष्ट है प्रगतिवादी आलोचक किसी भी कृति का मूल्यांकन करने के लिए अनुभूति की आवश्यकता नहीं मानते, जो प्रत्येक पाठक म होना चाहिए।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि डा० नगेन्द्र प्रेमचन्द को किसी भी भांति हेय कोटि का कलाकार मानते हैं। प्रेमचन्द की महानता का जिस उदात्त और व्यापक रूप से डा० नगेन्द्र ने उद्घाटन किया वैसा प्रगतिवादी आलोचक भी नही कर सके। डाक्टर नगेन्द्र लिखते हैं — "गांधी-युग के प्रथम तीन चरणो के सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओ और समस्याओं का जितना सांगोपांग और रुचिकर चित्रण प्रेमचन्द म मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार मे मिलना

१– विचार और विवेचन, पृ० ९६-९७

ही नहीं है, भारत के अन्य साहित्यकार में भी मिलता है, इसमें सन्देह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमायें होती हैं– जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं, परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें रस था। उनकी प्रतिभा कई अर्थों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों– जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र, से उनकी तुलना कीजिये, एक ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत यहा तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त ही सीमित था।"[1]

प्रेमचन्द जी की इन विशेषताओं को तो प्रगतिवादियों ने भी विश्लेषित किया। आलोचना के लिए भी अनुभूति की आवश्यकता होती है अन्यथा वह आलोचना न रहकर एक समाजशास्त्रीय अध्ययन मात्र रह जायेगा। प्रगतिवादी अपनी आलोचनाएँ इसी भांति करते हैं।

डाक्टर नगेन्द्र की पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पंत' सन् १९३८ में प्रकाशित हुई थी। जिसे कि शुक्ल जी ने भी–उस समय और भी आलोचना की पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं, उनमें इसे अच्छा कहा था।

नगेन्द्र जी की यह आलोचना की पुस्तक आज से २० वर्ष पूर्व प्रकाश में आई थी जब कि उन्होंने आलोचक की तटस्थता की बात कही थी।

यह बात भी सही है कि इस काल में उनकी आलोचना में अनुभूति की प्रधानता थी, किन्तु इस अनुभूति में एक मेधावी आलोचक के तर्क, उसकी विश्लेषण-क्षमता, तथा एक अतल-स्पर्शी दृष्टि विद्यमान थी, जिसका कि विकास डा० नगेन्द्र में निरन्तर हो रहा है। 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' आदि ग्रन्थों में उनके अध्ययन की प्रौढ़ता, विश्लेषण की क्षमता तथा दूर तह तक पहुंचने वाली दृष्टि के दर्शन होते हैं।

१– विचार और विवेचन, पृ० ९०–९१

इन पुस्तकों में अनुभूति के आधिक्य का लोप हो गया है और उसका स्थान एक ठोस बुद्धिवाद ने ले लिया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस बुद्धिवाद के प्राबल्य ने भौतिकवादियों की भी सौन्दर्य चेतना को ही नष्ट कर दिया हो। डा० नगेन्द्र की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी प्रज्ञा अन्य धारा के आलोचकों की सौन्दर्य-स्थलों की उपेक्षा करती हुई नहीं चलती है। उनकी सौंदर्य-चेतना इतनी विकसित है कि वह बौद्धिकता को सौन्दर्य-स्थलों पर थमने के लिए बाध्य करती है।

डा० नगेन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रंथ 'रीति काव्य की भूमिका' और कवि देव की कविता में बड़ी ही सहजता और सहृदयता से कवि देव की कला का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। देव की भाषा, व्याकरण उनकी छन्द-योजना, अलंकार-योजना आदि का उनका अध्ययन उनकी शास्त्रीय विद्वत्ता का ही परिचायक है। ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में संस्कृत काव्य शास्त्र का विकास निरूपित किया है। इसी के साथ-साथ उन्होंने रीतिकाल को संस्कृत काव्य शास्त्र की एक अटूट परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। यह सब यद्यपि अत्यधिक पारम्परिक है किन्तु फिर भी डा० नगेन्द्र ने अपने गहन मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा इस समस्त शास्त्र को आधुनिकता के साथ जोड़ दिया है।

इस ग्रंथ का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग इसकी रचनात्मक आलोचना ही है। जहां उनको स्वयं काव्यानन्द लेने लगता है। देव भी रीतिकाल के कवि थे, अतः उनके काव्य को परखने के लिए आलोचक उस काल की विशेषताओं से सुपरिचित होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि समस्त युग विस्मृति का युग था, नारी का युग था। अतः उसी सीमित दृष्टि से सीमित सामाजिक चेतना और तदनुसार सौन्दर्य-बोध आदि के प्रकाश में ही इस काल विशेष का विश्लेषण होना चाहिए। डा० नगेन्द्र में ये विशेषताएँ हैं। यही कारण है जहां वे अपनी रस सिद्ध आलोचना में देव के युग की सामाजिक स्थितियां राजनैतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का विश्लेषण किया वहां उनकी रसात्मकता और उनकी सौन्दर्यमूलक संयोजनाओं का भी उद्घाटन किया।

डाक्टर नगेन्द्र ने आलोचना व कतिपय ग्रंथों का सम्पादन और हिन्दी रूपान्तर भी किया है। उनके सम्पादित ग्रंथों में हिन्दी-आलोचना के लिए यदि सर्वाधिक उपयोगी ग्रंथ है तो वह है 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा'।

इसमें उन्होंने भरतमुनि से लेकर डा० नगेन्द्र तक के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विचारों का सकलन किया है। सकलन में सकलित विभिन्न काव्यशास्त्रियों की आलोचनात्मक कृतियों के अंश बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से चुने गए हैं। इस सकलन द्वारा डा० नगेन्द्र ने हिन्दी के लब्धबोध पाठकों का ही उपकार नहीं किया है अपितु कई लेखकों का भी उपकार किया है। जो सामान्य रूप में ग्रंथ में सकलित अनेक ग्रंथों को नहीं जुटा पाते हैं। किन्तु इस ग्रंथ का जो अभाव पक्ष भी है, जिसे डा० नगेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है कि "मेरे मन में हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के काव्य-सिद्धान्तों का समावेश करने का विचार भी अनेक बार आया, पर उसके लिए कदाचित् दूसरा भाग अपेक्षित होगा।"[1]

मेरा अपना मत तो यह था कि अन्य हिन्दीतर आचार्यों का भी इस ग्रंथ में कालगत सकलन हो गया होता तो यह ग्रंथ सर्वांगपूर्ण हो जाता।

इसके अतिरिक्त डाक्टर नगेन्द्र ने हिन्दी के कई आलोचनात्मक ग्रंथों की भूमिकायें भी लिखी हैं; यथा– वक्रोक्ति जीवितम् आदि। इसमें भी उनकी गहन विद्वता और मौलिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। डाक्टर नगेन्द्र ने अरस्तु के काव्य-सिद्धान्तों का अनुवाद करके भी हिन्दी की एक बहुत बड़ी सेवा की है। अभी तक अरस्तु जैसे मनीषी के आलोचनात्मक सिद्धान्तों से हिन्दी के बहुत कम समीक्षक परिचित थे और कई आलोचक कतिपय अंग्रेजी के विद्वान हिन्दी आलोचकों के बासी उद्धरणों का ही उपयोग किया करते थे।

वास्तव में हिन्दी आलोचना में डाक्टर नगेन्द्र ने वही काम किया जो रवीन्द्र बाबू ने 'काव्य-क्षेत्र' में किया, यानी पाश्चात्य और पौर्वात्य काव्य-शास्त्र को एक मिलन-बिन्दु पर लाकर खड़ा कर दिया और ऐसे प्रतिमानों का सर्जन किया जिनके माध्यम से हम न केवल हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं का समुचित मूल्यांकन करने में सक्षम हुए अपितु उन्होंने हमें आलोचना के वे प्रतिमान दिये जिनके द्वारा आज हम विश्व के साहित्य को परखने में सक्षम हैं।

डा० सत्येन्द्र

हिन्दी के नयी पीढ़ी के समीक्षकों में डाक्टर सत्येन्द्र का नाम बड़े

१– भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, –निवेदन

आदर के साथ लिया जाता है। डा० सत्येन्द्र की साहित्यिक चेतना भी किसी वाद विशेष से प्रभावित नहीं है, उनकी गणना भी हिन्दी के स्वतन्त्रचेता आलोचकों में की जाती है। उन्होंने हिन्दी-आलोचना के सभी पक्षों पर लिखा है और खब लिखा है, ऐसा भी नहीं कि डा० रामरतन भटनागर की भांति डा० सत्येन्द्र ने केवल विद्यार्थियों के लिए ही आलोचनायें लिखी हों।

किंतु डा० सत्येन्द्र, सत्येन्द्र ही क्या हिन्दी के समस्त स्वतन्त्रचेता आलोचक प्रचार प्रसार में कम विश्वास रखने के कारण, आज के विज्ञान के युग में पाठकों तक बराबर नहीं पहुंच पाते। डाक्टर सत्येन्द्र के साथ भी यही कठिनाई है। वे यदि कोई भी अध्ययन प्रस्तुत करेंगे तो उसके समस्त पहलुओं और पक्षों पर सांगोपांग विश्लेषण करेंगे, उनका कोई भी पक्ष उनसे अछूता नहीं रहता फिर चाहे वह सामाजिक हो अथवा सौन्दर्य चेतना वाला।

'गुप्त जी की कला', 'साहित्य की झांकी' 'प्रेमचन्द', 'कहानी-कला', 'कला-कल्पना और साहित्य' आदि में से उनकी कोई भी कृति ले लीजिए सभी में उनका विस्तृत अध्ययन, आलोचक की निरपेक्ष सौन्दर्य-दृष्टि कृति की तह में पहुंचने की अपार क्षमता है। उन्हीं के शब्दों में —"मैं एक फोटोग्राफर की भांति कमरे की दृष्टि से दिखने वाले सौन्दर्य को देखना और उसके कारण देता हूं।" इसी स्थल पर पाठकों को कठिनाई होती है। उन्हें कठिनाई भले ही हो पर वस्तु से व्यक्ति तक पहुंचने का मार्ग यही है और आलोचना की प्रणाली इसके अतिरिक्त दूसरी कोई रखी जाय तो न हम वस्तु (कृति) को समझ सकते हैं न व्यक्ति (कृतिकार) को।[1]

इस भांति डाक्टर सत्येन्द्र केवल कृति को नहीं देखते वे डा० नगेन्द्र की भांति कृतिकार और कृति में एक अनन्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

उन्होंने व्यावहारिक आलोचनाओं के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचनाएं भी लिखी हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां उन्हें भारतीय काव्य-शास्त्र का अच्छा अध्ययन है वहां वे पाश्चात्य मनोविज्ञान से भी खूब परिचित हैं। कला, कल्पना और साहित्य नाम की उनकी सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तकों में उनके मौलिक विश्लेषण एवं अध्ययन की गहराई के दर्शन होते हैं। उभय क्षेत्र के इस अध्ययन के उपरान्त भी यह नहीं कह सकते कि डा० सत्येन्द्र किसी लेखक विशेष से अथवा किसी धारा विशेष से प्रभावित हैं।

१– हिन्दी के आलोचक, पृ० २२०

कई आलोचक जो व्यावहारिक आलोचना के लिए अपने प्रतिमान निश्चित कर लेते हैं, वे प्रायः सैद्धान्तिक आलोचना एवं शोध मूलक आलोचना पर कम ध्यान देते हैं। किन्तु डा० सत्येन्द्र इसके अपवाद हैं जहाँ उन्होंने अनेकों साहित्यिक कृतियों और कृतिकारों का एक साहित्यिक मूल्यांकन किया है वहीं उन्होंने ब्रज की लोकवार्ताओं पर प्रत्येक दृष्टि से एक सफल शोध भी प्रस्तुत किया है। यही नहीं अपनी 'साहित्य की झांकी' नामक पुस्तक में 'विष्णु का विकास' भूषण कवि तथा उनकी परिस्थितियाँ आदि लेखों में उनकी गवेषणात्मक शक्ति का हमें परिचय मिलता है।

ये उपलब्धियाँ हैं, इनके साथ-साथ डाक्टर सत्येन्द्र की सीमायें भी हैं। उनकी प्रवृत्ति विभाजन की ओर अधिक रहती है। जिस भांति वे कला, कल्पना और साहित्य पुस्तक में 'सूर के नयन' लेख में नयनों का विभाजन करते हैं विषयी और विषय पर (कला, कल्पना और साहित्य पृ० १३८) उसी भांति 'प्रेमचंद कहानी कला' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का विभाजन इस भांति करते हैं— (१) प्रेम सम्बन्धी (२) विवाह सम्बन्धी (३) वैश्या सम्बन्धी (४) सतीत्व सम्बन्धी (५) पुरुष को जीतने वाली स्त्री सम्बन्धी (६) स्त्री को खोने वाले पुरुष सम्बन्धी (७) स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध सम्बन्धी (८) पुरुष के प्रबल स्त्री सम्बन्धी (९) रसिकता सम्बन्धी।[1]

प्रेमचंद की कहानी कला का इस भांति विभाजन कर इन शीर्षकों के अन्तर्गत उनका विश्लेषण, प्रेमचंद की कहानी कला के विश्लेषण के लिए अधिक तर्क संगत नहीं जान पड़ता। उनकी यह विभाजन पद्धति उनके समस्त ग्रंथों में विद्यमान है— चाहे वे शोध-मूलक हों, व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्धित हों अथवा सैद्धान्तिक हों। कभी-कभी आलोचक किसी कृति का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत करने में पुनरावृत्ति दोष भी कर देता है तथा ऐसे निरर्थक विभाजन जो किसी कृति के सौंदर्य पक्ष अथवा सामाजिक पक्ष का उद्घाटन नहीं कर देता अपनी कृति को पूर देता है। डा० सत्येन्द्र में यह वस्तु अपने विपुल परिमाण में उपस्थित है। किन्तु इस दोष का एक व्यावहारिक पहलू भी है कि किसी गम्भीर विषय को सरल बनाने की रुचि। वस्तुतः ऐसा लगता है कि डा० सत्येन्द्र जब ऐसा सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत करते हैं तब वे किसी दुरूह विषय को भी अत्यधिक सरलता से निरूपित

१— प्रेमचंद कहानी कला, पृ० ६२

करते हैं ताकि साहित्य का सामान्य पाठक भी उस दुरूह विषय को आसानी से आत्मसात कर ले।

डा० सत्येन्द्र की दृष्टि— उनका अध्ययन कृतिकार अथवा कृति को अपने मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत करने की ओर ही है। निश्चित ही वे कृति में सौन्दर्य-सयोजना, सामाजिक चेतना तथा उसकी कलात्मक कृतियों का विश्लेषण व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु उनके इन अध्ययनों में आलोचक का वह स्वरूप प्रस्तुत नहीं होता जिसमें कि आलोचक भावी समाज का नियामक होता है। उनकी दृष्टि अत्यधिक निरपेक्ष होती है, किन्तु यह तटस्थता भावी सृजन की प्रेरणा न होकर उनके कई विश्लेषणों में निरी तटस्थता का ही स्वरूप ग्रहण करती है। कृतिकार के लिए नाना पाठक के लिए कभी कभी वे 'कैमरे की आँख' को भी अपनी इच्छानुसार नहीं निश्चित करते जिससे कि वह अपनी कृति या अपने निश्चित प्रतिमानों से दमन में सक्षम हो सके। वे ऐसा लगता है कि कृतिकार के प्रतिमानों में दमन के अक्षम्य रहे हैं।

बाबू गुलाबराय

स्वतन्त्रचेता आलोचकों की धारा में बाबू गुलाबराय एम० ए० का नाम हिन्दी में बड़े आदर से लिया जाता है। उनके सैद्धान्तिक आलोचना के दो ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' एवं 'काव्य के रूप' हिन्दी आलोचना में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। स्वतन्त्रचेता आलोचकों की समस्त विशेषताएँ आप में व्याप्त हैं।

गुलाबराय जी की आलोचनात्मक कृतियों की सबसे बड़ी विशेषता है एक सम्यक् विवेचन। इस विवेचन में ही वे आलोचना की सार्थकता समझते हैं। यही कारण है कि वे कृति, कृतिकार और पाठक सभी में एक सामंजस्य चाहते हैं। अपने सिद्धान्त और अध्ययन में वे लिखते हैं— "कवि जहाँ पर सामंजस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छाँट के साथ सामंजस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामंजस्य पाठक व श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौन्दर्य की इतनी विवेचना करने के बाद भी उसमें कुछ अनिर्वचनीय तत्व रहता है, जिसके लिए बिहारी के शब्दों में कहना पड़ता है'— वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान' इसी अनिर्वचनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना

को महत्व मिलता है।[1]

गुलाबराय जी का यह समन्वय हमें उनके सभी ग्रन्थों मे मिलता है। वस्तुतः गुलाबराय जी मूलतः सैद्धान्तिक आलोचक ही है। व्यावहारिक आलोचना मे एक दार्शनिक चिन्तक होने के कारण उनकी व्यावहारिक आलोचना की कृतियां बहुत अधिक व्यावहारिक हो गई है। उनके प्रतिपादन मे कोई विशिष्टता नही रह पाती और वे अत्यधिक 'एक रूप' हो जाती है।

गुलाबराय जी का हिन्दी मे पदार्पण एक सैद्धान्तिक आलोचक के रूप मे हुआ था। आज से कोई ३५ वर्ष पूर्व सन् १९२७ मे उनके 'नवरस' का प्रकाशन हुआ था और उसका सर्वाद्धित और संशोधित स्वरूप सन् १९३२ मे प्रकाशित हुआ था। गुलाबराय जी साहित्य के साथ-साथ दर्शन और मनोविज्ञान के भी पण्डित हैं। 'नवरस' में उन्होंने रसो को मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है और उनकी रुचि यही सिद्ध करने मे रही है कि रस-शास्त्र के रूप में भारत के पास भी एक मनोविज्ञान रहा है। उन्होंने सहज प्रवृत्तियो, भावनाओं, सवेगो आदि मनोवैज्ञानिक शब्दावलियो को रस से अनुस्यूत कर उसे स्थायी भावो, रसों, अनुभावो आदि के समकक्ष लाकर बैठा दिया जिसका विकास हमे डाक्टर नगेन्द्र की आलोचना मे मिलता है। डा० नगेन्द्र की इन्ही मनोवैज्ञानिक शब्दावलियों को ही देखकर कभी-कभी हिन्दी के पल्लव ग्राही आलोचक उन्हे फ्रायडवादी कह देते हैं।

वास्तव मे बाबूजी की हिन्दी को यह देन एक अपार देन है। इसके पूर्व आचार्य शुक्ल जी का ध्यान भी इस ओर नही गया था। इसी नवरस मे बाबूजी ने और भी अनेक रसों की सृष्टि की है, किन्तु हिन्दी आलोचना उनसे आगे बढ जाने के कारण ये इतर रस 'सख्य', 'वात्सल्य', 'दाम्पत्य' आदि का प्रचलन नही हुआ।

गुलाबराय जी शुक्ल जी की परम्परा के ही आलोचक हैं। किन्तु परम्परा का यह तात्पर्य नही कि वह व्यक्ति परम्परा से चले आते हुए साधारणीकरण के प्रश्न पर वे शुक्ल जी द्वारा निरूपित 'लौकिक आधार की विषयगत सत्ता' को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं:— "कवि की कृति चाहे कितनी ही काल्पनिक क्यो न हो उसके लौकिक आधार की विषयगत सत्ता

१— सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ८३

को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।'[1]

किन्तु इसके साथ-साथ बाबूजी अभिनव गुप्त का इस सन्दर्भ में कहे गये 'त्रिसूत्री' कवि, वस्तु और सहृदय का भी विरोध नहीं करते, वे वस्तु के साथ साथ कवि का भी महत्व देते हैं। वे कहते हैं— इसके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि अपने ही चश्मे से संसार को देखता है। वह कच्चा सामान संसार से लेता है और उसे पकाकर योग्य बनाकर पाठक को देता है।[2]

डाक्टर नगेन्द्र ने भी यही बात कही है— "यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है— फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी संवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जाग्रत हो जाती है? इसका उत्तर होगा— अपने हृदय रस में डूबकर कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का— अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और संवेदित अनुभूति का ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस ही सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना कि सहृदय में क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा।'[3]

इस भांति बाबू गुलाबराय जी ने शुक्ल जी की एवं डाक्टर नगेन्द्र की विचारणाओं का अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में समन्वय कर दिया है। बाबू जी पाश्चात्य समीक्षकों की भांति मनुष्य की अन्तप्रवृत्तियों में एक संतुलन और सामंजस्य चाहते हैं किन्तु यह सामंजस्य केवल भावगत नहीं है। भावगत और वस्तुगत दोनों है। वे सौन्दर्य को भी इन दोनों का समन्वित रूप मानते हैं। क्योंकि वे एक मनोवैज्ञानिक भी हैं अतः भाव को किसी शून्य

१— सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७३
२— वही, पृ० १७३
३— गीति काव्य की भूमिका, पृ० ५७

के उत्पन्न न मान कर प्रक्रियात्मक रूप से वस्तु का ही प्रभावगत स्वरूप चित्रित करते हैं। सौंदर्य का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं:—

"सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आ सकती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सौन्दर्य भाव क्षेत्र का सामंजस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों का रूपों के ऐसे सामंजस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमें प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमें तन्मय कर ले। सौन्दर्यरस का वस्तुगत पक्ष है।"[1]

अतएव साहित्य के लिए भाव-पक्ष और वस्तु-पक्ष का सामंजस्य आवश्यक है। गुलाबराय जी का विवेचन सैद्धान्तिक होते हुए भी उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी नहीं है। वे जहाँ भारतीय चिन्तन के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के मूल्यों में विश्वास रखते हैं वहीं वे मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त की उपपत्तियों पर भी आस्था रखते हैं, वे तो साहित्य के माध्यम से सभी को 'सहित' करना चाहते हैं।

'काव्य के रूप' में इन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं का सैद्धान्तिक पक्ष स्पष्ट किया है। 'साहित्यालोचन' का भले ही ऐतिहासिक महत्व हो किन्तु साहित्य की विभिन्न विधाओं पर 'काव्य के रूप' जैसा पुस्तक का हिन्दी साहित्य में बहुत दिनों तक अपना एक छत्र राज्य रहा। बाबूजी की व्यावहारिक आलोचना भी उनके सिद्धान्तों से आधृरित है। वे आचार्य शुक्ल और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की भाँति व्यावहारिक आलोचनाओं में भी अपने सिद्धान्तों को निरूपित करते हुए चलते हैं। किन्तु उनकी शैली शुक्ल जी की भाँति पैनी और सीधी चोट करने वाली नहीं है। वे एक अच्छे निबन्धकार हैं, अतः शैली का महत्व खूब जानते हैं।

सामान्यतः उनकी शैली विश्लेषणात्मक शैली है। विरोधी को भी वे बड़ी शालीनता से निवेदन करते हैं। वे व्यंग्य भी करते हैं किन्तु वे व्यंग्य शालीनता का अतिक्रमण नहीं करते। बाबू श्यामसुन्दर दास जी

१– सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ८२

ने 'मधुमती भूमिका' पर निम्नलिखित व्यंग्य किया था –

"मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं– इधर आइए, यहाँ रहिये, इस भोग के लिए तरसा करते हैं। देखिए कैसी सुन्दर कथा है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभा ज्ञान सम्पन्न सत कवि की पहुँच स्वतः हुआ करती है।"[1]

बाबू गुलाबराय जी का प्रत्युत्तर कितना व्यंग्यात्मक है– इस सम्बन्ध में एक विनोद की बात लिख देना चाहता हूँ (यद्यपि) मुझे इसके लिखने में संकोच अवश्य होता है क्योंकि अपनों में बड़े और स्वर्गीय लोगों की बात न सम्बन्ध में विनोद करना हास्य रसाभास है कि कवियों और सहृदयों के लिए अब यह निमन्त्रण देवताओं की ओर से नहीं आता, नहीं तो वे देह का भी मोह छोड़ दें। यह विनोद की बात है किन्तु वास्तव में बात यह है कि कवि का सृजनानन्द और सहृदय का काव्य रसास्वादन स्वर्ग भोग से कम नहीं है। इसके लिए स्वर्ग जाने का भी कष्ट नहीं करना पड़ता।[2]

गुलाबराय जी अपनी बात खूब अच्छी तरह कहना जानते हैं। सामान्यतः वे सरल और सहज शैली ही लिये हुए रहते हैं। अन्य स्वतन्त्रचेता आलोचकों की भाँति उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिकनिष्ठ है। वे आस्तिक हैं और साहित्य में कला के माध्यम से आई हुई नैतिकता के पोषक हैं। अतएव डाक्टर सत्येन्द्र की भाँति वे एक निरपेक्ष और सर्वथा तटस्थ आलोचक नहीं हैं। काव्य के प्रतिमानों के साथ-साथ उनकी अपनी वैयक्तिक धारणायें, विश्वास और आस्थायें भी हैं, जिन्हें वे साहित्य में देखते हैं। इनके प्रतिमान अधिक उदारवादी हैं और प्रत्येक प्रकार के वादों में भी यदि वे साहित्य के मूल विश्वासों से सम्पन्न हैं तो आप उनसे समझौता करने को तैयार हैं।

किन्तु उनकी व्यावहारिक आलोचनायें अत्यधिक एक 'रूप' हो जाती हैं। अतएव उनको पूरा पढ़ने के पूर्व ही उनके निष्कर्ष और निर्णय पहले से ही ज्ञात हो जाते हैं।

१– देखिये –हिन्दी के आलोचक –सम्पादित शचीरानी

२– सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ८६

पं० विनयमोहन शर्मा

पं० विनयमोहन शर्मा भी डा० सत्येन्द्र की भांति प्रचार, प्रसार और विज्ञापन से दूर हिन्दी के एक मनस्वी आलोचक है। सर्वप्रथम हिन्दी के जगत के सामने आपका 'कवि और रेखाचित्रकार' का ही स्वरूप आया था। किन्तु डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि की भाति आपने कवि-धर्म छोड़कर आलोचन-धर्म ही स्वीकार किया। अतएव विनयमोहन जी ने स्वतन्त्रचेता आलोचकों में अपना स्थान बना लिया है। मैंने सन् १९५६ मे हिन्दी के समर्थ आलोचक प० विनयमोहन शर्मा शीर्षक से लेख लिखा था और कहा था:— "जो कुछ वाद-रोगो से मुक्त है, उनमे प० विनयमोहन शर्मा का नाम बड़े सम्मान मे लिया जाता है। वादो से मुक्त का तात्पर्य यह नही कि पडित जी इन वादो के अच्छे तत्वों के और सिद्धातों के भी विरोध मे हो, जैसा कि अज्ञेय जी और भारती जी है। शर्मा जी हर वाद के जीवन्त तत्वो को (वाजपेयी जी की भाति ही) ग्रहण करते हैं, उसे भारतीय जलवायु मे परखते और अगर वह भारतीय जन-जीवन के लिए मंगलमय है तो उन्हे स्वीकार्य है, अन्यथा नही। रचना की तह मे उतरकर अपनी अन्तर्भेदिनी-पारदर्शी दृष्टि मे उसकी परख करते हैं और देखते हैं-कही रचनाकार समाज को अफीम तो नही पिला रहा है।"[1]

आज सात वर्षों के पश्चात् उनकी इन्हीं दृष्टियों मे विकास हुआ है, वे और मंजे है तथा आज के हिन्दी आलोचना जगत मे अपनी रस-स्वतन्त्र चेतना के साथ एक दृढ आधार लिए हुये है। उनकी आलोचना की प्रमुख कृतियां— 'साहित्य कला', 'कवि प्रसाद', 'आसू' तथा अन्य कृतियां, 'दृष्टिकोण' और 'साहित्यावलोकन' तथा उनका पी०-एच० डी० का प्रबन्ध 'मराठी सन्तो का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' आदि प्रकाशित हो चुकी है। इन समस्त कृतियों के अध्ययन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० विनयमोहन शर्मा केवल साहित्य के अधुनातन अथवा पुरातन स्वरूप के ही विद्वान नही है अपितु उनके अध्ययन और आलोचन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक और साहित्य की समग्रता को लिए हुए है। आपने जहाँ आलोचक के निरपेक्ष दृष्टिकोण को सामने रखकर व्यावहारिक आलोचनायें लिखी हैं वहीं 'साहित्यावलोकन' के कई लेखों मे तथा अपने पी०-एच० डी० के प्रबन्ध मे, अनुसन्धान की एक

१— वीणा—सितम्बर ५६

गहरी और अतलस्पर्शी मेधा का भी परिचय दिया है। 'साहित्यावलोकन' में उनके कई लेख यथा अवधी और कृष्णायन की भाषा' 'नामदेव और उनकी हिन्दी कविता' आदि शोधमूलक लेखों के अन्तगत आते हैं। आपके 'शोध' का भी एक विशेष दृष्टिकोण होता है। या प्राय हिन्दी म ऐसे शोध हो रहे हैं जिनसे संस्कृति का अधुनातन स्वरूप स्पष्ट न होकर या तो एक पुरातनवादी दृष्टिकोण ही हमारे सम्मुख आता है जिसमे कि वतमान साहित्य की उपलब्धियो को अतीत की चेतना से पृथक करके देखने का प्रयत्न किया जाता है अथवा अतीत को वतमान से अलग करके। यह दृष्टिकोण साहित्य म एक अधूरा दृष्टिकोण है। प० विनयमोहन शर्मा इस विश्लेषण म सहज ही आचार्य शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की कोटि म खडे हो जाते हैं। 'मराठी सन्तों का हिन्दी-साहित्य' पर प्रभाव एक ऐसा ही ग्रंथ है जिसम उन्होंने अपना दृष्टिकोण दिया है। केवल प्रभाव मात्र सिद्ध नही किया है। उनके विश्लेषण मे युग के अधकार म खोई हुई संस्कृति पुन केंचुली छोडकर खडी हो जाती है। वे जब अपनी बात कहते हैं बहुत ही विनम्र होकर कहते हैं और इस विनम्रता मे उनके अपने अध्ययन का आत्मबल और अकाट्य तर्कों का विश्वास होता है। अपने दृष्टिकोण म वे विद्यापति पदावली शीर्षक लेख म लिखते हैं—"जयदेव का अनुकरण पूर्व म चंडीदास और विद्यापति ने किया और पश्चिम म सूर तथा नन्ददास ने। यद्यपि सूर को हिन्दी का प्रथम गीति-कवि कुछ लोग कहते हैं और उन्हें पद-शैली का प्रथम आचार्य भी, परन्तु यह दृष्टिकोण उस समय तक मान्य था जब तक मैथिल को हिन्दी की विभाषा नहीं माना गया था। मैथिल भाषा हिन्दी की सीमा के अतगत है। अत हिन्दी के प्रथम गीति-कवित्व का सेहरा विद्यापति के सिर पर बाधा जाना चाहिए और उन्हें ही कृष्ण परम्परा का प्रथम हिन्दी कवि घोषित करना चाहिए।[1]

यही नही प० विनयमोहन शर्मा जिस भांति प्राचीन संत कवियों एव भक्त कवियो पर अधिकारी वाणी म बोलते हैं ठीक उसी भांति अर्वाचीन कवियो पर भी आपका पूर्ण अधिकार है। विनयमोहन जी ने पन्त जी की दो कृतियां ग्राम्या और युगवाणी का बडा ही तार्किक ढंग से विश्लेषण किया है।[2] अपने विवेचन म वे लिखते हैं— कवि ने 'ग्रामचित्र' शीर्षक कविता में

१— दृष्टिकोण, पृ० १३०
२— सुमित्रानन्दन पन्त—सम्पादित शचीरानी गुर्टू

श्रम–मानव की 'विपण्ण जीवन मृत' बतलाया है और 'कठपुतले' में भी 'जीवन मृत', 'मूछित', 'विपण्ण', 'जड़वत' स्तम्भित बतलाया है। जब अगणित ग्रामिक जीवन्मृत दिखाई देते हैं तब 'ग्राम युवती' शीर्षक रचना में ग्राम युवती का इठलाते हुए आना और पट सरका लट खिसका शरमाई नमित दृष्टि से उरोजों के युगधर देखने का चापल्य प्रदर्शित करना कहाँ तक तथ्य सगत है ··· बेचारी ग्राम-नारी, कवि के शब्दों में क्षुधा और काम से चिर मर्यादित रहती है, फिर भी (कवि) उसे 'ग्राम युवती' में अत्यधिक कामुक चित्रित कर उसने अपने कथनों में विरोध प्रदर्शित किया है।"

पन्त जी के इन विरोधाभासों को शर्मा जी ने कितने प्राजल और उदार रूप में उद्घाटित किया है, यही आलोचक की सहृदयता है। अन्यथा एक दूसरे आलोचक (डा० रामविलास शर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में) की तरह ऐसी ही पंक्तियों पर शर्मा जी भी यह कह सकते थे 'अवश्य बरसो' । राम-नामी भिगोकर बगल में दबी हुई कामशास्त्र की पोथी को भी तर कर दो।

किन्तु विनयमोहन जी की आलोचना सृजन मूलक है, वे रचना की कमजोरियों का उद्घाटन तो अवश्य करते हैं, एक प्रेरक के रूप में, एक मार्ग-दर्शक के रूप में, विध्वंसक के रूप में नहीं। पन्त की कविताओं में शर्मा जी ने ऐसी कई विरोधाभासों का उद्घाटन किया है। पन्त की 'गोपियों का नृत्य', 'ग्राम वधू' आदि में रसाभास तथा कवि का विदेशी फूलों के गिनाने में देशगत दोष आदि पर आलोचक ने अच्छा प्रकाश डाला है। जब पंत जी इन कविताओं के 'संवेदन तत्व' के बारे में सफाई देते हैं और कहते हैं, "इन पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है।" तब आलोचक विनयमोहन जी उस बौद्धिक सहानुभूति का स्तवन नहीं करते। वे एक निरपेक्ष आलोचक की भांति पन्त जी की इस बौद्धिक सहानुभूति के सम्मुख एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देते हैं।

पंडित विनयमोहन जी आज की विघटनवादी साहित्यिक धाराओं में भी सावधान हैं। वे फ्रायड की विचारधारा को हिन्दी साहित्य के लिए घातक एवं प्रतिगामी मानते हैं। अपने दृष्टिकोण में वे लिखते हैं:– "फ्रायड की व्याख्या में हमें एकांगीपन दीखता है। प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में अतृप्त विकारों–इच्छाओं का ही प्रतिबिम्ब होता है ? हम देखते हैं तृप्त

वासनाओं–अनुभूत विकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है। सच बात यह है कि तृप्त और अतृप्त दोनों प्रकार की वासनाएं साहित्य-सृजन की भूमि तैयार करती हैं।'[1]

किन्तु इन शक्तियों के साथ साथ पं० विनयमोहन जी की आलोचना की सीमाएं भी हैं। वे साहित्य की कतिपय नवीन उपलब्धियों की सूक्ष्म ग्रंथियों को समझने में कम सफल हुए हैं। वे प्रगतिवादियों और फ्रायडवादियों में सामंजस्य की बात करते हैं। कदाचित वे पं० इलाचन्द्र जोशी को मार्क्स-वादी मान बैठे हैं। पं० विनयमोहन जी लिखते हैं—

'मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकांगीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। उन्होंने फ्रायड का सहारा लिया। आमबोन ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकांगिता नष्ट करनी है तो फ्रायड के मानस तत्वों को अपनाना होगा। परन्तु फ्रायड का अनुसंधान किन्तु भी अपूर्ण है, उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है, परन्तु उसमें भी एकांगीपन का दोष आ गया है।''[2]

वस्तुतः मार्क्सवाद का कोई भी ज्ञाता अपने सिद्धान्तों का समझौता फ्रायडवादियों से नहीं करेगा क्योंकि ये दोनों दो विरोधी छोर हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अपने 'आधुनिक साहित्य' नामक ग्रंथ में यही बात कही है—"मार्क्सवादी मत को मान लेने पर कवि-कल्पना और काव्य की प्रसार सीमा वर्ग संघर्ष की स्थिति विशेष से ही सम्बद्ध और उसी से परि-चालित माननी पड़ेगी और दूसरी ओर मनोविश्लेषण मत के अनुसार काव्य को केवल स्वप्न का स्वरूप मानना पड़ेगा। ये दोनों मत परस्पर विरोधी तो हैं ही, स्पष्टतः अतिवादी भी हैं।''[3]

उपर्युक्त विषय पर 'मनोविश्लेषणवाद और आलोचना' शीर्षक अध्याय में पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव में मार्क्सवाद

१– कवि प्रसाद, पृ० २८

२– हिंदी के समय आलोचक, पं० विनयमोहन शर्मा, ले० कृष्ण वल्लभ जोशी 'वीणा' मित० ५६

३– आधुनिक साहित्य, पृ० ३६५

यदि फ्रायडवाद के साथ समझौता करता है तो एक दूसरे के मौलिक अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाएगा ।

किन्तु उपर्युक्त सन्दर्भित ग्रंथ विनयमोहन जी ने बहुत पहले लिखा था, इसके पश्चात् उनके 'दृष्टिकोण', 'साहित्यावलोकन' आदि ग्रंथों में उनके विचारों में अधिक प्रौढ़ता आई है—उनके चिन्तन की परिधि अधिक विस्तीर्ण हुई है । प्रगतिवाद पर उनके आक्षेप अधिक सशक्त और प्रौढ़ हैं जो प्रगतिवादियों से अभी भी उत्तर की अपेक्षा रखते हैं । 'दृष्टिकोण' में वे लिखते हैं-प्रगतिवादी कविताओं में प्रेरणा नहीं, प्रयास होता है । आत्मानुभूति नहीं, ज्ञान-संचय होता है ।[1]

इस भांति यह स्पष्ट है कि प० विनयमोहन शर्मा आधुनिक आलोचना में प्रौढ़ता की ओर अग्रसर हो रहे हैं । उनका दृष्टिकोण पर्याप्त रूप में व्यापक और निर्लिप्त है । उनकी तटस्थता प० नन्ददुलारे वाजपेयी जैसी ही सृजन-प्रेरणादायक तटस्थता है । समन्वय की ओर उनकी भी रुचि है और भारतीय एवं पाश्चात्य् दोनों प्रकार के आलोचना के प्रतिमानों को आपने ग्रहण किया है ।

इनके अतिरिक्त इस धारा के अंतर्गत रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० देवराज उपाध्याय आदि को भी ले सकते हैं । इन समीक्षकों की आलोचना का विकास भी इन्हीं दिशाओं में हुआ है ।

अतीत की चेतना में अनुप्रेरित कवियों में हमें सर्वश्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि को ले सकते हैं ।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीः—

'भारतीय काव्यशस्त्र की परम्परा' के परिशिष्ट में डा० नगेन्द्र ने हजारीप्रसाद द्विवेदी पर परिचयात्मक टिप्पणी लिखते हुए ऐसा लगता है कि उनकी समस्त विशेषताओं को सूत्रबद्ध कर दिया हो । वे लिखते हैं:—ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अग्रगण्य है ।

१— दृष्टिकोण पृ० २४

जन-जीवन की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं का उद्घाटन करते हुए विवेच्य को समष्टि के साथ सम्बद्ध कर देखना इनकी आलोचना का मूलाधार है। द्विवेदी जी साहित्य का सबन्ध नवजीवन के साथ मान कर चलते हैं। उनकी समीक्षा का आधार-फलक मानववादी होने के कारण अत्यन्त विस्तृत है, और उनका व्यक्तित्व उसको सम्भालने योग्य पांडित्य, सहानुभूति तथा कल्पना आदि गुणों से सम्पन्न है।[1]

शान्तिनिकेतन और वाराणसी हमारे सांस्कृतिक तीर्थ हैं। कला-गुरु टैगोर ने तथा पंडित मदनमोहन मालवीय ने देश के विभिन्न प्रान्तों में व्याप्त विच्छिन्न सांस्कृतिक अणुओं को इन दो स्थलों पर जुटाकर पुनः हमारी संस्कृति को एकरूपता प्रदान की। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक स्वरूप शान्तिनिकेतन के सांस्कृतिक वातावरण में ही प्रस्फुटित हुआ कला-गुरु टैगोर की स्नेहिल छांह में हजारीप्रसाद जी का साहित्यकार पला, बड़ा हुआ और वाराणसी में आकर इस पौधे ने हिन्दी साहित्य जगत को फल और फूल देना प्रारम्भ किया।

स्वतन्त्रचेता आलोचकों की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए इस बात को विशेष महत्त्व दिया गया था कि इन आलोचकों की मूल दृष्टि सांस्कृतिक दृष्टि है। ये आलोचक साहित्य का निरपेक्ष रूप से, मात्र साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं देखकर उसे संस्कृति में अनुस्यूत करते हैं—हमारी संस्कृति की पीठिका पर ही साहित्य को परखते हैं और इस भांति अतीत की मूल चेतना का वर्तमान प्रकाश में आकलन करते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आलोचना के इन्हीं महत् प्रतिमानों को लेकर साहित्य में अवतरित हुए।

एक पाश्चात्य लेखक के शब्दों में —

'In the new critics refusal to take critical account of the historicity of a work there is one understands the impulse to make the work of the past more immediate and more real to deny that between now and then there is any essential difference, the spirit of man being one and continuous But it is

१— भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० ६३८

only if we are aware of the reality of the past that we can feel it as alive and present"[1].

वास्तव में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के पूर्व हिन्दी में साहित्य को परखने के लिए संस्कृति को इतने व्यापक रूप में ग्रहण नहीं किया जाता था और केवल साहित्य का विशुद्ध साहित्य के प्रतिमानों में ही मूल्याकन किया जाता था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही साहित्य को संस्कृति की पृष्ठ-भूमि में रखकर उसका मूल्यांकन किया और यह सिद्ध किया कि साहित्य और संस्कृति एक दूसरे से अनुस्यूत है तथा मानव-संस्कृति की चिरन्तन विकासमान परम्परा में सम्बन्धित है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के निवेदन में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यही निवेदन है :—"हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय।"

डा० हजारीप्रसाद ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का एक प्राचीन चली आई हुई परम्परा के रूप में ही मूल्याकन किया है। उनका यह मूल्याकन और विश्लेषण शोध के साथ-साथ अग्रसर होता है। आज से कोई २५ वर्ष पूर्व सन् १९३४ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पहला आलोचनात्मक ग्रंथ 'सूरदास' प्रकाश में आया था। 'सूरदास' में उन्होंने जहाँ व्यावहारिक रूप से सूर के साहित्य का मूल्यांकन किया है वहीं सूरदास के सम्बन्ध में उनकी भक्ति और परम्परा के सम्बन्ध में भी हमें इस सम्बन्ध में उनकी शोध मूलक मान्यताएं प्राप्त होती हैं।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उनकी अतीत की चेतना पूर्णतः अपने विकसित स्वरूप में देखने को मिलती है। इसके पूर्व साहित्य को इतनी आत्मीयता से किसी आलोचक ने संस्कृति के साथ इस भांति अविच्छिन्न रूप से अनुस्यूत नहीं किया था। यहां तक कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग भक्तिकाल को मात्र मुसलमानों की प्रतिक्रिया स्वरूप उद्भूत ही मानते हैं। वे, लिखते हैं—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया......ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो

1– Critical approaches to Literature–by David Daiches P. 329
2– हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ७

वे गा ही सकते थ और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनैतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?[1]

आचार्य हजारीप्रसाद जी की रचना 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के प्रकाश में आने तक शुक्ल जी का उपयुक्त विश्लेषण ही आप्त शब्द के रूप में प्रचलित था।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी के उक्त वक्तव्य का बड़े तीव्र स्वर में विरोध करते हुए यह प्रकट किया है कि इतना बड़ा सर्वाधिक मौलिक और उदात्त भक्ति-आन्दोलन मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया न होकर एक पुरानी चली आई हुई भारतीय परम्परा के तारतम्य में ही है। वे लिखते हैं—"कभी-कभी यह शंका की गई है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसल्मानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया संतों की जाति-पाति की विरोधी प्रवृत्ति अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसल्मानी जोश' है। ये सभी बातें भ्रम मूलक हैं। निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति नीति, साधना, वक्तव्य, वस्तु के प्रति उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन हैं। इस तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण करता है पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है।"[2]

इस भांति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी बाह्य सतही परिस्थितियों को पार्श्व में रखकर साहित्य का मूल्यांकन न कर कृति की सांस्कृतिक परम्परा की तह में पहुंचकर साहित्य का विश्लेषण करते हैं। किन्तु इस

१– हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६८
२– हि० सा० की भूमिका, पृ० २७

सांस्कृतिक विश्लेषण के होते हुए भी उनकी कृतियों मे कहीं भी प्रतिक्रियावाद का एक धीमा स्वर भी सुनाई नही देता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी आदि महाकाव्यकार सूफी प्रेम-मार्गियों को तो अपने इतिहास तथा अन्य आलोचनात्मक ग्रंथों में आवश्यकता से अधिक स्थान दिया किन्तु समष्टिवादी ज्ञानमार्गीय सतों की सदैव उपेक्षा की। उसका एक मोटा कारण यह था कि शुक्ल जी के पास वह अनन्त व्यापिनी सांस्कृतिक दृष्टि नही थी जिसके द्वारा वे कबीर को भारतीय संस्कृति के विशाल जीवन-मूल्यों के प्रकाश मे परखते। उनके अपने सस्कार थे जिनके कारण वे महाकाव्य-लेखकों एवं अन्य कवियों की ओर ही अधिक झुके रहे। जिसके कारण एक लम्बी अवधि तक कबीर, दादू, पीपा रार्इदास, रज्जब, शेख फरीद आदि कवियों को अष्टछाप के कवियों से तथा राम भक्ति-धारा के कवियों से भी कम महत्व दिया गया।

आचार्य द्विवेदी ने मानववादी एक व्यापक जीवन-दृष्टि द्वारा सत एवं भक्त कवियों की वास्तविक परम्पराओं एवं उनकी उपलब्धियों का पहली बार अपने 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' आदि ग्रंथों में उद्घाटन किया। उन्होंने कभी भी किसी मत अथवा भक्त को सकीर्णतावादी ढग से नही परखा। वे प्रत्येक को उसकी समग्रता में ही ग्रहण करते है। हजारी प्रसाद जी को इस बात से चिढ है कि कोई आलोचक किसी भी कवि अथवा साहित्यकार के किसी एक स्वरूप का ही उद्घाटन करे। कबीर में उन्होंने ऐसी ही व्याप्ति देखी है। वे लिखते है:—"कबीर धर्म गुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए। परन्तु विद्वानों ने नाना रूप मे उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप मे उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज सुधारक के रूप मे, सर्वधर्म समन्वयकारी के रूप मे, हिन्दू-मुस्लिम एक्य विधायक के रूप मे, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप मे और वेदान्त व्याख्याता दार्शनिक के रूप मे भी उनकी चर्चा कम नही हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाति गावहिं मुनि सन्ता' के अनुसार कबीर कथित हरि-कथा का विविध रूप मे उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साह परायण विद्वान गलती से कबीर को इन्ही रूपों में से किसी एक का प्रतिनिधि समझ कर ऐसी बातें करने लगते है जो असगत कही जा सकती है।"[1]

१– कबीर, पृ० २१६

डा० हजारीप्रसाद जी के पूर्व हिन्दी में केवल डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ही अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री' में सन्तों की इस व्यापकता की ओर संकेत किया था। इसके पश्चात ही कबीर की आध्यात्मिक गहराइयों एवं बहुमुखी सामाजिक एवं धार्मिक चेतना की ओर अन्य आलोचकों का दृष्टि गई।

उनकी इस अतीत की चेतना के उपरान्त भी डा० हजारीप्रसाद जी वर्तमान की सामयिक चेतना से विमुख नहीं हैं। वे ना अपने समस्त अनुसंधानों एवं साहित्य की विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियों से भविष्य-निर्माण ही करना चाहते हैं। हिन्दी संसार को अपनी बहुत सांस्कृतिक गरिमा का समझने के पश्चात वे बराबर वर्तमान की चेतना की ओर भी उत्प्रेरित हुए हैं। वे लिखते हैं— 'यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है।'

अतीत का विश्लेषण करते हुए डा० द्विवेदी की दृष्टि सदैव भविष्य की ओर लगी रही। यही कारण है कि 'कबीर उनकी व्यापकता के कारण उनका प्रिय कवि, प्रिय द्रष्टा और आदर्श धर्म नेता रहे। कबीर के जहाँ दार्शनिक स्वरूप पर आलोचक मुग्ध हैं वहीं उनकी सामाजिक चेतना से भी वह अत्यधिक प्रभावित हैं। हजारी प्रसाद जी लिखते हैं— 'जो लोग हिन्दू मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्ग-दर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया।'[२]

डा० हजारीप्रसाद जी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में एक व्यापक समन्वयवाद लिए हुए हैं और वास्तव में साहित्य और संस्कृति मूलतः समन्वयवादी ही होते हैं। वे इस समन्वयवाद को उस समय तक बराबर अपनाते रहते हैं जब तक कि उसकी मौलिकता नष्ट न हो। वे इस तथ्य को भली भाँति जानते हैं, इसीलिये कहते हैं— "हम स्वयं के इस रगड़े में न

१– विचार और वितर्क, पृ० १८७
२– कबीर, पृ० २१९

पड जाय कि कोई चीज ...... कहां तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हो या न हो, ग्राह्य है।"[1]

आचार्य जी के दृष्टिकोण की यह व्यापकता कला-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्राप्त हुई थी। टैगोर की मनोभूमि समन्वयवाद के इसी व्यापक नींव पर टिकी हुई थी। यहाँ तक कि जब स्वतन्त्रता आन्दोलन में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार प्रारम्भ हुआ तब टैगोर ने गांधी को एक पत्र लिखा था कि इन बहुमूल्य, सुन्दर और अच्छी वस्तुओं में क्या बुराई है।[2] यदि विदेश की कोई वस्तु अच्छी है तो उसे अपनाने में संकोच क्यों ?

डा० हजारीप्रसाद जी का साहित्य, संस्कृति, आलोचना, उनके शोध सभी कुछ मानव के लिये है। यह मानववादी दृष्टिकोण उनकी समस्त आलोचनात्मक कृतियों का प्राण है। अतः वे कहते हैं— "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, उसे जो उनकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[3]

प० हजारीप्रसाद जी में यह दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के दो हजार वर्षों का सम्यक सर्वेक्षण करने के बाद ही विकसित हुआ है, प्रगतिवादियों की भांति केवल बाह्य स्थिति के ऊपरी अध्ययन एवं थोथी बौद्धिकता के आधार पर साहित्यकार में जीवन के ऐसे स्वस्थ मूल्यों का सन्निवेश नहीं होता। महाभारत एवं भागवत का यह स्वरूप सदाचार मन्वन्तरों के पश्चात् साहित्य में डा० हजारीप्रसाद की लेखनी से पुनः अधुनातन स्वरूप में अवतरित हुआ है। किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे किसी जाति, संस्कृति अथवा साहित्य के गुण–दोषों को छिपाना चाहते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं— "जो ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार किसी जाति को सच्चे रूप में उपस्थित करता है, उसके गुण–दोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त कर सकता है, वह संसार की सबसे बड़ी सेवा करता है, यही वह तीसरी वस्तु है जिसमें मैं किसी

१– विचार और वितर्क, पृ० १९२-९३
2– Biography of Mahatma Gandhi
३– अशोक के फूल, पृ० १७९

ग्रंथकार के औचित्य का निर्णय करता हूं।"[1]

डा० हजारीप्रसाद जी की ये ही विशेषतायें हैं जो उन्होंने अपने शोध प्रयासों के साथ इतर ग्रन्थों में भी उद्‌घाटित की हैं। उनके 'हिन्दी साहित्य' हिन्दी-साहित्य का आदि काल', 'नाथ सम्प्रदाय', 'मध्यकालीन धर्म-साधना' आदि में उनके प्रगाढ़ अध्ययन और गाध के अतिरिक्त उनकी विवेचन की वैज्ञानिक प्रणाली, एक प्रौढ़ चिन्तन होगा।

किन्तु इनके अतिरिक्त उनकी कतिपय सीमायें भी हैं। हमें जो 'कबीर' *हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'नाथ सम्प्रदाय', 'मध्यकालीन धर्म-साधना'* आदि ग्रंथों में जो उनकी मौलिक गवेषणायें तथा एक वैज्ञानिक शैली के दर्शन होते हैं वह हमें 'हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' में नहीं मिलते। उन्होंने निश्चित रूप से इन ग्रंथों के विवेचन में भी सांस्कृतिक धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों को नियोजित कर एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। किन्तु फिर भी यह सत्य है कि 'हिन्दी *साहित्य' में द्विवेदी जी से अपेक्षित वह प्रौढ़ता और मौलिकता इस ग्रंथ में* नहीं आई है जो कि उनके ग्रंथों का सहज स्वरूप है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में भी द्विवेदी जी की समस्त खूबियां विद्यमान होते हुए भी, ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उनके निष्कर्ष शुक्ल जी के विरोध-स्वरूप ही है। उन्होंने अधिकतर इस काल के लिए मनारिया जी को ही अधिकारी माना है जो कि स्वयं राजस्थानी कला और संस्कृति का अपने प्रान्तीय पूर्वग्रहों से मुक्त होकर नहीं देख सके है। आज उनके ही मूल्यों की परीक्षा करने का अवसर आ गया है।

मैं यह तो मानता ही हूं कि "द्विवेदी जी ने सिद्ध और नाथ साधनाओं का गहरा अध्ययन किया है किन्तु उनके भी अपने मोह और अभिनिवेश हैं, जिनका सन्तुलित ऐतिहासिक विवेचन पर प्रभाव पड़ता है।"[2] क्योंकि आलोचक के अपने प्रतिमान होते हैं। इन प्रतिमानों को मैं निरे साहित्यिक प्रतिमान न मानकर जीवन के प्रतिमान मानता हूं। आलोचक के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विश्वास होते हैं, किन्तु ये विश्वास मानववाद

१- विचार और वितर्क, पृ० ४८
२- आलोचना वर्ष ३, अंक-१

की पुष्टि मे ही होते हैं जिसमे मानववाद की व्यापकता का समावेश नही है वह साहित्यकार ही नही बन सकता।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

जब आधुनिक हिन्दी-आलोचना का इतिहास लिखा जायगा तब निश्चित ही डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के नाम की गणना हिन्दी के प्रथम कोटि के आलोचकों मे की जायेगी। आज पुस्तकाकार मे बडथ्वाल जी की बहुत ही कम कृतिया सहज रूप से प्राप्त होती हैं। किन्तु जो कुछ पढने को मिलता है ऐसा प्रतीत होता है कि बडथ्वाल जी ने ही 'अतीत की चेतना' प्रधान आलोचना का श्रीगणेश किया था। 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय', 'मकरन्दय', 'योग प्रवाह' आदि को पढने मे यह लगता है कि हिन्दी मे बडथ्वाल जी की कोटि के आलोचकों की सख्या आज भी बहुत कम है।

उनमे आलोचक और अन्वेषक दोनो शक्तियो का अद्भुत समन्वय था। वे उन पुरातनवादियो की भाति नही थे जो प्रत्येक कृति को अतीत की चेतना मे ही देखें। जहा उन्होंने निर्गुण मन्त कवियों तथा उनकी उपस्थापनाओ का विस्तृत विवेचन किया वही आधुनिकता की ओर भी उनकी अत्यधिक रुचि थी। 'निरजन', 'अवधूत' तथा योग मार्गियो के इतर सैद्धान्तिक आचारो, कल्पो एव क्रियाओं का बडथ्वाल जी द्वारा पहली बार ऐसा सास्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया, उस समय जब डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्य-युगीन सन्तो के अध्ययन की ओर दिशा निर्देशन नही किया था, उस समय बड़थ्वाल जी अपने शोधमूलक अध्ययन द्वारा इस दिशा मे पर्याप्त रूप से आगे बढ गये थे। शुक्ल जी तो इस विषय मे मौन ही रहे। बडथ्वाल जी के प्रगाढ अध्ययन, उनके प्रतिपादन की प्रौढ शैली तथा शोध के प्रति एक अद्भुत उत्साह उनके 'हिन्दी काव्य मे निर्गुण धारा' मे हमे खूब मिलता है।

वे निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय मे भारतीय अद्वैतवाद का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित करते है कि यह अद्वैतवाद विश्व की दार्शनिक चिन्तनाओं की परम्परा मे ही है।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय मे तीन प्रकार का दार्शनिक मत दिखाई देता है जिन्हे मैंने वेदान्त की शब्दावली का व्यवहार कर अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारा है— अद्वैती लोग जीवात्मा

और परमात्मा म पूर्णाद्वैत भाव मानते है, वे इन सब बाता को केवल व्यावहारिक रूप मे सत्य मानते है, परमार्थत नही, किन्तु विशिष्टाद्वैतियो और भदाभेदियो के अनुसार य वस्तुएँ सत्य हैं। इन दोनो मतो वाले मानते हैं कि परमात्मा का अश स्वरूप होने के कारण आत्मा भी एक प्रकार से परमात्मा ही है। भेदाभेदियो के अनुसार यह अश अन्त मे अपनी भेद सत्ता को अभेद रूप म परमात्मा म लय कर देता है किन्तु विशिष्टाद्वैतियो के अनुसार पूर्ण और अश म यह भेद शाश्वत है। सृष्टि सम्बन्धी इन दार्शनिक सिद्धान्ता और अग्रेजी दार्शनिक शब्दावली मे हम अद्वैतियो, भदाभदियो और विशिष्टाद्वैतियो का क्रमश एक्सिस्मिस्म (विवर्तवादी) पनैथीस्टिस (सर्वात्म विकासवादी) और एक्सटनल लार्ड थियास्टिस (बाह्य त्रिभुवनवादी) कह सकते है।"[1]

हिन्दी म इस भाति क विश्लेषण का शिलान्यास पहली बार बडथ्वाल जी द्वारा किया गया। उन्ही क इस प्रबन्ध को श्रेय ह कि आज हिन्दी म निर्गुण सन्त सम्प्रदाय पर अच्छे-अच्छे ग्रथ प्राप्त हैं। उन्ही की प्रच्छन्न प्ररणा स डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० भारती, डा० रागय राघव आदि न इस विषय पर अपने शोधमूलक ग्रथो की रचना की।

उनका शोध केवल साहित्य का न छू कर सस्कृति क महापारावार मे भी उपयोगी रत्नो को चुनता है और उसका सांगोपाग विवेचन प्रस्तुत करता है। 'निरजन' पर लिखते हुए वे अपनी गवषणा प्रस्तुत करते हैं– "निरजन को काल पुरुष कहना पहले पहल गीता के अनुकूल जान पडेगा कृष्ण अपने आपको 'कालोस्मि' कहते हैं। परतु उनका अपने आप को काल कहने का अभिप्राय निरतिशय परब्रह्म पद से नीचे गिरना नहीं है। क्योकि जहा उन्होंने अपने आप को 'काल' कहा है, वही क्षर और अक्षर दोनों म परे भी बतलाया है। कृष्ण काल और अक्षरातीत दोनो एक साथ हैं।"[2]

ऐसा लगता है कि जिस निरजन का सकेत बडथ्वाल जी ने किया था—जिन दिशाओ पर उन्होने सोचा था, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की गवेषणाओं में भी उन्हीं दिशाओ मे काय हुआ है—गवेषणा की उन्हीं स्वस्थ

१– हिन्दी-काव्य मे निर्गुण काव्य धारा, पृ० १४५
२– वही, पृ० १६४

परम्पराओं को आगे बढाया है । प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं निरंजन को काल-पुरुष माना है और उसी के द्वारा माया का उद्‌भव माना है । वे 'कबीरदास' मे कहते है:—"अब सृष्टि को पैदा करने के लिए काल-पुरुष (निरंजन) ने आद्य शक्तिया माया को उत्पन्न किया और उसके संयोग से सत्व-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण प्रधान विष्णु और तमोगुण-प्रधान शिव की सृष्टि । ज्यो ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए वह अन्तर्ध्यान होकर अपने लोक मे चला गया ।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण क्षर और अक्षर से परे काल पुरुष का ही विश्लेषण है ।

बडथ्वाल जी मे जहा यह चेतना पूर्णरूप मे विद्यमान थी वहा वे आधुनिक साहित्य के प्रति भी उदासीन नही थे । आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास की समीक्षाओं पर भी उन्होंने अपने आलोचनात्मक विचार व्यक्त किये थे । शुक्ल जी पर जो उन्होने उन दिनो कहा था, आज के कई आलोचक उन्ही की आवृत्ति करते हैं । वे लिखते है.—

"हिन्दी मे नवीन आलोचना का सूत्रपात तो उन्होंने ही किया है । आलोचना के क्षेत्र मे निर्णय दे देने भर की प्रवृत्ति को उन्होंने उतना प्रश्रय नही दिया, उन्होंने प्रधानता दी आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को । जिन परिस्थितियो मे कवि या लेखक का उदय हुआ, उसके मस्तिष्क का निर्माण हुआ, उसकी परिस्थितियों को रूपाकार मिला, पृष्ठभूमि के रूप मे उनका वर्णन करके उन्होने रचना के अंतरतम मे प्रवेश किया और उसकी बहुविध विशेषताए दिखलाई । इस प्रकार उन्होंने काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध मे वह परिस्थिति उपस्थित की जिसमे पाठक अपने आपको उस स्थिति मे अनुभव करें, जिस स्थिति मे अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया । यह समस्यानुभूति शुक्ल जी की विशेषताए है, जिसने उनकी तीव्र अन्तर्दृष्टि को वस्तुत. तथ्य-निरूपण मे समर्थ बनाया ।"

"हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद" मे उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई । प्रखरता ने उसमे सहानुभूति को थोड़ी देर के

१— कबीर, पृ० १५५

लिए एक ओर ढकेल दिया था। परन्तु बहुत समय तक यह बात नहीं रही और आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में भी वह सहानुभूति उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के नवीन संस्करण में पूर्ण रूप से प्रनिष्ठित दिखाई दे रही है।"[1]

हिन्दी में आलोचना की यह स्वस्थ शैली केवल हम स्वतन्त्रचेता हिन्दी-आलोचकों की समीक्षाओं में ही मिलती है। हिन्दी के वादग्रस्त आलोचकों ने तो आलोचना का स्वरूप ही विकृत कर दिया।

हिन्दी का यह श्रेष्ठ आलोचक जीवन के पैंतालीस बसंत भी नहीं देख सका, अन्यथा आज बड़थ्वाल जी द्वारा आलोचना के कई रीते क्षेत्र भर गए होते। वे चौवालीस वर्ष जीवित रहे—अपने लिए नहीं, हिन्दी के लिए। अपने अंतिम दिनों में जो उन्होंने हिन्दी के लिए कहा था वह स्मरणीय है—

"आज हिन्दी-साहित्य बहुत कुछ उन्नत हो चला है। उसमें एक से एक रत्न भरे हैं। इसके कई अंग भर आये हैं। साहित्य की कोई बारीकियाँ ऐसी नहीं जिन्हें हिन्दी अपने ढंग से व्यक्त न कर सके। फिर भी वह अपनी कमियों को जानती है। प्रगतिशील असन्तोष उसे अकर्मण्य बनाए हुए है, उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है। उसमें वह जीवन शक्ति है जिसमें आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ढलती विकसती वह अपने आदर्श लक्ष्य की ओर बिना रुकावट चली जा रही है।"[2]

यह एक आलोचना का सर्वेक्षण है जो किसी समाज, राजनीति तथा वाद में ग्रस्त नहीं है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य शुक्ल की परम्परा के आलोचक में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम अग्रणी है। वस्तुतः हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में कतिपय गवेषणाओं के अतिरिक्त विश्वनाथप्रसाद जी ने शुक्ल जी को उनकी वास्तविक परम्पराओं में ग्रहण किया है। उनके विश्लेषण उनकी आलोचनाएँ तथा टीकाएँ सभी परम्परावादी ही हैं। उन्होंने विशुद्ध रूप में साहित्यिक

१– हिन्दी के आलोचक, पृ० १३३–३४

२– हिन्दी के आलोचक, पृ० १४०

आलोचनाएं ही की हैं और अपने आलोचना के सिद्धान्तो का संस्कृति की व्यापक परिधि में रख कर उनका निर्माण नही किया है। मिश्र जी ने तो अपनी आलोचनाओ को विशुद्ध साहित्यिक रूप ही प्रदान किया है और साहित्य को सस्कृत काव्यशास्त्र की कसौटी पर परखने की चेष्टा की है। इसीलिए मैंने उन्हे अतीत की चेतना से अनुप्रेरित आलोचको मे ही उनकी गणना की। वे परम्परावादी है, इसीलिए वे अपने 'विहारी' मे ये पंक्तिया लिखते है:—" परम्परा-पालन से दोष भी होते है, पर परम्परा का पालन करने वाला अपने रूप की रक्षा भी करता है। वह प्रवाह मे वह नही जाता, हवा मे उडता नही, यह भी सत्य है।[1]

यही नही 'भूषण-ग्रंथावली' की विस्तृत भूमिका मे उनके परम्परावाद का हमे और भी विस्तृत परिचय मिलता है। उक्त भूमिका मे जहा उन्होने विस्तृत रूप मे भूषण के काव्य का तथा उस युग की ऐतिहासिक और साहित्यिक परिस्थितियो का अधिकृत विवेचन किया है, वही कतिपय सूत्रो मे उन्होने साहित्य पर अपने निर्णय दिए है। ये निर्णय उनके शुक्ल जी की परम्परा मे ही ठहरते है। वे लिखते है—"ससार मे दो प्रकार के काव्य विशेष रूप से स्थायी रह सकते है, एक भक्ति-काव्य, दूसरे वीर-काव्य।"[2]

किन्तु इसके अतिरिक्त प्रेम-काव्य भी स्थायी है, कुछ तो विशुद्ध रूप मे साहित्य प्रेम-काव्य है जिसमें भक्ति का, वीर-रस का कही भी हमे प्रतिपादन नही मिलता। अतीत के लिए तो ठीक था, भविष्य के लिए कहा तक उपयुक्त है, नही कहा जा सकता—इसका निर्णय तो इतिहास ही करेगा।

इस भाति वे उपर्युक्त पंक्तियो मे अपनी रुचि भी प्रकट कर देते है तथा शुक्ल जी की भाति भक्ति को और वीर रस को ही प्रधानता देते है। रीतिकाल मे भी उन्होने उसी प्रेम को प्रश्रय दिया है जो भक्ति-समन्वित हो। यही कारण है कि उन्होने पद्माकर, विहारी, घनानन्द आदि के उच्चकोटि के प्रेम सम्बन्धी पदो के स्थान पर सामान्य कोटि की भक्ति सम्बन्धी रचनाओ को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना।

'वाड्मय-विमर्श' के अतिरिक्त उन्होने लगभग अपना क्षेत्र जिसमें कि

१— 'विहारी', पृ० ९७
२— भूषण ग्रंथावली की भूमिका

उनकी प्रतिभा अपने पूर्णरूप में प्रस्फुटित हुई 'रीतिकाल' ही था। बिहारी पर उन्होंने दो कृतियों की रचनाएं की, 'बिहारी की वाग्विभूति' एवं 'बिहारी'-इसी भांति घनानद पर भी उन्होंने दो कृतियां लिखी घनानद कवित्त' और 'घनानद और आनद घन'। 'भूषण ग्रथावली' और 'सुदामा चरित' ये दोनो कृतियां भी रीतिकाल में ही आयेंगी। 'वीरगाथा काल' पर केवल 'हमीरहठ' है। भक्तिकाल में मिश्र जी ने केवल 'कवितावली' की ही भूमिका लिखी है 'गीतावली गुजर' तो एक खण्डित टीका के रूप में ही उनके द्वारा सम्पादित है। उनके मौलिक ग्रथों के रूप में तो 'वाङ्मय विमर्श' 'बिहारी की वाग्विभूति' और 'बिहारी' ही है।

'बिहारी' और 'बिहारी की वाग्विभूति आज बिहारी पर अधिकृत ग्रथ हैं, इन दोनो ग्रथों में मिलकर 'बिहारी का अध्ययन' पूर्णता को पहुच गया है और इनके पश्चात हिन्दी में इस विषय पर इससे अच्छा ग्रथ नहीं लिखा गया।

वाङ्मय विमर्श'में मिश्र जी ने बहुत ही विस्तृत क्षेत्र ले लिया, पिंगल, नाटक, रस, शास्त्र, पद्य, गद्य, भाव विधान सभी पर ही तो लिखा है। इतने विस्तृत क्षेत्र के विश्लेषण के लिए वस्तुत 'वाङ्मय विमर्श' का प्रस्तुत आकार-प्रकार अथवा उसका एक भाग आवश्यकता से अधिक अभावमूलक प्रतीत होता है। अत प्रत्येक विषय अत्यन्त सक्षेप में कहा गया है।

यों मिश्र जी ने शुक्ल जी से रस-विवेचन में कई स्थानों पर अपना मतभेद प्रकट किया है। वे शुक्ल जी की भांति भावों को अनुभावों के अन्तर्गत मानते हैं। इस साधारणीकरण में भी मिश्र जी ध्वनि के सिद्धांत से अपनी पूर्ण स्वीकृति प्रकट करते हैं। किन्तु इसमें वे प्रच्छन्न रूप से वस्तु का महत्व स्वीकार करके अप्रत्यक्ष रूप से शुक्ल जी का ही समर्थन करते हैं।[1] आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में उनके विचार शुक्ल जी के विचारों की भांति ही अधिक उदारवादी नहीं हैं। वस्तुत छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि वादों पर उन्होंने कभी अधिक चिन्तन नहीं किया। प्राचीन साहित्य का दोष वृत्ति और इससे भी अधिक उनके परम्परावादी दृष्टिकोण ने कदाचित उन्हें इस ओर ध्यान ही नहीं दिया और फलस्वरूप वे वर्तमान की चेतना से वंचित ही

1— देखिए—आचार्य शुक्ल [illegible] अध्याय

रहे, यही कारण है कि सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्न स्थितियों में भी उनका साहित्य के प्राचीन प्रतिमानों के प्रति अत्यधिक मोह दृष्टिगत होता है। प्रगतिवाद पर जो उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं वे उनका वर्तमान की सामाजिक चेतना के प्रति उदासीनता के ही द्योतक हैं।

"इसी प्रकार टेढ़े-सीधे मतों का सहारा लेकर प्रगति-प्रगति की भीषण पुकार मचाई जा रही है। ... साहित्य में साम्यवाद, समाजवाद आदि नवीन मतों को आधार मानकर चलना देश को चौपट करना तो है ही, साहित्य को भी अपभ्रष्ट कर देना है।"[1]

यह निश्चित है कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की आलोचनात्मक कृतियों में वर्तमान की चेतना का अभाव है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे आचार्य शुक्ल की भांति प्रत्येक वर्तमान उपलब्धि को प्राचीनता का उत्थान मानें। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अतीत की चेतना के कभी-कभी ऐसे पुजारी हो जाते थे कि सभी वर्तमान प्रवृत्तियों में अतीत को ढूंढने लगते थे। यही कारण है कि उन्होंने 'अभिव्यंजनावाद' को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कह दिया था। किन्तु शुक्ल जी के ऐसे पूर्वाग्रह युक्त वक्तव्यों का आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने बराबर विरोध किया है। वे लिखते हैं—"दूसरा विस्तृत विचार (अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति पर) स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो काशी विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक और अध्यक्ष थे, अपने उस अभिभाषण में किया है जो उन्होंने इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद के सभापति पद से किया था और जो उनके 'चिन्तामणि' ग्रंथ के द्वितीय भाग में 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के ही नाम से सगृहीत है। उसमें क्रोचे के मत का खंडन करते हुए उन्होंने 'अभिव्यंजनावाद को' 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान कहा है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के लिए यह बड़े गर्व की बात होती, यदि वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान अभिव्यंजनावाद होता। पर परमार्थतः वह स्थिति नहीं है।[2]

१— 'हिन्दी के आलोचक' पृ० १८१

२— वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, पृ० १३

यह आलोचक की तटस्थ दृष्टि है। जब मिश्र जी ने अपने अध्ययन मनन और गवेषणा से जो निष्कर्ष निकाले हैं वे प्रायः शास्त्र विदित ही होते हैं। शुक्ल जी का वुडवर्थ और मैक्डानेल आदि के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का अध्ययन था उन्होंने इनके सिद्धांतों के माध्यम से भारतीय रस-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र को व्याप्ति प्रदान की किन्तु इस सम्बन्ध में जो उनके निष्कर्ष होते थे वे रस शास्त्र के विरोध में नहीं गए। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र समस्त वादों से मुक्त हैं। अपने वास्तविक अर्थ में साहित्य पर कोई विचारधारा लादना नहीं चाहते। मैं एक आलोचक के लिए यह आवश्यक समझता हूँ कि उसके पास एक स्वस्थ जीवन-दर्शन हो, बिना इस स्वस्थ जीवन-दर्शन के वह अतीत और वर्तमान की साहित्यिक चेतना को अपनी कृतियों में समुचित व्याख्या नहीं कर सकता और न पाठकों और लेखकों को साहित्य की किसी स्वस्थ दिशा की ओर ही इंगित कर सकता है। हमारे प्राचीन काव्य शास्त्र के निर्माताओं के पास भी एक जीवन-दर्शन था। भरत से लेकर आचार्य वाजपेयी और डा० नगेन्द्र आदि के शास्त्रीय आलोचकों में एक स्वच्छ और स्वस्थ जीवन-दर्शन मिलेगा। यह जीवन-दर्शन ही है जो आलोचकों के दृष्टिकोण में एक स्थिरता लाता है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र केवल साहित्य के शास्त्रीय मूल्यों को ही प्राथमिकता देते हैं और यही उनके विश्लेषण की चरम अन्विति है। स्वतन्त्रचेता आलोचकों के लिए साहित्य को प्राथमिकता देना उनकी विशेषता रही है किन्तु न तो आचार्य वाजपेयी ने न डाक्टर नगेन्द्र ने और न हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने ही इस प्रकार के विश्लेषण को आलोचना की चरम अन्विति माना है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की क्षमताओं उनकी शोध मेधा तथा पैनी दृष्टि के प्रति किसी भी प्रकार सन्दिग्ध हूँ। 'घनानन्द' पर किये गये उनके शोध निम्बार्क सम्प्रदाय पर 'माधुर्य लहरी' में की गई उनकी दार्शनिक और साहित्यिक गवेषणायें बिहारी पर उनका सारपूर्ण विश्लेषण और उनकी भूषण ग्रन्थावली की भूमिका आदि हिन्दी के रम्य ग्रन्थ हैं जो उनकी मीमांसा में भी प्रथम कोटि के प्रयास में रखे जायेंगे।

मिश्र जी में आचार्यत्व है और उनकी अतलस्पर्शी मेधा, गवेषणा का

पाच दशाब्दी का अनुभव और एक आलोचक की प्रतिभा उनके सभी ग्रंथो मे विद्यमान है। किन्तु अध्ययन, वातावरण, संस्कार और मानस-निर्माण आदि भी किसी आलोचक के साहित्य के मूल्यों को निर्माण करने मे अपनी महत्व-पूर्ण भूमिका रखते है। आचार्य मिश्र जी इन्ही कारणो से आधुनिकता के प्रकाश मे प्राचीन साहित्य तथा अर्वाचीन को नही देख सके। उन्हे संस्कृत के साहित्यशास्त्र पर अगाध आस्था है, संस्कृत-शास्त्री द्वारा प्रदत्त साहित्य के प्रतिमानो को वे सर्वसर्वा मानते हैं और इन्ही के आधार पर भावी साहित्य का निर्माण मगलमय हो सकता है, इसी सूत्र मे अपनी आस्था प्रकट करते है। इन्ही के आधार पर नवीन विचारो का ग्रहण और परित्याग होना चाहिए। आचार्य जी ऐसा नही चाहते कि सर्वथा इस दिशा मे भी अतिवादी हो। जैसा कि कुछ लोग समझते है, वे लिखते है.— "हिन्दी मे यदि संस्कृत का यह साहित्य, शास्त्रीय वाङ्मय प्रस्तुत हो जाय और सरलतापूर्वक उसे समझने का प्रयास हो तो सत्यशील लोग उसका अवश्य स्वागत करेंगे। और विचारशील अवश्य उसमे नूतनता का समावेश और उसकी सामाजिकता का समय के अनुरूप विकास कर सकेंगे। हठधर्मियो की बात मै नही कहता। इसमे उन्हे ऐसी सुदृढ भूमि मिलेगी जिस पर रखकर वे भारतीय साहित्य का ही नही विश्व के साहित्य का अच्छा खासा, विचार-विवेचन कर सकेगे। यह मेरी धारणा है।"[1]

इस भाति आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपनी साहित्यिक विचार-णाओ मे पुरातनवादी होते हुए भी नवीनता की सर्वथा उपेक्षा नही करते। परम्परा से टूटकर अलग होने को वे आत्मविनाश ही मानते है। अन्य स्व-तन्त्रचेता आलोचको की भाति उनमे भी भारतीयता है, निश्चित ही यह कही-कही आवश्यकता से अधिक होने के कारण नए विचारो को ग्रहण करने मे अक्षम रहती है और कभी-कभी तटस्थ दृष्टिकोण का अतिक्रमण कर जाती है। मिश्र जी भी समन्वयवाद की बात कहते है किन्तु यह वर्तमान को अतीत की अग्नि मे जलकर अपनी सदेच्छा की तथा अपने खरेपन की परीक्षा देने के पश्चात् ही वे उसे अपनाने को तैयार हैं, अन्यथा नही।

वे यद्यपि यह नही कहते कि प्राचीन सर्वथा दोषरहित है, किन्तु उसका विकास तो सम्भव है, वह आगे तो बढ़ाया जा सकता है। वे कहते हैं:— "भारतीय आलोचना मे सदा नवीन उन्मेष होता रहा है। उसमे नये-

---

१– साहित्य-सन्देश, भाग १३, अक्टूबर–४-५, पृ० १९२

नये स्कूल निकलते रहे हैं और निकल सकते हैं, जो यह समझते हैं कि रसों की संख्या नौ ही है, जो यह समझते हैं कि अलंकारों का स्वरूप नियत है उन्हें भारतीय आलोचना का इतिहास देखना चाहिए। उन्हें पता चलेगा कि किस प्रकार उनकी संख्या बढ़ती रही है और किस प्रकार उनमें नवनता का समावेश होता रहा है। यह आलोचना आज भी काम की है। यदि सारे समाज को जैसा वह है वैसा ही उसे सामने रखकर प्रयोग करना है अथवा यदि उसमें किसी प्रकार का वैषम्य हो गया है और उसे बदलना है तो रस दृष्टि आज भी काम दे सकती है।'[1]

यह स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र भारतीय रसवाद को ही साहित्य का एकमेव प्रतिमान मानते हैं।

इनके अतिरिक्त स्वतन्त्रचेता आलोचकों में जो अतीत की चेतना लिए हुये हैं, उनमें सवश्री आचार्य सीताराम चतुर्वेदी प० वासुदेवशरण अग्रवाल परशुराम चतुर्वेदी, चन्द्रबली पांडे, डा० गोविन्द त्रिगुणायत आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आलोचकों की दृष्टि भी मूलतः भारतीय ही है और संस्कृत काव्य-सिद्धान्तों की परम्पराओं में ही इनके विचार ठहरते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये वर्तमान के नूतन परिवर्तनों के प्रति उदासीन हों। ये नवीन युग के प्रति भी जागरूक हैं तथा इन्होंने प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य का नवीनता के प्रकाश में ही मूल्यांकन किया है।

इनके अतिरिक्त कतिपय आलोचक ऐसे हैं जो वादों से भी बंधे रहने पर उन्होंने विशुद्ध शोध-स्वरूप कतिपय महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ लिखे हैं। इन आलोचकों में सवश्री डा० रांगेयराघव, डा० धर्मवीर भारती आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वस्तुतः आज के आलोचक इसी दिशा की ओर अग्रसर हो रहे हैं। साहित्य का आलोचक वादों से मुक्त होना चाहिए, वाद साहित्य के विकास में सहायक न होकर बाधक ही होते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसके अपने विचार स्पष्ट न हों, उसका स्वयं का जीवन-दर्शन उसकी अपनी राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक धारणायें और विश्वास अत्यधिक प्रौढ़ और परिपक्व होना चाहिये तभी वह किसी साहित्य का समुचित मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकता है।

१– *साहित्य सन्देश, भाग १३, अक्टूबर—४५, पृ० १९२*

१०

शुक्लोत्तर शास्त्रीय आलोचना

हिन्दी मे आचार्य हेमचन्द्र से लेकर डा० नगेन्द्र तक शास्त्रीय आलोचना की परम्परा रही है। यह परम्परा मूलत संस्कृत काव्य-शास्त्र से ही अनुप्राणित है अथवा यो कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र इतना पूर्ण था कि देश मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न भाषाओ ने संस्कृत काव्य-शास्त्र को ही अपनाया और इसे ही साहित्य की कसौटी समझा। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्याप्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है.—"भारत मे साहित्य-शास्त्र या आलोचना का जो कुछ विचार हुआ है वह संस्कृत भाषा मे ही। आलोचना का विचार न प्राकृत मे है और न अपभ्रंश मे, न देशी भाषाओ हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि मे। साम्प्रतिक साहित्य में जो आलोचना का विचार होता है वह या तो संस्कृत साहित्य का आधार लेकर या पश्चिमी अंग्रेजी भाषा के साहित्य-शास्त्र का अवलम्बन करके।"[1]

संस्कृत काव्य-शास्त्र की इस व्याप्ति पर अपनी अगाध आस्था व्यक्त करते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि हिन्दी मे स्वतंत्र रूप से विचार करने की परम्परा अभी तक स्थापित ही नही हुई है।[2] वस्तुत. ऐसी बात

१– साहित्य सन्देश नव०, भाग १३, अंक ४–५

२– वही

नहीं है, हिन्दी मे भी इसकी एक परम्परा रही है, फिर भले ही यह परम्परा मौलिक न हो, सब कुछ सस्कृत का ही हो। किन्तु जहा आज की बात कही जाती है वहा आचाय मिश्र जी का यह तक नितान्त असगत सा प्रतीत होता है।

सस्कृत म जहा सिद्धान्त-चर्चा की बात है वह अपन पुष्कल परिमाण म विद्यमान है और व्याख्यात्मक आलोचना के नाम पर सस्कृत म आचाय शुक्ल द्वारा लिखित तुलसीदास की कोटि की कृतिया की बात तो दूर कोई सामान्य व्याख्यात्मक कोटि की कृति भी सस्कृत-साहित्य म उपलब्ध नही है। और फिर रीतिकाल म तो सस्कृत काव्य शास्त्र की ओर हिन्दी वालो का ध्यान अत्यधिक रूप स गया और उन्होने उसका उपयोग और व्याख्या अपन ढग स की। निश्चित ही उसम सस्कृत काव्य-शास्त्र सा वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं था, आचार्यों की वैसी अतल-स्पर्शी मेधा नही थी, किन्तु फिर भी इस दिशा म उन्होंने कई महत्वपूण काय किए और आलोचना क प्रति साहित्यकारो को जाग्रत किया। आचाय शुक्ल जो कि रीतिकाल क विरोधी थे और सस्कृत साहित्य क अनन्य आराधक थे उन्होने भी इस दिशा म रीतिकाल क प्रयत्नो की सराहना की है।

इन रीति-ग्रथो के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यागों का शास्त्रीय पद्धति निरूपण करना। अत उनक द्वार बडा भारी काय यह हुआ कि रसो (विशेषत शृङ्गार रस) और अलकारो क बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण म प्रस्तुत हुए।[1]

इस भाति हिन्दी मे सस्कृत काव्य-शास्त्र का अध्ययन, मनन और व्यवहार अपन ढग पर हुआ है। टीकाए और भाष्यो की परम्परा सवथा लुप्त हो चुकी है। रचना का मूल्याकन केवल वस्तु और शिल्प की विशिष्टताओ क आधार पर उसक विभिन्न अथ निकालना न होकर रचना का पाठक पर सम्यक प्रभाव एव कृति और कृतिकार क आपसी सम्बन्धो का लेकर युगीन परिस्थितियो क पाश्व मे उनका वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

१—(हि० सा० इ०, पृ० २६३

शुक्ल जी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्याप्ति प्रदान की तथा रीतिकाल के रूढ़िवादी प्रतिमानों से साहित्य को मुक्ति दिलवाई। 'चिन्तामणि' तथा 'रस-मीमांसा' में आलोचना का उनका शास्त्रीय स्वरूप प्रकट होता है। शुक्ल जी ने रस-मीमांसा के निवन्ध सन् १९२२ के लगभग लिखे थे। रस-मीमांसा की भूमिका में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखते हैं:—"आचार्य शुक्ल ने सन् १९२२ के आस-पास काव्य-मीमांसा के लिए कुछ निवन्ध लिखे थे, जो पृथक-पृथक शीर्षकों में लिखे गये थे, पर परस्पर सम्बद्ध थे।"[1]

किन्तु ऐसा लगता है कि शुक्ल जी ने इनके कुछ अंशों का उपयोग अपने विभिन्न ग्रंथों, 'चिन्तामणि' दूसरा भाग, 'चिन्तामणि' पहला भाग, 'पद्मावत की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि ग्रंथों में कर लिया था।

रस-मीमांसा सन् १९४९ के लगभग पुस्तकाकार रूप में पाठकों के सम्मुख आई। इसमें प्रथम बार शुक्ल जी ने रस को लौकिक स्वरूप प्रदान किया। शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस की लौकिकता आज सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया है। शुक्ल जी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त को ही प्राथमिकता दी। वे भारतीय रस-शास्त्रियों की भांति रस को 'वेद्यांतर', 'स्पर्श-शून्य' न मान कर उसकी विभिन्न कोटियां मानते हैं। कई स्थानों पर उन्होंने 'पूरी और सच्ची' रसानुभूति की बात कही है।

"अतः काव्य केवल भाव-प्रधान ही होगा, विभाव विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में नहीं होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रधान ही रहेगा, उसका विभाव–पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के विना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।"[2]

इसी भांति भाव के विभाजन में भी शुक्ल जी इतर रस-शास्त्रियों से

१– रस-मीमांसा, भूमिका, पृ० ४
२– रस-मीमांसा, पृ० २६७

अपना मतभेद प्रकट करते हैं। संस्कृत काव्य शास्त्रियों के भाव को दो भागों में विभक्त किया है,–अस्थायी (भाव) एवं स्थायी तथा इन्होंने 'स्थायी भाव' और 'रस' दो अलग-अलग दशाएं मानी हैं। शुक्ल जी 'भाव' की तीन स्थितियां मानते हैं– (१) भाव-दशा (२) स्थायी दशा तथा (३) शील दशा। शुक्ल जी इसी शील दशा को 'प्रथम कोटि की अनुभूति' मानते हैं। वस्तुतः शुक्ल जी की यह तीसरी दशा अतिरिक्त सी ही जान पड़ती है और यह उनकी नीतिवादिता का ही कारण है।

शुक्ल जी साधारणीकरण में भाव के विषय के सामान्य तत्व पर ही जोर देते हैं चाहे कवि भले ही विशेष का चित्रण क्यों न करता हो।

शुक्ल जी के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विचार उनकी 'चिन्तामणि' भाग १ और २ में प्रकाशित हो चुके थे। अतः रसशास्त्र को नवीन दृष्टि प्रदान करने का श्रेय हमें आचार्य शुक्ल को ही देना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में जितने भी अधिकृत ग्रंथ लिखे गये वे आचार्य शुक्ल के चिन्तामणि के प्रकाश में आने के पश्चात् ही लिखे गए। लाला भगवानदीन की अलंकार मंजूषा और 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' अर्जुनदास केडिया की भारती भूषण' आदि ग्रंथ मूलतः अलंकारों पर हैं और उनमें काव्य के समस्त अंगोपांगों का विश्लेषण न होकर केवल रीतिकाल की परम्परानुसार ही है। इन लेखकों की प्रवृत्ति विशेषतः अलंकारों के विभाजन की ओर ही अधिक रही है। और फिर इन अलंकारों का विवेचन भी संस्कृत अलंकार-शास्त्र के अनुसार ही हुआ है हां उदाहरण अवश्य नए प्रस्तुत कर दिए गए हैं, किसी अलंकार विशेष को तोड़-मरोड़कर उसी में कोई नया अलंकार बना लिया है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अवश्य अपने 'कल्प-द्रुम' में रस की चर्चा की है और बाद में इसी 'कल्प-द्रुम' का कुछ संवर्द्धन करके इसे दो भागों में 'अलंकार मंजरी' और 'रस मंजरी' के नाम से विभक्त कर दिया है। 'अलंकार मंजरी' निश्चित ही अलंकारों के ऊपर हिंदी में एक उत्कृष्ट ग्रंथ है और उसमें संस्कृत के समस्त आचार्यों के अलंकार सम्बन्धी निष्कर्ष का समावेश हो जाता है किन्तु जहां रस का सम्बन्ध है पोद्दार जी रीतिकाल आगे नहीं बढ़ पाए, उनकी अलंकार वाली विभाजन पद्धति यहां भी देखने को न मिलेगी। इस ग्रंथ में समस्त लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्रानुसार ही हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है पोद्दार जी का रस-विवेचन भी रीतिकाल से मुक्त

६

नहीं मिल सकी। फलस्वरूप नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि को पर्याप्त स्थान दिया गया है। पोद्दार जी ने शब्द-शक्ति पर भी प्रकाश डाला है किन्तु उसमें कहीं नूतनता का समावेश नहीं है और उसे रस से अनुस्यूत करके नहीं देखा गया है। रसों का सोदाहरण विवेचन विस्तार से किया गया है। विप्रलम्भ पर तो इस ग्रंथ में पृष्ठ पर पृष्ठ देखने को मिलेंगे। उदाहरणों की भरमार है किन्तु इन रसों की गुलाबराय जी जैसी मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं की गई है। साधारणीकरण पर केवल विभिन्न संस्कृत-आचार्यों के मतों का सकलन मात्र है, पोद्दार जी इस विषय में अपना मत देने का साहस नहीं कर सके। अभिनव गुप्तपादाचार्य के सिद्धान्त के बारे में वे लिखते हैं—"अभिनवगुप्ताचार्य आदि के अनुसार साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं है, किन्तु व्यंजना का अलौकिक विभावन व्यापार है।"[1]

इस प्रकार के मत संकलन कई स्थानों पर भरे हुए मिलेंगे।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि पोद्दार जी का यह ग्रंथ निरा पारम्परिक है। रस पर हिन्दी में पहली बार किसी ने अपने सम सामयिक साहित्य को परखा है तो वे पोद्दार जी ही थे। उन्होंने रस के समस्त पहलुओं पर विचार किया है। यद्यपि ऐतिहासिक परम्परा के कारण पोद्दार जी की विवेचना में प्रौढ़ता और सूक्ष्म विश्लेषण का अभाव सा प्रतीत होता है और जिसके कारण उसमें युगीन साहित्य की समस्याओं का समावेश नहीं हो पाया है। फलस्वरूप आज पोद्दार जी की यह कृति इतिहास की वस्तु ही बनकर रह गई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से रस पर और भी कई पुस्तकें लिखी गईं, कई लेख प्रकाशित हुए जैसे मिश्र बन्धु की 'साहित्य पारिजात' बिहारीलाल भट्ट की 'साहित्य सागर', पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई की भूमिका', 'पद्म पराग', कृष्णबिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रंथावली की भूमिका', 'नवरसतरंग की भूमिका', देव और बिहारी, हरिऔध जी का 'रस-कलश' आदि। इन ग्रंथों में से कई में शास्त्रीय आलोचना को विकास की ओर ले जाने के बड़े अच्छे प्रयास हैं किन्तु अधिकतर पारम्परिक हैं। उनमें नवीन चिन्तन का बहुत थोड़ा समावेश दृष्टिगत होगा।

१— रस मंजरी, पृ० १०३

बाबू गुलाबराय

शास्त्रीय समालोचकों में बाबू गुलाबराय जी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने प्रथम ग्रंथ 'रस कलश' में ही हिन्दी के रस शास्त्र को पाश्चात्य मनोविज्ञान के समकक्ष लाकर आसीन कर दिया। गुलाबराय जी का यह कार्य निश्चित ही एक ऐतिहासिक कार्य है। उन्होंने यह कार्य सम्पन्न कर भावी आलोचकों का मार्ग प्रशस्त किया और इस ओर संकेत किया कि रस शास्त्र अपने आप में पूर्ण होते हुए भी इस विश्लेषण के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति ही अपनानी होगी। किन्तु मनोविज्ञान का उन्होंने विश्लेषण पद्धति स्वरूप ही ग्रहण किया है, वह साधन ही है साध्य नहीं। बाबू जी का विश्लेषण का आधार भारतीय काव्य शास्त्र ही है अतः उन्होंने कहीं भी पाश्चात्य कलावादियों के सिद्धान्तों की पुष्टि नहीं की है।

गुलाबराय जी मनोविज्ञान के पंडित हैं, उनकी मनोविज्ञान और भारतीय रस शास्त्र दोनों में समान रूप से पहुंच है अतः अन्तःप्रवृत्तियों संवेगों, अनुभावों, भावनाओं तथा मनोविज्ञान की अन्य शब्दावलियों का उन्होंने काव्य शास्त्र की शब्दावली के समकक्ष रखा। वस्तुतः स्थायी भाव और Instincts पर्याय न होकर गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों रूप में एक दूसरे से भिन्नता लिए हुए हैं और फिर आज के विकसित दृश्य मनोविज्ञान (Phynomenology) के अनुसार जो जन्मजात प्रवृत्तियों के अस्तित्व पर ही इन मनोवैज्ञानिकों ने प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। बाबू जी ने जिस प्रारम्भिक मनोविज्ञान का सहारा रस शास्त्र को दिया है, उसके विकसित स्वरूप के वजन के कारण यह सहारा ही टूट जाता है। मनोविज्ञान का विकसित स्वरूप हम आगे चलकर डा० नगेन्द्र की आलोचना में मिलता है। जिसमें रस-शास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान दोनों होड़ लेते से दृष्टिगत होते हैं। गुलाबराय जी मनोविश्लेषणवादियों की एक मोटी धारणा को शृंगार रस में अनुस्यूत करते हैं। यथा — "कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्त्री व पुरुषों में कामेच्छा का आधिक्य मस्तिष्क की एक बीमारी के कारण होता है। पुरुषों में यह बीमारी Satyriasis (सटीरिएसिस) तथा स्त्रियों में Nynphomania (निम्फोमेनिया) अर्थात् कामोन्माद कहलाती है।"[1]

१– नव रस, पृ० १९०

मनोविश्लेषणवादी व्याधियों से काम का उद्रेक मानते हैं किन्तु हमारे यहाँ शृंगार का स्थायी भाव रति में आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त वर्णित काम का स्वरूप विद्यमान हो। रस-शास्त्र में तो शृंगार की अन्तिम परिणिति सत्व के उद्रेक में ही होती है काम का उद्रेक तो भले ही साधन-रूप में काम में आ जाये।

वस्तुतः मनोविश्लेषणशास्त्र रस-शास्त्र के कोटि का शास्त्र न होकर उपचार के लिए बना हुआ शास्त्र है, बाबू जी इस पर व्यर्थ में बार-बार ज़ोर देते हुए प्रतीत होते हैं। रस की सृष्टि और उसका उपभोग स्वस्थ मन वाला व्यक्ति ही कर सकता है। 'सात्विक भावों का वैज्ञानिक विवरण' में गुलाबराय जी ने शरीर विज्ञान में लेकर मनोविज्ञान के Perception और Sensation के अध्याय रख दिये हैं जिनका रस-शास्त्र से बहुत थोड़ा केवल संचारी भाव और उद्दीपन के सन्दर्भ में ही सम्बन्ध आता है।

मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रभाव में आकर अथवा रीतिकाल का प्रभाव समाप्त न होने के कारण बाबू जी ने शृङ्गार-रस की अधिक विस्तार से चर्चा की है जो आनुपातिक दृष्टि से अधिक समीचीन नहीं जान पड़ती यही नहीं उन्होंने षड्ऋतु, नखशिख और नायिका-भेद जो इस काल तक आकर मात्र साहित्य के इतिहास की वस्तु रह गये हैं उनको भी अपने इस इतिहास में पर्याप्त रूप से महत्व दिया है।

गुलाबराय जी ने अपने इस ६३४ पृष्ठ के बृहत् ग्रन्थ में रस के समस्त पक्षों पर विचार किया है और उसे सर्वांग बनाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में यह पहला ग्रंथ था जिसमें कि भारतीय साहित्यशास्त्र की सामाजिक मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया था। 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप', : 'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबू जी का शास्त्रीय विश्लेषण अधिक प्रौढ़ और गम्भीर है। 'नवरस' जैसा 'मनोविज्ञान और भारतीय रसशास्त्र उसमें अलग-अलग नहीं दिखाई देते। इसमें उनके विचारों की परिधि विस्तीर्ण हुई है और उन्होंने साहित्य की नवीन समस्याओं में अधिक रुचि प्रकट की है।' यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण कहीं भी अतिवादी नहीं मिलता। जहां वे बहिर्मुखी हैं वहां सौन्दर्य की आन्तरिकता को भी पर्याप्त रूप से प्रधानता देते हैं। रस को सत्य, शिव और सौन्दर्य से अनुस्यूत कर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि काव्य के ये मूल प्रतिमान

अन्तरावलम्बित हैं, इनमें पथकता कहीं भी दृष्टिगत नहीं होगी।

"सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीचु' यह भी उपयोगिता का ही रूप है। इसी के साथ सौन्दर्य का विपरीयत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौन्दर्य का प्रभाव भी विपर्यय पर हो पड़ता है इसलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।"

"सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य शिव और सुन्दर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं।"[1]

अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबू जी ने साहित्य के शास्त्रीय पक्ष से लेकर उसकी आधुनिक विशिष्टताओं तथा साहित्य में प्रचलित विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। बाबू जी को हमने स्वतन्त्रचेता आलोचकों की श्रेणी में रखा है, अतः उनके चिन्तन में हमें कहीं भी पूर्वाग्रह और हठवादिता के दर्शन नहीं होते।

वे साधारणीकरण के सिद्धान्त में भी रससृष्टा, रसभोक्ता और वस्तु तीनों का समन्वय करके चलते हैं।[2]

इसी भांति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में भी वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते।

बाबू जी मनोविज्ञान और दर्शन के विद्वान हैं, अतः उनकी दृष्टि कई स्थानों पर विषय के विश्लेषण पर न जाकर विभाजन की ओर ही अधिक जाती है। यह प्रवृत्ति उनके 'नवरस' से लेकर 'काव्य के रूप' तक में विद्यमान है। 'गीत और प्रगीत', 'प्रगीत और इतिवृत्त', 'लोक गीत और साहित्यिक गीत' आदि उन्होंने साहित्य को विभिन्न विधाओं में तो बांट दिया है किन्तु उनका जैसा—बाबू जी जैसे मनोवैज्ञानिक और सुलझे हुए आलोचक से विश्लेषण अपेक्षित था, हमें दृष्टिगत नहीं होता। 'काव्य के रूप' में यह

१— सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ८२-८३

२— सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७२-७३

उथलापन कई स्थानो पर मिलता है। दु:खान्त नाटको के सैद्धान्तिक पक्ष का विश्लेषण अत्यन्त सतही है और उसमे बाबू जी की वह मनोवैज्ञानिक पैठ नही मिलती जो हमें कई स्थलो पर 'सिद्धान्त और अध्ययन' में मिलती है। उनकी भारतीय नाटको के बारे में जो धारणाएँ है वह सर्वथा अस्पष्ट है अत: जो वे सुखान्त और दु:खान्त नाटको की चर्चा करते है वह भी एक धुंधली सी और अतार्किक सी ही जान पडती है। वे लिखते है—

"दु:खान्त नाटक (ट्रेजेडी) का मूल अर्थ गम्भीरता प्रधान (सीरियस) नाटक था। दुखान्त नाटको में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमे सुखान्त नाटको की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार ही सुख है। सुखान्त नाटको मे ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जागरित हो सकते है किन्तु दु:ख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पडता है, इसलिए हमारे यहां दु:खान्त नाटक होते हैं, सुखान्त नही।"[१]

सामंजस्य सदैव हितकर नही होता। आचार्य शुक्ल ने भारतीय रस-शास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान का समन्वय किया, किन्तु समन्वयवाद का जो अद्भुत कौशल शुक्ल जी मे था वैसा बाबू जी मे नही है। बाबू जी मे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनो इकाई बनकर नही आते, उनके सिद्धान्तो मे दोनो की पृथकता अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

बाबू गुलाबराय जी के अतिरिक्त इस पद्धति के तीन आलोचको पर सहज ही हमारी दृष्टि जाती है। ये आलोचक है, डा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामदीन मिश्र और पं० केशवप्रसाद मिश्र। यद्यपि अन्तिम नाम कम महत्व का है किन्तु इसके उपरान्त भी मिश्र जी की 'मेघदूत' की भूमिका मे जो रस के लिए अनिवार्य भूमि 'मधुमती भूमिका' पर विचार किया गया है वह हिन्दी मे अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। मिश्र जी के पश्चात् ही बाबू गुलाबराय जी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे हमे इस 'मधुमती भूमिका' के दर्शन होते हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' भी हिन्दी आलोचना के इतिहास मे अपना एक विशेष महत्व रखता है और फिर उस समय जब कि

१— काव्य के रूप, पृ० ३८-३९

हिन्दी के पास सैद्धान्तिक आलोचना पर कोई ग्रंथ नहीं हो। आलाच्य ग्रथ म साहित्य की प्राय सभी विधाओ का विश्लेषण किया है। और सस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य के सहज प्राप्य आलोचना ग्रन्थो का विपुल रूप में उपयोग किया है। साहित्यालोचन का सारा रचना विधान अंग्रेजी की हडसन द्वारा रचित लोकप्रिय पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन ट द स्टडी आफ लिटरेचर' से गहीत है। यही नहीं कि उसका रचना विधान ही केवल लिया गया हो अपितु काव्य और साहित्य, कविता शली उपन्यास, आलोचना आदि के कितने ही अश उपयुक्त कथित अंग्रेजी ग्रन्थ के अविकल अनुवाद हैं। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल 'साहित्यालोचन को मौलिक कृति नहीं मानते थे और उसे सकलन ही समझते थ व लिखते हैं—

"बाबू साहब न बडा भारी काम लेखको के लिए सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिन्दी पुस्तको की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास कवियो के चरित्र और उन पर प्रबन्ध आदि लिखने का बहुत सा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी के नये पुराने लेखको के सक्षिप्त जीवनवृत्त हिन्दी कोविद रत्नमाला के दो भागो म आपने सग्रहीत की है। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें 'भाषा विज्ञान', 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' भी आपने लिखी या सकलित की है।"[1]

किन्तु वस्तुत जिस सीमा तक आचार्य शुक्ल न बाबू साहब को दोषी ठहराया है, वे उतने नहीं हैं। हिन्दी-आलोचना को उसके उषा काल म परखें तो यह भी स्पष्ट हो जायगा कि 'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' जैसे (जो कि एक तो 'इ ट्रोडक्शन ट द स्टडी आफ लिटरेचर' के एक ग्रन्थ का और दूसरा सस्कृत के 'दशरूपकम' का भावानुवाद है) ग्रन्थ भी अत्यधिक उपयोगी थ और फिर 'साहित्यालोचन' की भूमिका म उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"सबसे पहले मैने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तको का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली भांति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियो को पहले आलोचना के तत्वों का

१— हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५७४

आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाये। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया। और सम्पूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था।[1]

बाबू श्यामसुन्दर दास जी का उपर्युक्त वक्तव्य पढ़ने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि 'साहित्यालोचन' के रूप में बाबू साहब ने मौलिक ग्रंथ लिखने को नहीं सोचा था, वह विद्यार्थियों के लिए लिखी गई पुस्तक ही है।

आगे उन्होंने उसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है.—

"इस ग्रंथ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से ही काम लिया है।"[2]

वास्तव में यह वक्तव्य 'साहित्यालोचन' के ऊपर ही लागू नहीं होता अपितु उनकी चारों महत्वपूर्ण कृतियों पर समान रूप से लागू होता है। हम बाबू जी द्वारा लिखित चारों ग्रंथ 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'भाषा विज्ञान', 'रूपक रहस्य' और 'साहित्यालोचन' को ऐतिहासिक रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं और उनकी उन कृतियों की मौलिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाने के उपरान्त भी यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में कदाचित् ही कोई आलोचक मिले जो बाबू जी के उपर्युक्त भागीरथ प्रयत्नों की प्रशंसा नहीं करें।

हिन्दी के शास्त्रीय आलोचकों में प० रामदीन मिश्र का नाम अग्रणी है। आज के कितने ही पल्लव-ग्राही आलोचकों के लिए मिश्र जी एक चुनौती हैं। पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य का ऐसा प्रगाढ़ अध्ययन हिन्दी में कितने आलोचकों को है? तो आज भी इसका उत्तर निश्चित है हिन्दी का कोई भी सुधी पाठक कदाचित् ही दो अंकों की संख्या में दे।

अपने 'काव्य दर्पण' के आत्म निवेदन में वे लिखते हैं:—"साहित्य को

१— 'साहित्यालोचन की भूमिका'
२— वही,

सम्यक रूप से हृदयगम करने के लिए वतमान हिन्दी साहित्य की सूक्ष्म समीक्षा करके नये काव्यशास्त्र या अलकारशास्त्र (Poetics) का निर्माण होना चाहिए, तुलनात्मक दृष्टि स काव्य-शास्त्र का नया प्रति सस्कार होना चाहिए।"[1]

उपयुक्त लक्ष्य को ध्यान म रखकर ही सव प्रथम मिश्र जी न 'काव्यालोक' नाम का ग्रथ पाच खडो म प्रकाशित करन की योजना बनाई थी। 'काव्यालोक' का द्वितीय उद्योत प्रकाशित भी हो चुका था, किन्तु उन्ही के शब्दो मे—"प्रथम उद्योत छप रहा है अन्य उद्योत भी प्राय प्रस्तुत हैं पर कई कारणो स इनके छपन म विलम्ब प्रतीत होता है। इधर रोगाक्रान्त शरीर जजर हो गया है। आखो की ज्योति भी विदा मागने लगी है। अत मन म विचार आया कि काव्य प्रकाश साहित्य दपण' जैसा पाँचो उद्योतो का साराश लेकर एक ग्रथ प्रस्तुत किया जाये जिसम काव्यशास्त्र की सारी नवीन बातें, नवीन विचारो और नवीन उदाहरणो क साथ आ जायें। उसी विचार का परिणाम यह काव्य दपण है।"[2]

वस्तुत 'काव्य दपण' म साहित्य के पाश्चात्य और पौरस्त्य सिद्धान्तो का विस्तार से विश्लेषण करन का भगीरथ प्रयत्न है। किन्तु इस प्रयत्न स जो निष्कष और निणय निकले हैं वे आयास जनित हैं, उनम मिश्र जी का पूर्वाग्रह स्पष्ट है और इस पूर्वाग्रह क साथ-साथ उनके सम्पूण ग्रन्थ मे कदाचित ही कोई एसा स्थल मिलेगा जहाँ काव्य के पाश्चात्य और पौरस्त्य सिद्धान्त अपना अलग स अस्तित्व न रखकर किसी मिलन-बिन्दु पर खडे हो गये हों। विद्वता समग्र है। किन्तु विद्वता और समीक्षा शक्ति दोना पर्याय तो नहीं। काव्य क्या है? 'दपण' की पाचवी छाया मे पडितराज जगन्नाथ, भामह, शुक्ल, रस्किन आदि आचार्यो क मतो का उदधत करने क पश्चात जो हम आलोचक स अपेक्षा करत हैं— वे अपेक्षित शब्द य हैं — "नवीन कलाकारो के लक्षणो का अन्त नही, जितने मुह उतनी बातें। कहना चाहिये कि अब तक कविता की कोई एसी परिभाषा न बन सकी जो तक-वितर्क स शून्य हो।"[3]

१— काव्य दपण, आरम निवेदन
२— वही,
३— काव्य दपण, पृ० १२

मिश्र जी ने नवीन कलाकारों के विचारों का थोड़ा भी विश्लेषण नहीं किया। तर्कशास्त्र का सिद्धान्त है जहाँ कोई वस्तु अथवा उसकी कोई प्रक्रिया परिभाषा में न बच सके तो उसका विश्लेषण तो किया ही जा सकता है। प्राचीन कलाकारों के मतों के साथ-साथ यदि मिश्र जी कुछ नवीन कलाकारों के मतों का देश और काल के प्रकाश में विश्लेषण करते तो कदाचित् फिर उन्हें नवीन और प्राचीन ऐसी विभाजन रेखा नहीं खींचनी पड़ती।

मिश्र जी ने रस और साधारणीकरण पर लिखते हुए उसका पारम्परिक विश्लेषण ही किया है, जो संस्कृत ग्रंथों में विपुल परिमाण में प्राप्त है। अतः उनका यह 'आत्म निवेदन' दम्भ की सीमा तक पहुँचा हुआ लगता है। प्राचीन विषय को नवीन शब्दावली में नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न है।

दृष्टिकोण तो नवीन नहीं है, हाँ शब्दावली अवश्य नवीन है। जहाँ तक तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रश्न है वहाँ अंग्रेजी साहित्य के आनन्दवादी सिद्धान्त (Pleasure Principle) की तो कहीं चर्चा ही नहीं है।

भारतीय रस-सिद्धान्त पर मिश्र जी के 'काव्य-दर्पण' के प्रकाशन के पूर्व डा० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'प्रतीक' 'साहित्य-सन्देश' और 'हंस' में लिख चुके थे जिनका कि संकलन 'विचार और विवेचन' में है।

किन्तु उपर्युक्त कथन का तात्पर्य किसी भी भाँति इस ग्रंथ की महत्ता कम करना नहीं है। आज पन्द्रह वर्ष पश्चात् भी इसकी महत्ता उतनी ही है जितनी कि सन् १९४७ में थी। आज भी हिन्दी में काव्य-दर्पण की कोटि का ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें संस्कृत के समस्त काव्य-सिद्धान्तों का एक ही स्थल पर नवीन शब्दावली में ऐसा सम्यक् विश्लेषण प्राप्त हो।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में प० बलदेव उपाध्याय द्वारा रचित 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' भी अपना एक विशेष स्थान रखता है। 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' दो भागों में लिखा गया है। यों तो इसके पूर्व भी भारतीय साहित्य-शास्त्र पर कुछ ग्रंथ प्रकाश में आये हैं और उनमें संस्कृत के काव्य-शास्त्रों की व्याख्यायें करने का एक उपयोगी प्रयत्न किया गया है किन्तु उपाध्याय जी द्वारा लिखा हुआ 'भारतीय काव्य-शास्त्र' अध्ययन, मनन

और विश्लेषण की दृष्टि से—अपनी मौलिक व्याख्या के कारण अत्यधिक महत्व रखता है। उपाध्याय जी के इस ग्रंथ मे संस्कृत काव्य शास्त्र के विकासमान इतिहास का पहली बार आकलन हुआ है। इसके पूर्व हिन्दी के समीक्षक यह समझते आ रहे हैं कि रीति, वृत्ति, औचित्य, वक्रोक्ति आदि के विचारक अपने आप में स्वतन्त्र विचारक रहे हैं और उनका विकास सरणिगत अथवा इतिहासगत नहीं है।

हमारे यहा रस को लेकर पाश्चात्य समीक्षा से प्रभावित आलोचकों ने प्राय इस प्रकार की उपपत्तिया की हैं कि भारतीय समीक्षा में शिल्प के प्रति एक उदासीनता रही है और लक्षण और व्यंजना को हमने अभी-अभी छायावादी युग जिसका कि मोटे रूप में सारा का सारा शिल्प पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के रोमाण्टिसिज्म से प्रभावित है ग्रहण किया है। किन्तु वस्तुत बात ऐसी नहीं है। उपाध्याय जी ने वक्रोक्ति का क्रमिक विकास बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि वास्तव मे हमारे यहाँ पाश्चात्य साहित्य की भांति काव्य वस्तु और उसका परिवेश दो भिन्न-भिन्न वस्तु न होते हुए एक दूसरे के पूरक हैं। हमारे यहा अभिव्यजना शक्ति पर भी उतना ही व्यापक अनुशीलन हुआ है जितना कि काव्य की आत्मा पर। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस ग्रंथ के प्राक्कथन में इस विषय पर चर्चा करते हुए लिखते हैं —

'आधुनिक काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों और अभिव्यजना की बहुलता है, यह पश्चिमी साहित्य शास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव है। बहुत दिनो तक कुछ नये लोग यही समझते थे कि अभिव्यजना की नूतन पद्धति और उसका शास्त्रीय विचार पश्चिम की बहुत बड़ी देन है। पर अब लोग भली भाँति जान गए हैं कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे भी बहुत पहले वक्रोक्ति के नाम से इस विषय की विस्तृत और व्यवस्थित चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत ग्रंथ में ऐतिहासिक, समीक्षात्मक और तुलनात्मक शैली से विषय का निरूपण किया गया है।"[1]

वास्तव मे हिंदी मे वक्रोक्ति पर अधिकारी वाणी में इससे उत्कृष्ट अन्यत्र कम मिलता है यो तो विद्वानो मे इस विषय पर श्री रामनरेश वर्मा एम० ए० रचित 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' की भी पर्याप्त चर्चा है किन्तु

१— भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० २–४

इतना कहना ही उत्तम है कि ऊपर के ग्रंथ की चर्चा वे ही करेंगे जिन्होंने कि पहले का दूसरे में तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया हो अन्यथा वर्मा जी को उपाध्याय जी के इस ग्रथ के लिये ऋणी होना चाहिए। कभी-कभी तो यह भी सदेह होने लगता है कि यदि उपाध्याय जी के इस ग्रथ का प्रकाशन न हुआ होता तो 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' प्रकाश मे आता अथवा नही ?

उपाध्याय जी ने आलोच्य ग्रथ मे भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र दोनों का विशाल अध्ययन समान रूप मे प्रस्तुत किया है। यही नही प० रामदीन मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र आदि पडितों की भाति वे केवल पौरस्त्य विचारो को ही अपने प्रतिमानो पर नही परखते वरन् पाश्चात्य साहित्यकारो की विचारणा का भी समुचित परीक्षण करते है और उनके विचारो को उदारतापूर्वक ग्रहण करने को सदैव तत्पर रहते है। इस भाति उपाध्याय जी ने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का मूलाधार लेकर साहित्य के सार्वभौमिक और सार्वजनिक मूल्यो की उद्भावनये की है। अपने ग्रथ मे उन्होंने वक्रोक्ति, औचित्य, रीति, वृत्ति आदि पर चर्चा करते हुए यह स्पष्ट रूप मे प्रतिपादित किया है कि साहित्य के ये विभिन्न प्रतिमान केवल संस्कृत-साहित्य मे ही अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान नही रखते अपितु पाश्चात्य साहित्य मे भी विभिन्न अभिधानों से इनका महत्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य आलोचना और औचित्य पर लिखते हुए वे कहते है :—

"प्राचीन काल मे ही यूरोपियन आलोचक विशेषत: यूनानी और रोमन लोग —औचित्य के तत्व को काव्य-समीक्षा मे पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान देते थे।………………"

पाश्चात्य आलोचना के प्रवर्तक अरस्तु ने अपने दोनो ग्रथों मे पोलिटिक्स और रेहटोरिक मे —औचित्य के तत्व की समीक्षा बडी मार्मिकता से की है।

The Poet should remember to put the acutual sceenes as far as possible before his eyes.........he will devise what is appropriate and be least likely to over look incongruities.[1] (Poetics P, 61)

१— भा० सा० शा०, पृ० ११२

औचित्य ही नहीं रीति और वृत्ति पर भी उपाध्याय जी ने प्रथम बार आग्ल साहित्य म तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका 'रीति' का आग्ल साहित्य का विश्लेषण भी उतना ही सशक्त और मार्मिक है जितना सस्कृत-साहित्य का। इस भाति 'भारतीय काव्य शास्त्र' को उन्होने पूर्णता तक पहुचाने का प्रयत्न किया है। 'वक्रोक्ति और अभिव्यजनावाद' वाला अध्याय २० म भी वक्रोक्ति की व्याख्या बडे ही सरल और सरस ढग से की गई है, किन्तु अभिव्यजनावाद थोडे अधिक पृष्ठो की अपेक्षा करता था जो उपाध्याय जी न नहीं दिय। यो इस अध्याय का इसलिए भी कम महत्व है कि वक्रोक्ति और अभिव्यजनावाद पर बहुत पूर्व डा० नगेन्द्र, सुधाशु आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाजपेयी आदि विद्वान अधिकारी वाणी म लिख चुके हैं और शुक्ल जी द्वारा फैलाए हुए भ्रम का निवारण कर चुके हैं।

उपाध्याय जी के इस ग्रथ की एक कमजोरी यह है कि उनके अपने प्रतिमान बनने की प्रक्रिया (Process) म है अभी उनम वह दृढता नही आई जो हम डाक्टर नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी के आलोचनात्मक ग्रथो म मिलती है। अभी उनके प्रतिमान और स्पष्ट होना है और उन्हें युग के गतिमान सत्य से मार जोडना है।

इस भाति 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' का महत्व उसकी सीमाओ म भी अपरिमेय हैं। सस्कृत का दुरूह आलोचना शास्त्र हिन्दी मे अपने स्वाभाविक स्वरूप म प्रस्तुत करने का श्रेय उपाध्याय जी को ही है। फिर उन्होने उसम हिन्दी के नवीन उदाहरण देकर तथा अग्रेजी साहित्य से उनकी तुलना कर इस ग्रथ को वास्तव म अत्यधिक उपयोगी बना दिया है।

११

नई गवेषणायें और उनकी सार्थकता

इतिहासगत और विधागत

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' १९२९, आषाढ कृष्ण ५, १९८६ मे प्रकाशित हुआ। इस तिथि के पश्चात् हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अगो का विकास भी हुआ— इतिहास भी आगे बढा और अतीत के अंधकार मे डूबी हुई सामग्री को भी नया प्रकाश मिला, नई सामग्री प्राप्त हुई और नवीन गवेषणायें की गई। यो भी ३०-३२ वर्ष की अवधि कोई साधारण अवधि नही होती। उनके द्वारा रचित हिन्दी-साहित्य का इतिहास जैसी महत्वपूर्ण कृति आज स्वयं इतिहास की वस्तु बनती जा रही है। अतः यदि हिन्दी के कतिपय आलोचक शुक्ल जी के इतिहास के विरोध मे अपनी विभिन्न धारणायें व्यक्त करें तो आश्चर्य ही क्या ?

"इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता आज इसलिए पैदा हो गई है कि हिन्दी मे अधिकतर एकागी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण ही प्रचलित है। शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नही लिखे गये, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा मे एकागी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल जी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं; चाहे ये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हो या मार्क्सवादी विचारधारा से......।"[1]

१– आलोचना 'इतिहास अक'—सम्पादकीय, शिवदानसिंह चौहान

डा० भगवतशरण उपाध्याय

डा० उपाध्याय प्राच्य और पाश्चात्य दोनो साहित्य के प्रकाण्ड पडित हैं। इतिहास के गहर ममज्ञ होने क कारण उपाध्याय जी ने साहित्य का इतिहास और समाजशास्त्र के प्रकाश म बडा ही सटीक विश्लषण किया है। उपाध्याय जी के पूव भारतीय सस्कृति को केवल वायवी और आदर्शवादी ही समझा जाता रहा है। या तो अधिकत उनकी आलाचना का क्षेत्र भारतीय सस्कृति और इतिहास ही रहा फिर भी उन्हान हि दी साहित्य पर अपना लोकप्रिय ग्रन्थ 'खून क छीटे इतिहास के पन्ना पर' म राहुल जी क कथा-सग्रह 'बोल्गा स गगा' पर तथा अनक फुटकर लखा— जा कि यत्र तत्र हि दी की पत्रिकाओ में प्रकाशित हुए हैं, लिखे हैं। इन सभी लखा का मूलाधार भार तीय रस शास्त्र, पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र तथा एतिहासिक भौतिकवाद क समन्वय स जो साहित्य के प्रतिमान बनत ह, व है। कालिदास का भारत म भी उन्होन युग की आर्थिक, राजनतिक और सामाजिक परिस्थितिया का चित्रण किया है तथा कालिदास के साहित्य को पारम्परिक प्रतिमानो की कसौटी पर न कसकर एतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धति से तोला है।

उपाध्याय जी म अदभुत ऐतिहासिक चेतना है और समाज क ऐति-हासिक विकास मे उनकी अपार आस्था। अत जहाँ कही भी उन्ह किसी कृति मे ऐतिहासिक भूल दृष्टिगत होती ह वे उस क्षमा नही करते।

उपाध्याय जी न आधुनिक साहित्य पर भी कुछ आलाचनात्मक लख लिखे है। इन लेखो म 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय का उपन्यास), सुहागिन (विद्यावती मिश्र की काव्य-कृति), ज्ञान-दान (यशपाल का कहानी सग्रह) आदि विशेष उल्लखनीय हैं। इन लेखो म उन्हान दो प्रकार की कलाओ का विवेचन किया है— सवहारा वग की कला और अभिजात्यवग की कला। सभी लेखा मे वाद का आग्रह न होते हुए भी उनकी समाजवादी पकड बहुत ही शक्तिवान है। वस्तुत शुक्ल जी जैसी पैनी दृष्टि आचाय वाजपयी जी जैसा सौन्दय-सधान, डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी-सी सास्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना डा० उपाध्याय में विद्यमान है। भगवतशरण जी वास्तविक अथ में हिन्दी के डा० जानसन है।

अमृत राय

श्री अमृत राय, शिवदानसिह चौहान के पश्चात् 'हस' के सम्पादक

रहे हैं। अतः इन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के विकास में सक्रिय सह-योग दिया है और यदा कदा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। प्रगतिवादियों ने जब से साहित्य में संयुक्त मोर्चे का स्वर बुलन्द किया था तब से अमृतराय आलोचक के रूप में अधिक प्रकाश में आये हैं। उनके आलोचनात्मक लेख तथा 'हंस' के सम्पादन-काल में जो इन्होंने टिप्पणियाँ लिखीं हैं वे 'नयी समीक्षा' में संकलित हैं।

इन लेखों में कोई विशेषता अथवा मौलिकता न होकर कम्युनिस्ट लेखकों की भांति वे ही रटे रटाये सूत्र हैं— 'साहित्य वर्गवादी होता है', 'हमारी वस्तुस्थितियां ही हमारी चेतना को निर्णीत करती हैं', 'साहित्य और संस्कृति के विकास का मूलाधार हमारी आर्थिक परिस्थितियां होती हैं', आदि आदि।[1]

वस्तुतः इसके बहुत दिनों पूर्व सन १९३७ के 'विशालभारत' में शिवदानसिंह चौहान 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता में' तथा डाक्टर रामविलास शर्मा अक्टूबर १९४७ में अपने लेख 'स्वाधीनता आंदोलन और साहित्य' में जो कि उनकी आलोचना पुस्तक 'संस्कृति और साहित्य' में संकलित है इस दिशा में संकेत कर चुके थे।

'नई समीक्षा' में एक भी ऐसा लेख नहीं जिसमें उन्होंने मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र से किसी कृति का मूल्यांकन किया हो। उन्हें मार्क्सवाद का बहुत ही स्थूल अध्ययन है जिसके कारण वे साहित्य के कला पक्ष का मूल्यां-कन करने में अक्षम हैं।

'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' नामक पुस्तिका कम्युनिस्ट लेखकों के आरोपों और प्रत्यारोपों से भरी पड़ी है तथा उसका महत्व सामयिक ही अधिक था।

१— वर्ग संघर्ष की तीक्ष्णता पर पर्दा डालना ही सुधारवाद की मुख्य विशेषता है। अपने अन्दर इसी चीज से लड़ना हर मार्क्सवादी, लेनिनवादी आलोचक का पहला काम होना चाहिए। सुधारवाद क्रान्तिकारी मार्क्स-वाद-लेनिनवाद का वर्ग शत्रु है और उसके साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिए।

—'नयी समीक्षा' की लेख भूमिका।

अमृतराय मूलत कथाकार हैं, उनके पास भाषा की शक्ति है। किन्तु यह भाषा की शक्ति जब तक पैनी सूझ सूक्ष्म बुद्धि, गहन अध्ययन और संवेदन की क्षमता स समन्वित नहीं हो तब तक वह अकेली आलोचना के लिए अधिक महत्व नहीं रखती, यह सत्य अमृतराय क ऊपर भी घटित है।

प्रगतिवादी आलोचना की शक्ति

प्रगतिवादी आलोचना न हिन्दी साहित्य म जो सबसे महत्वपूर्ण काय किया वह साहित्य से प्रभाववादी तथा पारम्परिक आलोचना पद्धति का निष्कासन। इस आलोचना पद्धति का प्रमुख प्रतिपाद्य था 'किसी भी कृति क सृजन म वैयक्तिक अनुभूति और संवेदना ही सब कुछ नहीं होती अपितु उसक निर्माण मे वस्तुस्थितियो, युगीन सत्या एव आर्थिक और सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियों की भी महान भूमिका होती है। अत केवल कृति के अन्तर्मुखी तत्वो का विश्लेषण ही आलोचक का धर्म नहीं है अपितु युगीन परिस्थितियो के जीवन्त सत्य के प्रकाश म भी कृतियो का निरीक्षण और परीक्षण किया जाना चाहिए।'[1]

साहित्य मे मार्क्सवाद के अभ्युदय क पूर्व इन तत्वो की अवहेलना ही की जाती थी।

प्रगतिवादी आलोचना बड़े ओज और उत्साह स उन समस्त विघटन वादी प्रवृत्तियो से लड़ी है जो साहित्य म 'सामाजिकता' और 'लोकमंगल' की भावना की विरोधी है। इसी आलोचना न मनोविश्लेषणवादियो, अति यथार्थवादियो, अभिव्यजनावादियो आदि ह्रासोन्मुखी विभिन्न साहित्यिक धाराओं से डटकर सामना किया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य' म प्रगतिशील साहित्य के विकास की सम्भावनाओ को महत्वपूर्ण बतलाया है।

वास्तव मे प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को एक नई राह दी है और वह साहित्य को वायवी एव काल्पनिक जगत से भूमि की ओर लाया है। समाज मे हो रहे आर्थिक, राजनतिक और सास्कृतिक परिवतनो को अनुभूत

1- History of Sanskrit Literature, Page XCI

कर प्रगतिवादियों ने साहित्य में उसे उतारा है तथा तदनुसार साहित्य के नये प्रतिमानों को खोजकर सौन्दर्य-सन्धान की नई भित्तों को प्रकट करने में उसने सफलता प्राप्त की है। प्रगतिवाद ने लेखकों को संघर्षशील बनाया है और सामाजिक परिवर्तनों एवं संघर्षों में उसकी आस्था को दृढ़ किया है।

इस भांति प्रगतिवादी विश्लेषण ने काव्य को सतत् संघर्षशील और यथार्थवादी परिस्थितियों में अनुस्यूत कर साहित्य और आलोचना दोनों को दृढ़ता प्रदान की है। प्रगतिवाद ने अपनी इस शक्ति और दृढ़ता के कारण निश्चित ही हिन्दी आलोचना के इतिहास में अपना स्थान बना लिया है।

प्रगतिवादी आलोचना की सीमाएं

आचार्य शुक्ल से लेकर कतिपय प्रयोगवाद के समर्थकों को छोड़कर प्रायः सभी आलोचक साहित्य में सामाजिक चेतना की महत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु मार्क्सवाद द्वारा विश्लेषित सामाजिक चेतना अत्यधिक एकांगी एवं घोर संकीर्णतावादी है। जिस भांति मनोविश्लेषणवादी मनुष्य को उसकी निगूढ़ अन्तश्चेतना का क्रीत-दास घोषित करते हैं ठीक उसी भांति प्रगतिवादी भी मनुष्य को समाज का क्रीत-दास ही बतलाते हैं— इस समूह के बिना उसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते और भौतिक जीवन की आर्थिक परिस्थितियों और उत्पादन के साधनों को ही साहित्य, संस्कृति और बौद्धिकता के क्षेत्र में निर्णयकर्ता घोषित करते हैं[1]

मार्क्सीय कला सिद्धांत भारतीय साहित्य के विश्लेषण के लिए पंगु है। उसके विश्लेषण की एक परम्परा है, जहां वस्तुस्थितियों, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों एवं उत्पादन के साधनों के माध्यम से किसी भी साहित्य के उद्गम साधनों को निर्णीत करते हैं वहां इन परिस्थितियों के अतिरिक्त उस जाति विशेष की सांस्कृतिक धरोहर उस व्यक्ति का मानस निर्माण तथा उसकी वैयक्तिक रुचियां और प्रवृत्तियां भी साहित्य के उद्गम

१-- प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। उसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनायें अत्यधिक हैं: भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ती थी, जो समाज को नये-नये जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।

और विकास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। फिर यही नहीं प्रगतिवाद वर्गों के संघर्षों में अपार आस्था रखता है। यह वर्ग संघर्ष वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लाकर अपने राजनैतिक मन्तव्यों की सिद्धि चाहता है। इसीलिए वह कला के द्वारा मनुष्य को राजनीतिक रूप से जागरूक करता है और उसे 'बुर्जुआ' वर्ग से लड़ने को तत्पर करता है।

मार्क्सवादी आलोचना पद्धति साहित्य में संयंत्रण (रजीमेन्टशन) की भावना को प्रश्रय देती है और फलस्वरूप साहित्य और उसके रचयिता का कार्य भी यंत्र की तरह ही हो जाता है। फिर यह भी तो एक वास्तविकता है कि प्रगतिवाद की विचार-सरणियाँ सर्वथा विदेशी हैं और पाश्चात्य देशों के घोर यंत्रयुग की उपज हैं। भारत के पास उसकी अपनी सांस्कृतिक साहित्यिक और दार्शनिक परम्परायें हैं, उनका भी युग की विशिष्ट परिस्थितियों में विकास हुआ है अतः उन्हें कैसे दृष्टि-ओझल किया जा सकता है।

भारतीय जन-जीवन में वही चिन्तना प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है जिसने कि इसी भूमि से अपना जीवन-रसग्रहण किया हो तथा जिसकी जड़ें दूर इसी की मिट्टी में जमकर उसकी अपनी हो गई हों चाहे प्रगतिवादी इसे नवीन अथवा दकियानूसी मनोवृत्ति ही क्या नहीं कहें। वही साहित्य प्रगतिशील हो सकता है जो बिना किसी वाद का आग्रह किए जनमन की भावनाओं की अभिव्यक्ति देकर उसमें एक उत्कृष्ट कर्मेच्छा और मनोबल पैदा कर सके। साहित्य और आलोचना निर्माण के भावी प्रतिमान इन्हीं आधारों पर निर्मित होंगे जिनमें हमारे आत्मनिर्माण और पार्थिव निर्माण जनतन्त्र और सहअस्तित्व की प्रगतिशील विचारणाओं की पृष्ठभूमि पा सकें।

७

प्रयोगवाद और आलोचना

प्रयोगवाद का मूल उत्स छायावाद अथवा प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप न खोजकर हमारी सामाजिक परिस्थितियों एवं यथार्थ से टकराकर समाज के तेजी से बदलते हुए जीवन-मूल्यों मे ही खोजना होगा। प्रयोगवाद को विचार शून्य अथवा केवल शिल्पगत सत्य न मानकर उसकी अपनी विशिष्ट चिन्तन पद्धति है। उसके अपने जीवन-सिद्धान्त है जो वह साहित्य मे अवतरित कर रहा है। जब प्रयोगवाद का साहित्य मे उन्मेष हुआ था उस समय इसके लेखकों के पास कोई वस्तुगत विचारधारा नही थी, वे शिल्पी-मात्र थे-दिग्भ्रमित तथा मार्ग की टोह मे।

यह निश्चित है कि 'प्रयोगवाद' शब्द पाश्चात्य देशों से ही ग्रहण किया है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तथा उसके पश्चात् जहा कला के क्षेत्र मे प्रचार-वाद का प्रसार हो रहा था, भर्ती के लिए तथा विजय-प्रचार के लिये पोस्टर और कार्टून बनाये जा रहे थे वहीं विश्वयुद्ध के पूर्व की कला 'प्रभाव-वाद' का विघटन हो रहा था वे कलाकार जो कि मध्यमवर्गीय निष्क्रिय बौद्धिकता लिये हुए थे युग की इन परिस्थितियों से हताश और कुण्ठित थे। अतः उनके मानसिक जगत मे विद्रोह की एक ज्वाला जल रही थी। अतः वे अपनी उलझी हुई एव दबी हुई (Frustrated) मनः स्थिति मे अपनी कला को नाना प्रयोगों के मार्गों से ले जा रहे थे जिसमे उनकी अनुभूतियों मे स्थिरता न होकर भागे जाने की प्रवृत्ति थी। उन्होने न केवल दृश्य उपकरणों

का ही अपनी इस शीघ्रता म चित्रित किया अपितु अपनी अन्तश्चेतन की कुण्ठित स्पृहाओं को मोटी-मोटी सीधी सीधी रेखाओं म अंकित किया है। अत उनमे दैनिक जीवन म प्रयुक्त प्रतीका एव उपमाना से ही अपनी उलझन और उत्प्लवन व्यजित की गई है ।[1]

कला क क्षेत्र म यह विचार-आन्दोलन विभिन्न अभिधाना म जाना जाता है, — 'क्यूबिज्म, फ्यूचरिज्म, 'एक्सपरिमेंटलिज्म,' पोस्टइम्प्रेशनिज्म आदि-आदि। इस कला आन्दोलन के साथ कुछ समय बाद 'पाब्लोपिकासा का नाम जुड गया। वस्तुत न केवल इस आन्दोलन के चिन्तनजगत म हमे अराजकता का भाव मिलता है अपितु शिल्प अथवा इस धारा विशेष के कलाकारा द्वारा कला-परिवेश मे भी एक अराजकता के दशन होते हैं । परम्परागत शिल्प के प्रति एक विद्रोह का भाव लक्षित होता है।

कला जगत द्वारा प्रणीत यह आन्दोलन साहित्य जगत म भी अवतरित हुआ। भारत के कतिपय साहित्यकार समान वस्तुस्थितिया एव वैयक्तिक उलझना के कारण हिन्दी-साहित्य म इस आन्दोलन को खींच लाय।

द्वितीय विश्वयुद्ध को प्रारम्भ हुये कोई चार वष हो गय थ। उसक तात्कालिक एव भावी परिणाम सामान्य जनता की आँखो के सामन मूत हो रहे थे तथा भारतीय जनता मुक्ति क लिय अथक सघष म रत थी।

मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी भौतिक रूप स इन सघर्षो स प्रभावित नहीं हुआ था किन्तु मन उसका भी आन्दोलित हो रहा था। वह युग की परिस्थितियो और प्रगतिशील शक्तियो पर स अपनी आस्था खो बैठा था और वैचारिक जगत म उसके पास कोई एक स्पष्ट दशन नही था जिसके द्वारा उसकी खोई हुई आस्था की पुन प्रतिष्ठा हो जाए ।

प्रयोगवाद ऐसी ही कतिपय बुद्धिजीवियो के भटके हुए मस्तिष्को की उपज है। साहित्य की इस धारा विशेष का उन्नयन अज्ञेय जी द्वारा प्रकाशित 'तार सप्तक' (सन् १९४३) के पश्चात् ही हुआ। सप्तक क सग्रहकर्ता श्री अज्ञेय ने पुस्तक की एक लम्बी 'विवृत्ति' लिखी है । इस विवृत्ति' म उन्होंने प्रयोगवाद के सम्बन्ध म विस्तृत सिद्धान्त की चर्चा की है । 'प्रयोग'

1- The out line of Art, P 678

शब्द को लेकर ही उन्होंने अपने नानाप्रकार के वितण्डावादी तर्क प्रस्तुत किए है। जैसे उन्होंने यह शब्द पाश्चात्य कला-संसार से ग्रहण न कर स्वयं आविष्कृत किया हो 'प्रयोग' को लेकर यह कहना कि 'संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को 'प्रयोग' का विषय मानते है जो यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है।' उनका अनन्तर तर्क (Second Thought) ही लगता है, क्योकि अज्ञेय जी के उपर्युक्त कथन की स्वीपुष्टि सग्रहीत कवियों मे से किसी ने नही की है।

अज्ञेय जी लिखते है– "किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत के किसी एक गुट अथवा दल के सदस्य अथवा समर्थक है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं है, अभी राही हैं, राहीं नहीं राहो के अन्वेषी"।

किन्तु इनमे से कितने ही कवि 'राहो के अन्वेषी' नही थे। इनमे से कितने ही कवि राहो के कवि नही है, कुछ अवश्य उनके जैसी ही भटकन लिये हुए थे और जो उन्होंने एक अराजकतावादी राह बतलायी थी उनके राही है। डा० रामविलास शर्मा, गजानन माधव मुक्ति बोध आदि कवियों ने अज्ञेय जी के उपर्युक्त तर्कों को कभी भी समर्थन नही दिया।

जहा तक इन कवियो मे मूलभूत सैद्धान्तिक एकता का प्रश्न है– वह केवल काव्य के प्रति विद्रोह ही है। इनमे से प्रत्येक कवि ने उस शिल्प का-काव्य के उस पारस्परिक परिवेश के प्रति विद्रोह किया है और यह विद्रोह क्या तो भाषा और प्रतीकों के क्षेत्र मे, क्या कल्पना और छंदों के क्षेत्र मे, शिल्प की समग्र छायावादी पद्धति पर, इन कवियो ने अपनी भाषा की अप्रतिम् व्यंजनाशक्ति और नये-नये प्रतीको के द्वारा, उसके समग्र परिवेश पर बहुत बड़ा प्रहार किया है और कला के शिल्प के क्षेत्र मे नई गवेषणायें और कई मौलिक उद्भावनायें की है। पाश्चात्य देशो के 'माडर्निस्ट' कलाकार भी अपने इस नूतन रूपवाद के द्वारा एक रंगमंच पर एकत्रित हुए थे। किन्तु अज्ञेय जी तो इन कवियों की यह भी एकता स्वीकार नही करते।[1]

१– उनमें मतैक्य नही है, सभी महत्वपूर्ण विषयो पर उनकी राय अलग-अलग है। जीवन के विषय मे, काव्यवस्तु और शैली के, छंद और तुक

चारण-युग के मध्य सन्धिकाल का अवतारणा कर सिद्धों और नाथों को इसमें सम्मिलित कर लिया है। यो यदि हम मोह और पूर्वाग्रहों से दूर होकर सोचें तो यह स्वीकार करने में कोई अपमान नहीं है कि इस युग के काव्य में कविता कम 'चारणगिरी' अधिक है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस युग को मिश्र बन्धुओं द्वारा दिया गया नाम आदिकाल ही अपने 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में दिया है।

प्राय: विश्लेष्य काल के अन्तर्गत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक ने वीरगाथाकाल अथवा चारणयुग या इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली बारह कृतियों का ही विश्लेषण, इनमें से कुछ कृतियों का कतिपय आलोचकों ने बाद की लिखी हुई निरूपित की है।

इस सम्बन्ध में सवश्री अगरचन्द नाहाटा और श्री मोतीलाल मेनारिया द्वारा की गई गवेषणायें विशेष दृष्टव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी द्वारा "हिन्दी साहित्य का आदियुग" में दिए गये कितने ही तर्कों का आधार मेनारिया जी ही हैं। द्विवेदी जी का जैन ग्रन्थों का विशाल अध्ययन और मेनारिया जी की रा० भा० सा० नामक शोधमूलक ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के मूल में हैं। जहां इन दो आधारों से द्विवेदी जी ने आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है, वहां उनके तर्क काफी विवादास्पद हो गए हैं। यथा 'प्राकृत पैंगलम्' के 'जज्जल' कवि कृत कुछ श्लोक हैं जो हम्मीर विषयक हैं। द्विवेदी जी अपने इस ग्रन्थ में हम्मीर को गजनी का अमीर मानते हैं। डा० दशरथ शर्मा ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"किन्तु वास्तव में यह रणथम्भौर का हठी अमीर है। जज्जल हम्मीर का सेनापति और उत्तराधिकारी था। यह सम्भव है कि तत्कालीन कवियों ने हम्मीर विषयक काव्य लिखा हो। किन्तु ऐसी रचना हम अभी तक नहीं मिली है।[1]

और इस भांति श्री एस० एम० घोषाल ने भी इसे सन् १२४५ और १५०० के मध्य की कृति मानी है। वे लिखते हैं—

1— आलोचना, पूर्णाङ्क— ७

'But to be more precise we must say that the work was compiled by (so callad) Pirgale sometime between 1400 A. I and 1500 so we think the work belongs to the 15th. century as has been suggested, by Prof. gune & Chatterjee.[1]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी बौद्ध, जैन और सिद्धों और नाथों की साधनाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। अतः 'आदिकाल' इन धर्मों के ग्रन्थों से अधिक बोझिल हो गया है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के महान् व्याख्याकार हैं। यदि परिमाणात्मक ढग से उनकी गवेषणाओं का अध्ययन किया जाये तो उनमे गवेषणाये कम, गवेषित सामग्री की नवीन व्याख्या अधिक परिमाण मे मिलेगी। यह व्याख्या उनका प्रगाढ अध्ययन और महती सास्कृतिक चेतना लिए हुए होती है। वे विभिन्न सामग्रियों को वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ मे यह सिद्ध किया है कि विश्लेष्य युग हिन्दी साहित्य राजस्थान तक ही सीमित नही रहा जिसमे कि उस स्थान की कतिपय कृतियों के आधार पर इस युग का नाम वीरगाथा-काल रख दिया जाये—

"राजपूताना मे प्राप्त कुछ काव्य-ग्रथों के आधार पर इस काल का नामकरण उचित नही।"[2]

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाये तो राहुल जी द्वारा दिया हुआ नाम 'सिद्ध-सामन्त युग' ही अधिक सार्थक होगा। क्योकि उस युग की धार्मिक साहित्य, सिद्धों और नाथों की साधना पद्धतियों से प्रभावित होकर यह लिखा गया है अथवा उनकी साधना-पद्धति की प्रतिक्रिया स्वरूप 'सामन्त' शब्द मे उस युग की अन्य विशेषतायें सन्निहित है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त आदिकाल से सम्बन्धित अन्य शोध-ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे डा० रामसिंह तोमर का 'प्राकृत तथा अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी का 'पृथ्वीराजरासो' आदि विशेष उल्लेखनीय है। डा० टीकम सिंह तोमर कृत 'हिन्दी वीर काव्य'

1— *Indian Historical Quarterly Vol. XXV. March 1949*

२— हिन्दी-साहित्य का आदि युग

द्वारा साहित्य और इतिहास की पृष्ठभूमि म वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है।

आचाय शुक्ल द्वारा उपेक्षित सिद्धो और नाथों की साधना पद्धति पर भी गत दशाब्दी मे कई महत्वपूर्ण गवेषणायें प्रकाश म आइ, जिनम डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाथ सम्प्रदाय', डा० रागेय राघव कृत गुरू गोरखनाथ और समय' आदि हिन्दी-साहित्य के आदि काल पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

आज ऐसे ग्रन्थो द्वारा हिन्दी के आदि युग का स्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है। अगरचद नाहटा की बहुमूल्य कृतिया राजस्थान में हस्तलिखित ग्रथो की खोज तथा मैनारिया जी की अनुपम कृति राजस्थानी भाषा और उसका साहित्य' द्वारा शुक्ल जी की 'हिन्दी-साहित्य के आदिकाल' स सम्बन्ध रखन वाली उसकी अनेक स्थापनायें अब निमूल सिद्ध होने लगी हैं।[1]

और इन कृतियो के माध्यम से अब इस युग का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

भक्तिकाल

आचाय शुक्ल ने 'भक्तिकाल' के आविर्भाव को 'मुसलिम साम्राज्य की स्थापना की प्रतिक्रिया स्वरूप ही माना है।[2] जो अत्यधिक भ्रामक और अऐतिहासिक है। शुक्ल जी की भक्ति काल सम्बन्धी कई धारणायें डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' मे अपने अनको ठास तर्कों द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दी। द्विवेदी जो लिखते हैं—

'कभी-कभी यह शका की गई है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अग अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बतान का प्रयत्न किया है कि निर्गुणी सन्तो की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति पूजा क खण्डन करन की चेष्टा म मुसलमानी हैं ये सभी बातें भ्रममूलक हैं निर्गुण मतवादी सन्तो के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं,

१— डा० दशरथ शर्मा 'आलोचना' पूर्णाक ७

२— हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८।

उसकी समस्त रीति, नीति, साधना, वक्तव्य, वक्तव्य-वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण करता है पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है ‥ ‥। हिन्दी-साहित्य में यह प्रभाव 'प्रभाव' रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिये प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।"[1]

शुक्ल जी के पश्चात् भक्तिकाल का मूल्यांकन और विश्लेषण द्विवेदी जी द्वारा उपर्युक्त निर्देशित विचार-सरणि के आधार पर ही हुआ। निर्गुणी मतों की उन्होंने सदैव उपेक्षा की जिसके फलस्वरूप वे भक्तियुग का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में अक्षम रहे। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल की आलोचना-शक्ति के इस अभाव की ओर कई स्थानों पर संकेत किया है।

"इसी के साथ शुक्ल जी ने लोक-साहित्य के समीप प्रवाहित होने वाली कबीर जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक् सत्कार नहीं किया।"[2]

किन्तु हिन्दी-साहित्य में संत कवियों की जीवन्त परम्परा की अवहेलना अधिक दिनों तक नहीं की जा सकी और शुक्ल जी के जीवन-काल में ही संत कवियों पर कितने ही अच्छे प्रकाशन प्रकाश में आये।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर के कतिपय पदों का बंगला और अंग्रेजी में अनुवाद किया। बाबू श्यामसुन्दर दास के नेतृत्व में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'निर्गुण काव्य' पर 'The Nirgun School of Hindi Poetry' के अभिधान से डी० लिट्० के लिए महा प्रबन्ध लिखा, जिसमे 'निर्गुण धारा' का भारतीय संस्कृति की पार्श्वभूमि में विस्तृत विश्लेषण किया गया। बाद में यह ग्रंथ हिन्दी में 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' के नाम से प्रकाशित हुआ। बड़थ्वाल जी के इस ग्रंथ से निश्चित ही हिन्दी-साहित्य में सन्त कवियों का महत्व बढ़ गया और उन पर अनेकानेक शोध-ग्रन्थ लिखे गये। आज अकेले कबीरदास पर ही अच्छे ग्रन्थों की संख्या बारह से कम नहीं होगी। कबीदास पर डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

१— हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २८-२९

२— नया साहित्य नये प्रश्न— पृ० २६

डा० चन्द्रवली पाण्ड, डा० गोविन्द त्रिगुणायत आदि द्वारा लिखे गए ग्रन्थ हिन्दी-आलोचना के इतिहास मे स्थायित्व प्राप्त कर चुके हैं। इनके ग्रन्थों ने शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित और मोट रूप मे निरस्कृत हिन्दी की शक्तिशाली धारा का सूखने से बचा लिया। इस धारा के अध्ययन म श्री परशुराम चतुर्वेदी का ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' अपना विशिष्ट स्थान रखता है। चतुर्वेदी जी ने बडे श्रम म इस ग्रन्थ को लिखकर कितने ही ऐसे मन्तो की चर्चा की है जिनका कि आचाय शुक्ल के 'इतिहास' मे नामोल्लेख तक नही है। श्री वियोगी हरि कृत 'सन्त सुधा सार' इस दिशा म एक ऐतिहासिक प्रयत्न है। वियोगी हरि जी ने इस ग्रन्थ म सन्तों के विभिन्न प्रकार के पद देकर यह सिद्ध किया है कि हमारे ये सन्त न केवल अपन युग की जीवन्त परम्पराओ का प्रतिनिधित्व करते थे अपितु उन्होन आने वाले युग के लिए भी एक नया माग बनाया। यही कारण है कि य सन्त अभी भी हमारे मध्य जीवित हैं।[1]

सन्त दरिया को आचाय रामचन्द्र शुक्ल बिलकुल ही भूल गय थे—सम्पूर्ण इतिहास में उनका कहीं काई जिक्र नहीं है। आचाय धर्मेन्द्र न दरिया साहब पर विस्तृत ग्रन्थ लिखकर इतिहास क कुछ भूले हुए महत्वपूर्ण पृष्ठों को पुन प्रकाश मे लाये। डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित का सन्त मलूकदास पर प्रबन्ध भी सन्त-साहित्य के अध्ययन म एक महत्वपूर्ण योगदान है।

भक्तिकाल की प्रेमाश्रयी शाखा

इस प्रेमाश्रयी शाखा का हिन्दी-साहित्य म एक महत्वपूर्ण स्थान दिलवाने का श्रेय आचाय रामचन्द्र शुक्ल को ही है। उन्होंने सीमित सामग्री के होते हुए भी इस शाखा को जो परिपक्व रूप दिया वह उन्हीं की क्षमता का प्रताप था। उन्होंने अपने इतिहास म केवल इस शाखा के ६ प्रेमाख्यानो का जिक्र किया है। किन्तु बाद की नवीन गवेषणाओं ने इस सख्या को २० तक पहुचा दिया है। य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१)	मुल्ला दाउद	—चदायन
(२)	शेख *कुतबन*	—*मृगावती*
(३)	मलिक मोहम्मद जायसी	—पद्मावत

१— 'वीणा' — कृष्णवल्लभ जोशी।

(४)	[illegible]त, नीरि	—मधुमालती
(५)	[illegible] उस्मान	—चित्रावली
(६)	जान कवि	—कामलता
(७)	शेख नबी	—ज्ञानदीप
(८)	जानकवि	—कामलता
(९)	,,	—मधुकर मालती
(१०)	,,	—रतनावली
(११)	,,	—छीता
(१२)	हुसैनअली	—पुहुपावती
(१३)	कासिम शाह	—हंस जवाहर
(१४)	नूरमोहम्मद	—इन्द्रावती
(१५)	नूरमोहम्मद	—अनुराग बांसुरी
(१६)	शेखनिसार	—युसुफ-जुलेखा
(१७)	ख्वाजा अहमद	—नूरजहां
(१८)	शेख रहीम	—भाषा प्रेम रस
(१९)	कवि नसीर	—प्रेम दर्पण
(२०)	अलीमुराद	—कुंवरावत[1]

उपर्युक्त ग्रंथ तो आज हिन्दी में प्रामाणिक रूप से प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे ग्रंथो की चर्चा है जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध बताई जाती है। बीस ग्रंथों की इस तालिका से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शुक्ल जी के पश्चात् इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य हुआ है।

इस दिशा में शुक्ल जी की परम्परा आगे बढाने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान श्री प० वासुदेवशरण अग्रवाल का रहा है। पं० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास और संस्कृति के अप्रतिम विद्वान रहे हैं। विद्वता के साथ-साथ उनकी लेखनी में सृजन की शक्ति भी विद्यमान है। उनके द्वारा

१– सर्वश्री परशुराम चतुर्वेदी कृत 'भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा,' विमलकुमार जैन कृत 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य,' सरला शुक्ल कृत 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य' आदि के आधार पर।

लिखित और सम्पादित 'पदमावत' जायसी के ऊपर लिखे गये ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने के पश्चात् जायसी के ऊपर बहुत कम कहने को रह जाता है। सर्वश्री परशुराम जी कृत 'प्रेमाख्यान की परम्परा' सरला शुक्ल कृत 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य' तथा इन्द्रचन्द्र नारंग कृत 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' आदि ग्रंथों को भी हिन्दी प्रेमाख्यानों की गवेषणाओं में उनका समुचित अध्ययन और विश्लेषण में एक बहुत बड़ी भूमिका रही है। इन ग्रंथों द्वारा नये प्रेमाख्यान प्रकाश में आये हैं और इतिहास के कितने ही भूले हुए पृष्ठ पुनः स्मृति पटल पर आ गये हैं।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त सर्वश्री विमलकुमार जैन कृत 'सूफी मत और हिन्दी-साहित्य' हरिकान्त श्रीवास्तव कृत 'भारतीय प्रेमाख्यान काव्य', कमल कुलश्रेष्ठ कृत 'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य' आदि भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

निश्चित ही आचार्य शुक्ल के पश्चात् इस दिशा में भी उत्कृष्ट कार्य हुए हैं और हिन्दी के प्रेमाख्यान कतव्य के क्षेत्र में नई गवेषणाओं और नये ऐतिहासिक विश्लेषणों द्वारा उनके कार्य को आगे बढ़ाया गया है।

रामकाव्य का आलोचना साहित्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रामकाव्य के अनन्य भक्त थे। उनका समस्त आलोचना साहित्य 'तुलसी के राम' से अनुप्रेरित है। प्रच्छन्न रूप में उनका समस्त आलोचना साहित्य तुलसी साहित्य का स्तवन ही है। शुक्ल जी तुलसी पर निस्संग और निरपेक्ष भाव से नहीं लिख सके। परवर्ती आलोचकों ने राम-काव्य का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है और अपनी नवीन गवेषणाओं द्वारा राम-काव्य और उसके कवियों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट की है। इन आलोचकों में सर्वश्री माताप्रसाद गुप्त, बल्देवप्रसाद मिश्र, श्री कृष्णलाल, राजपति दीक्षित आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गवेषणा की दृष्टि से इनमें डा० माताप्रसाद गुप्त कृत 'तुलसीदास' और 'तुलसी' इन दोनों ग्रंथों की महत्ता अत्यधिक है। डा० माताप्रसाद गुप्त के इन दोनों ग्रंथों में सर्वाधिक पुष्टिकृत सामग्री है जो कि उनके इस विषय के प्रगाढ़ अध्ययन, मनन और चिन्तन का परिणाम

है। यों तो तुलसी पर बीसों आलोचनात्मक कृतियां लिखी गई हैं—बड़े-बड़े शीर्षक देकर किन्तु उनका उद्देश्य क्या है—क्यों लिखी गई है; आज भी यदि उन लेखकों से पूछा जाये तो उन्हें नहीं मालूम। डा० माताप्रसाद गुप्त के ये दोनों ग्रंथ आज तक जो भी 'तुलसी-साहित्य' में गवेषणायें हुई है, उनका एक वैज्ञानिक लेखा-जोखा है।

विश्लेषण की दृष्टि से डा० बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'तुलसी-दर्शन' तथा डा० रजपति दीक्षित कृत 'तुलसीदास और उनका युग' ये दोनों ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त डा० भगवतीप्रसाद सिंह कृत 'राम काव्य-धारा का रसिक सम्प्रदाय' तथा हरिनाथ दुबे कृत 'रामचरित-मानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण' तुलसीदास के काव्य एवं अन्य कवियों द्वारा रचित 'राम-काव्य' पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। किन्तु ये दोनों सामान्य प्रबन्ध हैं इनमें कोई नई दिशा की ओर लेखकों ने नहीं सोचा है।

कामिल बुल्के कृत 'राम-कथा की उत्पत्ति और विकास' डा० माता-प्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास' के बाद सबसे महत्वपूर्ण कृति है। विश्लेष्य कृति में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों और उसके विकास का प्रामाणिक विश्लेषण किया गया है और उसके द्वारा समाज में क्या परिवर्तन हुए हैं; इसका समुचित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस भांति तुलसीदास पर यह ग्रंथ पहली बार समाजशास्त्रीय ढंग से लिखा हुआ ग्रन्थ है।

कृष्ण-काव्य का आलोचना साहित्य

भारतीय जनता राम और कृष्ण की अनन्य आराधक रही है। अतः ये दोनों महती आत्मायें नाना रूप में कवियों और साहित्यकारों द्वारा साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से चित्रित हुई हैं। यदि सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का विषय-गत विभाजन करें तो आधे से अधिक साहित्य का विषय कृष्ण काव्य और राम काव्य ही मिलेगा। परिणामतः यह स्वाभाविक है कि हिन्दी में इन दोनों प्रकार के विषयों पर विपुल मात्रा में आलोचना-ग्रंथ उपलब्ध हैं।

आचार्य शुक्ल, सूरदास पर भी 'तुलसीदास' की भांति एक सम्पूर्ण अध्ययन लिखना चाहते थे और उसके कुछ अध्याय भी उन्होंने लिखे थे। बाद में इन अध्यायों के साथ इतिहास में से सूर सम्बन्धी अंश जोड़कर उनके

पुस्तकाकार रूप में 'सूरदास' नाम से 'नन्दकिशोर ब्रदर्स' वाराणसी से प्रकाशित भी हुए। किंतु इसे हम सूर का सांगोपांग अध्ययन नहीं कह सकते। आचार्य शुक्ल मूलतः आदर्शवादी थे अतः वे सूर के मुक्त किंतु सात्विक शृङ्गार का वह लोक मंगलकारी भावभूमि नहीं दे पाये जो उन्होंने तुलसी-साहित्य को दी। अतः आचार्य शुक्ल की सूर सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं का हिंदी के कई उच्चकोटि के आलोचकों ने खंडन किया तथा सूर-साहित्य का गवेषणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया और कृष्णकाव्य को नवीन महत्ता प्रदान की। इस संदर्भ में डा० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डाक्टर मुन्शीराम शर्मा का 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य,' आचार्य वाजपेयी का 'भक्त कवि सूरदास', ब्रजेश्वर वर्मा का सूरदास आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में न केवल सूर साहित्य एवं अष्टछाप कवियों के बारे में नाना प्रकार की शोधपूर्ण सामग्री ही उपलब्ध है अपितु इन विद्वान लेखकों ने कृष्णकाव्य को नई व्याख्या और नया विश्लेषण प्रदान कर उसके भाव-क्षितिज का अधिक विस्तीर्ण किया है। सूरदास पर लिखे अन्य ग्रन्थों में सर्वश्री हरवंसलाल शर्मा का 'सूर और उनका साहित्य', मनमोहनलाल गौतम का "सूर की काव्यकला', प्रभुदयाल मित्तल का 'सूर निर्णय', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर-साहित्य' आदि ग्रन्थों में भी सूर के काव्य पक्ष की विविधताओं और विशेषताओं का विश्लेषण मिलता है।

सूर-साहित्य के अतिरिक्त इस काल में अन्य कवियों द्वारा लिखे गये कृष्ण-काव्य पर भी सैद्धांतिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से पर्याप्त रूप से विश्लेषण और व्याख्यायें प्रस्तुत की गई। इस प्रकारों में डा० विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य', डा० गोवर्द्धनलाल शुक्ल का 'कविवर परमानन्द दास और उनका साहित्य,' डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'कृष्णकाव्य मे भ्रमर गीत' डा० शशिभूषण दास कृत 'श्री राधा का क्रमिक विकास', श्री जगदीश गुप्त कृत 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल एवं उनके पूर्ववर्ती आलोचकों ने केवल सूर और तुलसी के साहित्य का विश्लेषण ही किया था। किन्तु उपर्युक्त ग्रंथों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णकाव्य केवल सूर-साहित्य तक ही सीमित नहीं है अपितु इसकी एक अविच्छिन्न परम्परा रही है और 'महाभारत' से लेकर 'कृष्णायण तक यह धारा कहीं लोक—काव्य के रूप मे तो कहीं रीति और परम्परा के रूप मे प्रवाहमान रही है। शुक्ल जी के बाद इस परम्परा

का अध्ययन आगे बढ़ा है—विकसित हुआ है।

रीतिकाल का आलोचना-साहित्य

आचार्य शुक्ल ने अपने 'इतिहास' मे इस काल की अत्यधिक उपेक्षा की और इस काव्य की कितनी ही कलात्मक विशेषताओं और अभिव्यजना की विविधताओ को वह समुचित महत्व प्रदान नही किया जिसका कि यह युग अधिकारी था। यद्यपि शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आलोचक सर्वश्री आचार्य पद्मसिंह शर्मा, प० कृष्णबिहारी मिश्र आदि हुए थे किंतु शुक्ल जी के व्यापक प्रभाव और युग के स्थूल नीतिवादी दृष्टिकोण होने के कारण रीतिकाल का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया।

शुक्लोत्तर काल मे हिन्दी के कतिपय काव्य मर्मज्ञ और प्राणवान आलोचको ने रीतिकाल का समुचित अध्ययन और विश्लेषण कर यह सिद्ध किया कि रीतिकाल का काव्य भी साहित्य की दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि भक्तिकाल।

डा० नगेन्द्र का इस सन्दर्भ मे निम्नोल्लेखित मार्मिक वक्तव्य अप्रासंगिक नही है —

"भारतीय इतिहास मे रीतिकाल की भाति हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे 'रीतिकाव्य' भी अत्यत अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस पर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कह कर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीनभाव रखती थी। प्रगतिवाद ने इस पर समाज विरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषय-वस्तु एव अभिव्यजना प्रणाली को एकदम बासी घोषित कर दिया। ... वाक्य रसात्मक काव्यं या रमणीयार्थ प्रतिपादक, शब्द काव्य की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नही किया जा सकता। इसमे सन्देह नही कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियो का भी निरूपण इस काव्य मे नही होता किंतु जीवन मे सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग पर वीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढना तो श्रेयस्कर है ही किन्तु कुछ क्षणो के लिये किनारे पर लगे वृक्षो की शीतल छाँह मे विश्राम करने का भी अपना

मूल्य है।"[1]

अत साहित्य की दृष्टि से रीतिकाव्य का महत्व शिल्प और वस्तु की दृष्टि से अतुलनीय है और यदि यह कहा जाय कि विशुद्ध साहित्य के रूप में यदि हम किसी काल में कविता मिलती है तो वह रीतिकाल की कविता ही है।

उपर्युक्त कारणों से शुक्ल-काल में रीतिकाल का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया। अतः रीतिकाव्य और शास्त्र दोनों की ओर शुक्ल जी के बाद ही हिन्दी के आलोचकों की दृष्टि गई।

रीतियुग का सर्वाङ्ग विश्लेषण हम डा० नगेन्द्र कृत 'रीतिकाव्य की भूमिका' में मिलता है। हिन्दी साहित्य में पहली बार डा० नगेन्द्र द्वारा निरपेक्ष और निस्संग भाव से रीतिकाव्य की उसकी वृहत् संस्कृत परम्परा की पृष्ठभूमि में व्याख्या की गई है। इसके पश्चात ही डा० नगेन्द्र द्वारा निर्देशित मार्ग पर अनेक ग्रंथ लिखे गए और रीतिकाव्य को भी सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन ग्रंथों ने रीतियुग के महत्व का उद्घाटन किया और हिन्दी-साहित्य के विकास में उसकी भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निरूपित की। इन ग्रंथों में डा० नगेन्द्र के 'रीतिकाल की भूमिका' के अतिरिक्त उनका रीति-शृंगार, श्री रामचन्द्र तिवारी का 'रीतिकालीन हिन्दी कविता', डा० भगीरथ मिश्र का हिन्दी रीति-साहित्य, श्री ओमप्रकाश अग्रवाल का 'हिन्दी रीति काल', डा० बच्चन सिंह का 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन उपर्युक्त ग्रंथों में जहां इस युग के काव्य का सैद्धान्तिक विश्लेषण मिलता है वहीं उनमें युगीन स्थितियों, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों की भी अच्छी व्याख्या मिलती है। काव्य विश्लेषण के अतिरिक्त इस युग के शिल्प पर भी अभी अभी पर्याप्त अध्ययन हुआ है। इनमें प्रमुख में डा० ओमप्रकाश कृत हिन्दी अलंकार-साहित्य (पूर्वार्द्ध) और हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य (उत्तरार्द्ध) विशेष महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में हिन्दी-साहित्य में रूप और शिल्प पर रीतिकाल में ही विचार होने लगा था अन्यथा वीरगाथा काल और भक्तिकाल में यद्यपि शिल्प की दृष्टि से भी सूर और तुलसी का साहित्य

१— हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास खंड ६, अध्याय ३, पृ० ५६७

प्रथम श्रेणी में आता है, किसी कवि ने विचार नहीं किया था।

अतः रीतिकाल के शिल्प पक्ष को लेकर जो अन्य ग्रंथ लिखे गए उनमें श्री रामशंकर शुक्ल कृत 'हिन्दी अलंकार शास्त्र के विकास का अध्ययन', जानकी नाथ सिंह कृत 'हिन्दी छन्द-शास्त्र,' छैलबिहारीलाल गुप्त कृत 'रस तथा आधुनिक मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन' आदि अपना विशेष महत्व रखते है।

उपर्युक्त ग्रंथ तो काल विशेष की प्रवृत्तियों उसकी सैद्धातिक उप-पत्तियों और उसके ऐतिहासिक, राजनैतिक और साहित्यिक वातावरण के विश्लेषण रूप में लिखे गए ग्रथ है; किंतु इन ग्रथो के अतिरिक्त विश्लेष्य काल मे कवि विशेष पर भी अनेको महत्वपूर्ण कृतिया लिखी गई है। इस कृतियो में डा० नगेन्द्र द्वारा लिखित 'देव और उनकी कविता,' पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'बिहारी की वाग्विभूति' 'बिहारी' 'घनानन्द और आनन्दघन' आदि पर्याप्त रूप से ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। 'देव और उनकी कविता' मे लेखक ने देव को साहित्य के परम्परागत मूल्यों से हटकर युग की राजनैतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि मे परखा है जो उनकी मौलिक चिन्तना और विश्लेषण की अद्‌भुत क्षमता का ही परिचायक है।

इन ग्रंथो के अलावा इस युग पर और भी अनेको ग्रथ है किन्तु वे विद्यार्थियो के लिये लिखे गये है। साहित्य की दृष्टि से उनका मूल्य नगण्य-सा ही है।

आधुनिक साहित्य का समीक्षा साहित्य

आधुनिक युग मे हिन्दी-साहित्य अपने सम्पूर्ण वेग से आगे बढा। क्या भाषा की दृष्टि से और क्या साहित्य की विभिन्न विधाओं की दृष्टि मे-सभी दृष्टि से हमारे साहित्य ने महान प्रगति की। यही कारण है कि जहा इस युग मे रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र मे बीसों उत्कृष्ट कोटि के काव्य-ग्रंथ, पचासो श्रेष्ठ उपन्यास, उच्चकोटि की कहानियाँ और कई सौ अच्छे प्रकार के नाटक लिखे गये वहा इनके ऊपर कई उच्चकोटि के आलोचना-ग्रंथो की भी रचना हुई। मूल्यांकन सम्बन्धी आलोचनाओ के अतिरिक्त इस युग मे सैद्धान्तिक आलोचना तथा वाद-मूलक आलोचनाओं की भी बहुलता मिलती है। यों संस्कृत मे भी 'वादों' का अभाव नहीं था; वहां भी अनेक प्रकार के वाद

प्रचलित थे, यथा—रसवाद अलंकारवाद, औचित्यवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि। यद्यपि इन वादों के मूल में अपने-अपने युग की दार्शनिक चिन्तना कार्यरत थी किन्तु फिर भी इन वादों का स्वरूप विशुद्ध साहित्यिक था—इन वादों के लिए साहित्य ही सर्वोपरि था। किन्तु विश्लेष्य-युग में यह बात नहीं रही। अनेकों वादों और युगों का जन्म हुआ और उन पर अनेकों ग्रंथ लिखे गये—लिखे जा रहे हैं। इन वादों में से कुछ वाद तो यन्त्र युग द्वारा अभिप्रेरित हैं कुछ यन्त्र युग के विरोध में। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद यन्त्रयुग की ही दो व्याख्यायें हैं जो मूलतः राजनीति द्वारा अनुप्राणित हैं। यदि आधुनिक युग के साथ ये वादी युग और मिला दिये जायें तो ऐसा लगेगा कि इस आधुनिक युग में कई और भी युग सम्मिलित हैं, यथा भारतेन्दुयुग, द्विवेदीयुग छायावादी युग प्रयोगवादी युग आदि आदि।

आचार्य शुक्ल का आधुनिक काल का अध्ययन बहुत प्रगाढ़ था। उन्होंने जो हिन्दी गद्य का विकास लिखा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से आज भी उतना ही महत्व रखता है, उसमें आज भी परिवर्तन की कम गुंजाइश है। उनके इस आधुनिक युग के इतिहास को डा० रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु युग' लिखकर तथा डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य,' (१८५०-१९००) डा० श्री कृष्णलाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००-१९२६) और डा० भोलानाथ ने आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९२६-४७) लिखकर उसे आगे बढ़ाया। इस भांति इस युग का ऐतिहासिक रूप से सम्यक विश्लेषण प्राप्त हो जाता है। इस ऐतिहासिक विश्लेषण के साथ साथ हिन्दी के कतिपय सुधी आलोचकों ने इस युग का प्रवृत्तिगत विश्लेषण भी किया। ऐसे लेखकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अग्रणी हैं। उनके तीनों ग्रन्थों में, 'हिन्दी साहित्य बीसवीं सदी,' 'आधुनिक साहित्य और 'नया साहित्य नये प्रश्न' में द्विवेदी-युग से लेकर आज तक की साहित्यिक धारा प्रयोगवाद तक का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

पहले ग्रंथ में ही 'चार साहित्यिक पीढ़ियाँ' के प्रतिनिधि आ गये हैं। पहली पीढ़ी में कवि रत्नाकर, दूसरी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द, तीसरी पीढ़ी में मुख्यतः प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी तथा अंशतः भगवतीप्रसाद वाजपेयी और जैनेन्द्रकुमार तथा चौथी पीढ़ी के एकमात्र प्रतिनिधि, कवि 'अंचल' हैं।[1]

१— नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १

दूसरी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' में वाजपेयी जी ने पहली पुस्तक की भाँति केवल कृतियों अथवा कृतिकारों पर ही विवेचन नहीं किया है अपितु उसमें युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण किया है। वाजपेयी जी ने दोनों कृतियों में 'समाज' का और तज्जन्य सांस्कृतिक और साहित्यिक अभिरुचियों को प्राथमिकता दी है और कृति और कृतिकार को उसकी उत्पत्ति ही' माना है। इस भाँति उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और समाजवादी रहा है। उनका यह समाजवाद, भारतीय समाजवाद है और प्रगतिवादियों की भाँति रूस से उधार लिया हुआ नहीं।

वास्तव में उनकी दोनों कृतियों-'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य: नये प्रश्न' में समग्र आधुनिक साहित्य समाविष्ट हो जाता है और वे दोनों ग्रंथ प्रच्छन्न रूप में आधुनिक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का इतिहास बन जाते हैं।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त आधुनिक युग के साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण करने वाले अन्य ग्रंथ हैं, श्रीकृष्णशंकर शुक्ल द्वारा रचित 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'अर्द्ध शताब्दी का इतिहास', डा० केसरीनारायण शुक्ल कृत 'आधुनिक काव्य-धारा' श्री शिवदानसिंह चौहान द्वारा लिखित 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' आदि। किन्तु इन ग्रंथों की संख्या एक या दो होगी जिनमें कि साहित्य और युग, समाज और संस्कृति सम्यक् रूप में उपस्थित हुए हों—अविच्छिन्न रूप में रखे गये हों। शिवदानसिंह चौहान आलोचना में भी नवीनता की खोज में रहते हैं। अतः उन्होंने अपने इस ग्रंथ में भी हिन्दी-साहित्य को केवल अस्सी वर्ष प्राचीन ही बतलाया है और उसे अपनी लम्बी प्राकृत और अपभ्रंश से चली आई हुई परम्परा से अलग करके देखने का प्रयत्न किया है; जिसे अत्यन्त असामाजिक दृष्टिकोण ही कहना पड़ेगा। निष्कर्षतः यह कहना पड़ेगा कि सूर और तुलसी हिन्दी के कवि नहीं हैं वे तो व्रज और अवधी के कवि हैं,[1] शिवदानसिंह चौहान के इस असामाजिक दृष्टिकोण का उनके दल की ओर से भी कोई समर्थन नहीं मिला है। श्री कृष्णशंकर शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आधुनिक साहित्य का विश्लेषण परम्परागत ही है। श्री केसरीनारायण शुक्ल ने अवश्य अपनी 'काव्य-धारा' में सामाजिक और

१– हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष, प्रथम अध्याय।

सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रकाश में छायावादी युग का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

आधुनिक युग के साहित्य का प्रवृत्तिगत विश्लेषण डा० नगेन्द्र ने भी अपने कई आलोचना ग्रन्थों में किया है, यथा 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' 'आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' आदि। किन्तु ये सभी ग्रन्थ मुख्यतः आलोचना ग्रन्थ हैं, इनमें ऐतिहासिक तारतम्य खोजना उनके आलोचनात्मक स्वरूप के प्रति अन्याय होगा।

विधाओं का आलोचना साहित्य

इन्हीं दिनों साहित्य की अन्य विधाओं का भी सम्यक विकास हुआ। काव्य के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना आदि पर भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। किन्तु इन अनेक ग्रन्थों में ऐसे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है जिसमें इनका सम्यक विश्लेषण मिलता हो।

उपन्यास का आलोचक साहित्य आज हिन्दी के उपन्यासों का इतिहास भी अर्द्ध शताब्दी से कम का इतिहास नहीं है। इन पचास वर्षों में 'उपन्यास विशेष' पर लेखक विशेष पर तो अनेक अध्ययन प्रस्तुत हुए, किन्तु उपन्यास रचना पर, उसके शिल्प और गठन पर हिन्दी में नहीं के बराबर लिखा गया है। आलोचकों ने उपन्यासों पर यदि लिखा भी है तो कतिपय उपन्यासों की प्रशंसा कर दी है, कुछ को कोई मौलिक कृति कह देता है, और कुछ किसी को घटिया। आज हिन्दी में उपन्यास लेखकों की संख्या सैकड़ों में ही गिनी जाती है—इन सैकड़ों लेखकों का मार्ग प्रशस्त करने वाली हिन्दी में कितनी कृतियां हैं? फलस्वरूप कुछ लेखक पाश्चात्य साहित्य से ग्रहण कर उसे हिन्दी में उतारने की असफल चेष्टा करते हैं और कुछ लेखक घटिया प्रकार के उपन्यास लिखकर पाठकों को गुमराह करते हैं। हां, एक कृति डा० देवराज उपाध्याय कृत 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' अवश्य मिलती है उसमें भी मूल्यांकन ही अधिक किया गया है। सिद्धान्त की चर्चा कम। किन्तु जो मूल्यांकन है वह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और वैज्ञानिक। हिन्दी में यह पहला ग्रन्थ है जिसमें हिन्दी-कथा साहित्य को मनोवैज्ञानिक ढंग से समझने और उसका समुचित विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है—अन्यथा किसी को उपन्यास के शिल्प पर लिखना ही है तो वह अंग्रेजी के कुछ लेखकों हेनरी आर्थर जोन्स, जी० पी० बेकर, डब्ल्यू बीच, ई०एम० फास्टर

आदि की शिल्प सम्बन्धी धारणाओं को उद्धृत करते-करते पृष्ठ पर पृष्ठ भरता चला जायेगा और यदि अधिक ही किया तो श्री निवास दास से लेकर 'रेणु' तक नाम गिनाना प्रारम्भ कर देगा:—आज के उपन्यास शिल्प के समीक्षकों की सामान्यतः यही प्रवृत्ति रही है।

उपन्यासों पर भी डा० नगेन्द्र और आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने अपने कई आलोचनात्मक ग्रन्थों मे अच्छे समीक्षात्मक लेख लिखे है। किन्तु इनके इन लेखों मे उपन्यास-कला पर कम है कृति अथवा कृतिकार पर अधिक। सर्वश्री विनोदशंकर व्यास, रामरतन भटनागर, शिवनारायण श्रीवास्तव, गगाप्रसाद पाण्डेय, ब्रजरत्न दास आदि ने उपन्यास–शिल्प पर लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु ये प्रयत्न ही है और विद्यार्थियों की दृष्टि मे रखकर ही लिखे गये हैं; उपन्यास–लेखकों के लिए नहीं। अर्द्ध शताब्दी कम नहीं होती; इस अर्द्ध शताब्दी मे छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे, तिलस्मी से लेकर उच्चकोटि के मनोवैज्ञानिक और आंचलिक, अनुवादित और मौलिक उपन्यास कम से कम पच्चीस हजार निकले होंगे।

आवश्यकता तो यह थी कि इन पच्चीस हजार उपन्यासों की महती परम्परा का समुचित अध्ययन कर हिन्दी का उपन्यासकार अपना मौलिक शिल्प-निर्माण करता। जिस मौलिक शिल्प और महती परम्परा का अध्ययन कर हिन्दी का उपन्यास लेखक विश्व–साहित्य और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रकाश मे नये उपन्यासों की रचना करता।

हिन्दी मे 'वैज्ञानिक' और 'मनोवैज्ञानिक' ये दो शब्द कहकर ही लेखक अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। इस भांति शिल्प पर अत्यल्प लिखा गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है उपाध्याय जी ने ग्रंथ के 'आमुख' और 'विषय-प्रवेश' दोनों अध्यायों मे उपन्यास-शिल्प पर भी काफी प्रकाश डाल दिया गया है। ग्रन्थ का तेरहवां और चौदहवा अध्याय; 'आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिक वस्तु-संकलन' तथा 'उपन्यास-कला का अन्तर्प्रयाण' अत्यधिक महत्वपूर्ण है और ग्रंथ के प्राण है जिसमे कि लेखक ने मौलिक चिन्तन किया है।

उपाध्याय जी की यह कृति निश्चित ही हिन्दी के उदीयमान उपन्यासकारों का मार्ग प्रशस्त करने मे सक्षम है।

नाटक का आलोचना साहित्य

हिन्दी में नाटकों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन रही है। रीति काल में हिन्दी नाटकों का उदभव हो गया था। किन्तु उनका समुचित विकास भारतेन्दु-युग में ही हुआ। हिन्दी के पास संस्कृत का विकसित नाट्य शास्त्र की परम्परा थी, फलस्वरूप हिन्दी में नाटकों के सिद्धान्त पक्ष पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। हिन्दी में अच्छे अभिनय करने योग्य नाटकों की संख्या आज भी उंगलियों पर गिनने योग्य है पर जहां तक उसके आलोचना साहित्य का प्रश्न है, उस पर अच्छे-अच्छे ग्रंथ उपलब्ध हैं।

आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक आलोचना लगभग नहीं के बराबर की है हां उन्होंने मूल्यांकन ही अधिक किया है। नाटकों पर शुक्ल-काल में जो ग्रन्थ लिखे गये उनकी मौलिकता भी सन्दिग्ध ही है। बाबू श्यामसुन्दर दास का 'रूपक रहस्य', 'दश रूपक' का छायानुवाद है और जो अध्याय मौलिक से लगते हैं वे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और बड़थ्वाल जी द्वारा रचित है। यों भी इस कृति का महत्व केवल संस्कृत-नाटकों की रचना प्रणाली का अध्ययन और उसका परिचय प्राप्त करना ही है जिनका आज ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। 'रूपक रहस्य' में ही क्या, इसके पूर्व भी जितने नाट्य साहित्य पर ग्रंथ लिखे गये वे समस्त ग्रंथ संस्कृत के नाट्य-शास्त्र की परम्परा में ही लिखे गये, उनमें युगानुकूल नये परिवर्तनों का समावेश नहीं है अन्य ऐसे ग्रंथों में महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'नाट्यशास्त्र', पं० बलदेव प्रसाद मिश्र का 'नाट्य प्रबन्ध' चन्द्रराज भंडारी का 'नाट्य कला दर्शन', रमाशंकर शुक्ल का 'नाट्य निर्णय', दिनेशनारायण उपाध्याय का 'हमारी नाट्य परम्परा', शिखरचन्द्र भंडारी का 'नाट्य कला एवं साहित्य की रूप रेखायें', सेठ गोविन्ददास का 'नाट्य कला-मीमांसा', बाबू गुलाबराय का 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि विशेष उल्लेखनीय है।

इन आलोचना ग्रंथों में हिन्दी नाटकों के बारे में कितना है? संस्कृत के नाट्य के लक्षणों के अतिरिक्त इनका प्रतिपाद्य और क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं है। इनमें एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें व्यावहारिक रूप से नाट्य कला की ओर किसी लेखक ने संकेत किया हो। प्राचीन ढंग की शास्त्रीय विवेचना, दिशायें और संधियां खोजने का प्रयत्न नायक किस प्रकार करता है आदि आदि।

इन सैद्धान्तिक ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी-नाटकों के विकास के सम्बन्ध मे कुछ अधिक महत्वपूर्ण प्रकाश मे आये है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' है। यह एक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ है जिसमे हिन्दी नाटको के विकास का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया गया है। डा० गुप्त ने अपने इस विद्वतापूर्ण शोध-ग्रन्थ मे हिन्दी नाटको का उनके उदय से लेकर आधुनिक काल का इतिहास दिया है। लेखक ने नाटकों का विभाजन दो भागों मे किया है:—

(१) वे नाटक जिनका कि अभिनय किया जा सकता है और

(२) वे नाटक जो विशुद्ध रूप से साहित्यिक है।

डा० गुप्त का यह इतिहास केवल १९४२ तक के हिन्दी मे प्रकाशित होने वाले नाटकों का इतिहास है। परवर्ती नाटको का अध्ययन और उनकी ऐतिहासिक भूमिका का विश्लेषण होना शेष है।

हिन्दी मे आधुनिक नाटकों पर दो छोटी किन्तु महत्वपूर्ण कृतिया है। पहली कृति डा० एस० पी० खत्री कृत 'नाटक की परख' और दूसरी डा० नगेन्द्र कृत 'आधुनिक हिन्दी नाटक' है। इन दोनों कृतियो मे ही नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया है और नाट्य-साहित्य को परम्परा से मुक्ति दिलाई गई है।

'नाटक की परख' मे खत्री जी ने पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनो प्रकार के नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो का विश्लेषण कर एक समन्वयकारी दृष्टिकोण हमारे सम्मुख रखा है। दुःखान्त और सुखान्त नाटको के मनोवैज्ञानिक पक्ष का सम्यक विश्लेषण कर उन्हें युग और देश-काल सापेक्ष निरूपित किया है, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

डा० नगेन्द्र ने अपनी 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पुस्तक मे प्रसाद, प्रेमी, मिश्र आदि आधुनिक नाटककारो की कृतियों का भारतीय रसशास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रकाश में मूल्यांकन किया है। वस्तुतः यह पहली कृति है जिसमे नाटकों को मापने के लिए साहित्यिक आधुनिक प्रतिमानों का प्रयोग किया गया है। किन्तु यह कृति इतनी छोटी है कि इसमे बीसो महत्वपूर्ण नाटको और नाटककारो को उन्हें छोड़ देना पड़ा।

नाटको पर और भी अनेको ग्रन्थ लिखे गये। कई ग्रन्थ 'नाटककार विशेष पर' और कई 'नाटक विशेष पर' लिखे गये। ऐसे ग्रंथो मे प्रसाद पर और

प्रसाद के नाटकों पर लिखे जाने वाले ग्रंथों की संख्या अधिक है। कितनी ही पुस्तकें तो विद्यार्थियों के लिए लिखी हुई हैं। प्रसाद पर लिखी हुई पुस्तकों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त पुस्तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा कृत 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' है। इस ग्रंथ में डा० शर्मा ने प्रसाद के नाटकों के पात्रों की ऐतिहासिकता से लेकर उनके 'एक घूंट' तक की प्रेरणाओं पर बड़ी विद्वता से विचार किया है। किन्तु सारे नाटकों का मूल्यांकन प्राचीन पद्धति में ही बंधी बंधाई लीक पर हुआ है जिसके बारे में आचार्य वाजपेयी जी ने कहा है कि वे तो प्रसाद के नाटकों को शास्त्रीय नहीं मानते।[1] और वास्तव में बात भी ठीक है। प्रसाद जी नाटकों के क्षेत्र में भी नये युग के प्रवर्तक हैं। उनके जैसे स्वतन्त्रचेता पुरुष को शास्त्रों का ऐसा बन्धन तो निश्चित ही स्वीकार नहीं था जैसा कि डा० जगन्नाथ शर्मा ने बांधने का प्रयत्न किया है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अपने दोनों ग्रन्थों 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य नये प्रश्न' में प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र पर लेख लिखे हैं जिनमें हमें नाटकों की एक संतुलित आलोचना मिलती है।

आलोचना की आलोचना

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में आलोचना पर बहुत ही कम लिखा है। कुल मिलाकर १८ पृष्ठ। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण में इस अभाव की पूर्ति कर सकते थे इस काल तक हिन्दी की कितनी ही महत्वपूर्ण कृतियां प्रकाश में आ चुकी थीं। डा० नगेन्द्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों और निबन्धों द्वारा हिन्दी में नई आलोचना का सूत्रपात कर चुके थे। किन्तु आचार्य शुक्ल ने केवल १८ पृष्ठों में ही इस नई आलोचना के बारे में लिखकर इतिहासकार के कर्तव्य की इतिश्री कर दी।[2] जिन आलोचकों का इन पृष्ठों में जिक्र किया गया है वे शुक्ल धारा के ही हैं और जो उनकी पद्धति को स्वीकार नहीं करते थे उन पर एक-दो व्यंग्यबाण छोड़कर वे आगे बढ़ गए।

हिन्दी-आलोचना के विकास में शिवसिंह 'सरोज', मिश्र बंधु,

१- 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य नये प्रश्न' दोनों में

२- शुक्ल हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ६२३-६३१

पं० पद्मसिंह शर्मा तथा पं० कृष्णविहारी मिश्र के ऐतिहासिक कार्यों को नहीं स्वीकार करना एक कृतघ्नता ही होगी। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इन व्यक्तियों की यत्र-तत्र चर्चा भर की है।

हिन्दी-आलोचना पर आचार्य शुक्ल के बाद ही अधिक लिखा गया है। सर्वप्रथम प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने सन् १९४१ के लगभग 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी सदी' ग्रन्थ लिखा। इस ग्रंथ ने हिन्दी-आलोचना को एक नई दृष्टि प्रदान की। जहा इसमे बीसवी सदी के नई और पुरानी पीढ़ी के कवियो और लेखको पर आलोचना लिखी गई थी वही आचार्य शुक्ल, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि के साहित्यिक दृष्टिकोणो का भी बड़े ही निस्संग और निरपेक्ष भाव मे विश्लेषण कर उनकी नीतिवादिता, आदर्शप्रियता और एकांगी दृष्टिकोण का पहली बार उद्घाटन किया गया। वाजपेयी जी के 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य : नये प्रश्न' मे भी हिन्दी-आलोचना सम्बन्धी कई लेख हैं, जिनमे हिन्दी-साहित्य की आलोचना का विकास और उसका स्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आका गया है।

आचार्य शुक्ल पर तो हिन्दी के लगभग सभी प्रथम श्रेणी के और सभी वर्ग के आलोचको ने अपनी-अपनी विचारणाओ के अनुसार लिखा है, अज्ञेय जी से लेकर डा० रामविलास शर्मा तक ने आचार्य शुक्ल के साहित्यालोचन का मूल्याकन किया है और आज आचार्य शुक्ल पर ग्रथो का अभाव नही प्रतीत होता। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी ध्रुव सत्य है कि आचार्य शुक्ल के बाद का लगभग ३५ वर्ष के आलोचना-साहित्य पर हिन्दी पर बहुत कम ग्रथ है। यही नही आलोचना-सिद्धात पर डा० एस० पी० खत्री द्वारा रचित 'आलोचना-इतिहास तथा सिद्धात' तथा हिन्दी-आलोचना के विकास पर लिखा हुआ डा० भगवतस्वरूप मिश्र कृत 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' है।

डा० एस० पी० खत्री द्वारा लिखित 'आलोचना-इतिहास तथा सिद्धात' का क्षेत्र अत्यत व्यापक है और उन्होने यह ग्रथ आग्ल-साहित्य और हिन्दी-साहित्य के अनेको ग्रथो के मनन करने के पश्चात् लिखा है। ग्रंथ मे यूनानियो के आलोचनात्मक सिद्धातो से लेकर, आधुनिक युग-यथार्थवाद, सकेतवाद तक का एक ऐतिहासिक विकास विश्लेषित किया। इस विकास के साथ-साथ साहित्य विषयक विचार, कल्पना, छद प्रयोग-कला का आदर्श आदि का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। लेखक ने उक्त प्रथम खण्ड मे सम्पूर्ण पाश्चात्य

और पौरस्त्य आलोचना साहित्य के विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण करने का एक महान अनुष्ठान किया है। किन्तु इस ग्रंथ में वस्तुतः पाश्चात्य आलोचना साहित्य के विकास के सम्बन्ध में ही अधिक है, पौरस्त्य आलोचना साहित्य के बारे में कम—लगभग नहीं के बराबर है। डा० खत्री जैसे अंग्रेजी साहित्य के विद्वान से अपेक्षा तो यह थी कि वे पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचना-शास्त्र का एक तुलनात्मक ऐतिहासिक विकास अपने इस ग्रन्थ में निरूपित करते। किन्तु डा० खत्री का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उस ग्रंथ में यह सारा विश्लेषण आ जाना दुरूह सा ही था। हाँ—डा० खत्री ने अपने प्रस्तुत ग्रंथ में हिन्दी-आलोचना पर तो इतना कम लिखा है कि वह उपेक्षिता सी लगती है।

ग्रंथ के इतिहास खण्ड में आलोचना के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है जो मूलतः पाश्चात्य साहित्यकारों से ही लिए हुए हैं। इसी खण्ड में 'आलोचना के वर्गीकरण' भी एक अध्याय है जिसमें आलोचना के १३ प्रकार बतलाये गये हैं जो सर्वथा वैज्ञानिक हैं और पाश्चात्य साहित्य-संसार में भी जिन्हें आज कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। क्योंकि 'व्यक्तिवादी आलोचना प्रणाली', 'मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली' भी हो सकती है। वस्तुतः जो आलोचक होता है वह कृति और कृतिकार की महत्ता, उसकी अंतःप्रेरणा तथा उस कृति को जन्म देने वाले अन्य तत्वों के विश्लेषण के लिए अपना दार्शनिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न प्रकार के ज्ञान का उपयोग करेगा और उनमें निर्मित उसकी अपनी एक शैली होगी—इस शैली का अभिधान केवल आलोचक की अपनी शैली के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। डा० खत्री ने आलोचकों के वक्तव्य और उनके उत्तरदायित्व का अच्छा निरूपण किया है। यदि आलोचक अपने वास्तविक वक्तव्य और महान दायित्व के प्रति जागरूक नहीं है तो वह आलोच्य कृति और कृतिकार के प्रति न्याय नहीं कर सकता। डा० खत्री लिखते हैं—

"आलोचना चाहे साहित्य के किसी भी अंग की क्यों न हो उसे उसकी अन्तरात्मा को देखना चाहिए। संसार में जिस किसी विषय पर चिन्तन हुआ हो उसका निरूपण तथा प्रकाशन आलोचक का प्रमुख ध्येय होगा और इसी कार्य में योग्यता से काम लेना पड़ेगा तथा बहुत ईमानदारी बरतनी पड़ेगी, आलोचक को साहित्य के चिन्तन द्वारा सत्य तथा नवीन भावों का प्रसार करना चाहिए।

आलोचक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कहा-कहा किन-किन विषयों पर चिन्तन हुआ है, क्योंकि एक देशीय दृष्टिकोण में तो हानि की बहुत सम्भावना होगी कारण कि जिस किसी विचार विशेष पर आलोचक चिन्तन करेगा उस विचार विशेष पर किसी एक देश का ही एकाधिकार नहीं उस पर तो अन्यन्य देशों की विचारधारा का प्रभाव पड़ा होगा और इन बहुमुखी प्रभाव का लेखा भी उसे रखना पड़ेगा।"[1]

डा० खत्री ने इस भांति आलोचक के कर्तव्य और उसके दायित्व को बहुत महान सिद्ध कर दिया है। वस्तुतः आलोचक के लिए आलोच्य कृति का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे तो उस देश-काल और परिस्थिति, उसमें व्याप्त और विश्लेष्य विचारधारा और उसका अर्थ और समुचित विकास आदि का अध्ययन भी उसके लिए परम आवश्यक है। अतः आलोचक किसी कृति विशेष का भाषा और साहित्य विशेष को ध्यान में रखकर अध्ययन नहीं करता अपितु वह तो आलोचना के सार्वभौमिक और सर्वभाषीय प्रतिमानों के आधार पर ही कृति-विशेष का मूल्यांकन करता है।

'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत' हिन्दी-आलोचना की निश्चित ही एक महत्वपूर्ण कृति है; यह पहली कृति है जिसमें आलोचना के आधुनिकतम सिद्धान्तों का विस्तार और गहराई से विश्लेषण किया गया है।

डा० भगवत्स्वरूप मिश्र कृत 'हिन्दी-आलोचना उद्भव और विकास' ग्रन्थ, डा० एस० पी० खत्री के 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त' की भांति ही एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसे हिन्दी का पहला आलोचना-ग्रंथ होने का सौभाग्य प्राप्त है, जिसमें प्रथम बार हिन्दी-आलोचना का सम्यक विकास, इतिहासगत और प्रवृत्तिगत दोनों ही प्रकार से विश्लेषण किया गया है। यद्यपि ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप और हिन्दी-आलोचना के प्रारम्भिक स्वरूप में भरा हुआ है या यों भी कहा जा सकता है कि इस भाग में लेखक ने अधिकतर हिन्दी—आलोचना के उद्भव पर ही लिखा है। उत्तरार्द्ध हिन्दी-आलोचना के विकास पर लिखा गया है जिसमें ऐतिहासिक विश्लेषण कम प्रवृत्तिगत विश्लेषण ही अधिक है। आधुनिक आलोचना जो प्रवृत्तिगत विभाजन है वह भी अधिक तार्किक नहीं है। अज्ञेय

१— आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ० ५६७

और मार्क्सवादियों को छोड़कर सभी का सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में ले लिया गया है। इस भाँति डा० नगेन्द्र प० नन्ददुलारे वाजपेयी की कोटि में प० शान्तिप्रिय द्विवेदी का भी रख दिया गया है, जो कम समीचीन प्रतीत होता है।

सौष्ठववादी आलोचकों में मिश्र जी प्रतिनिधि रूप में प० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र को मानते हैं और इस शैली से डा० रामकुमार वर्मा डा० दीनदयाल गुप्त, डा० माताप्रसाद गुप्त, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि को भी इस पद्धति से असम्पृक्त नहीं बतलाया गया है।[1] अब इस विशेषधारा के आलोचकों की शैली के बारे में जो डा० मिश्र ने लिखा है वह द्रष्टव्य है –

"सौष्ठववादी आलोचकों ने भावुक, कल्पनाप्रधान और रहस्यमय शैली को अपनाया है। उन्हें यही शैली अपनी पद्धति और रुचि के अनुरूप प्रतीत होती है भावुकतामय एवं कल्पनाप्रधान होने के कारण सौष्ठववादी आलोचना कहीं-कहीं अस्पष्ट भी है।"[2]

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि की शैली वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक शैली रही है। हाँ—कहीं-कहीं डा० नगेन्द्र की आलोचना में सहृदयता का तत्व अधिक होने के कारण भावुकतामय हो जाती है पर आचार्य वाजपेयी की तो कहीं भी नहीं और फिर डा० दीनदयाल गुप्त, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० रामकुमार वर्मा आदि की शैली तो विशुद्ध गवेषणात्मक रही है भावुकतामय एवं कल्पनाप्रधान शैली कह कर डा० मिश्र इन साहित्य मनीषियों के आलोचना-ग्रंथों की महत्ता घटा ही रहे हैं। 'हिन्दी-आलोचना उद्भव और विकास' में सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों का क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया है। फलस्वरूप यह अध्याय पुस्तक का सर्वाधिक लचर अध्याय बन गया है। किन्तु इससे ग्रन्थ की महत्ता कम नहीं होती, ये तो केवल कुछ स्थल हैं। मिश्र जी ने कई स्थानों पर बिखरी हुई नाना प्रकार की सामग्री को एकत्रित कर हिन्दी-आलोचना के एक सुसम्बद्ध विकास का विश्लेषण किया जो निश्चित् ही आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'श्री भगवत्‌स्वरूप ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ को एक विकास मूलक

१– देखिये हिन्दी-आलोचना उद्भव और विकास, पृ० ४०१-४०२

२– वही, पृ० ४८१

भूमिका देने का उपक्रम किया है जो अनुशीलन के लिए आवश्यक है।'[1] इस भांति आलोच्य ग्रन्थ हिन्दी-आलोचना के लिए एक विकासमूलक भूमिका प्रदान करता है जो अपने आप मे महान है ।

कहानी की आलोचना

उपन्यासों की भांति आधुनिक कहानी-साहित्य भी हिन्दी के लिए नया ही है। कोई साठ वर्ष से अधिक समय नही बीता है, किन्तु इस छोटी अवधि मे भी हिन्दी मे पाच लक्ष से अधिक कहानियां लिखी गई होंगी और आज यह साहित्य हिन्दी के पाठकों मे सर्वाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। अतः कहानियों के आलोचकों के ऊपर एक बहुत बड़ा दायित्व आ पड़ा है। लेखक कहानी-रचना अत्यन्त ऋजु कार्य समझने लग गये है और बिना कहानी के रचना-शिल्प, कथानक पर समुचित मनन और तदनुकूल देशकाल का अध्ययन किये बिना ही कहानियों की रचना करने लग जाते हैं । परिणामस्वरूप आज इन पाच लक्ष कहानियों मे परिष्कृत रुचि के पाठक के लिये प्रथमकोटि की पाच सौ कहानिया भी मिलना सन्दिग्ध ही होगा । इसका मूल कारण क्या है ? क्यो घटिया कोटि की कहानिया प्रकाश मे आ रही हैं ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि आज कहानियों को अच्छे आलोचक नही मिल पा रहे है जो नवोदित कहानीकारों का मार्ग प्रशस्त करने मे सक्षम हो। प्रेमचद, प्रसाद, जैनेन्द्र, यशपाल, अश्क आदि की कहानी-कला पर तो हमे आसानी से किसी भी ग्रन्थालय से दो चार पुस्तकें प्राप्त हो जायेंगी, किन्तु कहानी-कला के सिद्धान्त पक्ष पर हिन्दी मे बहुत कम मिलेगा ; जो कि नये कहानीकारों के लिए सहज उपलब्ध हो। जो कुछ भी इस सन्दर्भ मे मिलता है वह एक दो ग्रन्थों को छोड़कर कहानी की पुस्तकों मे भूमिका के रूप मे ही मिलता है, जिसमे किसी पारदर्शी आलोचक के शिल्प के सम्बन्ध मे प्रौढ विचार न होकर लेखक का अपना दृष्टिकोण ही होता है ।

प्रेमचन्द जी ने 'कुछ विचार' के अन्तर्गत जो कहानी-कला पर लिखा है जो बाद मे 'साहित्य का उद्देश्य' में पुनः तीन अध्याय मे १ कहानी-कला २, कहानी-कला ३, कहानी-कला के नाम से सकलित किये गये हैं।[2]

१– हिन्दी-आलोचना उद्‌भव और विकास, पृ० १०

२– देखिये 'साहित्य का उद्देश्य' पृ० ३५–५३

इनमें हिन्दी-कहानियों के विकास से लेकर कहानी के शिल्प पर भी चर्चा है। प्रेमचन्द जी के कहानी के सम्बन्ध में जो विचार हैं वे अत्यन्त स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। वे शिल्प और रचना कौशल को कथानक की अपेक्षा अधिक महत्व नहीं देते। अतः उनके इस ग्रन्थ के तीनों अध्यायों में कहानी के शिल्प और परिवेश पर बहुत थोड़ा लिखा है और वे इन कहानी के तीनों अध्यायों में साहित्य के प्रति उनका अपना दृष्टिकोण क्या है इसी का विश्लेषण करते हैं। 'कहानी-कला' पर लिखते हुए वे कहते हैं—क्योंकि Realists अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं नहीं मिलता नजर नहीं आता बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो अपनी आंखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये। हां, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिये कि सत्य से दूर न जाना पड़े।[1], इस भांति तीनों निबन्धों में प्रेमचन्द ने कहानी कला पर बहुत थोड़ा और सामान्यतः का लिखकर शेष में अपने दृष्टिकोण का ही विश्लेषण किया है।

प० विनोदशंकर व्यास ने भी कहानी-कला पर एक छोटी सी पुस्तक लिखी है। किन्तु उसका विश्लेषण भी अत्यधिक सतही है। उसमें मोटे तौर पर कहानी के तत्वों का विश्लेषण कर कुछ विदेशी लेखकों की परिभाषायें दे दी गई हैं। इस कोटि की पुस्तकों का अभाव है।

डा० श्री कृष्णलाल कृत 'हिन्दी-साहित्य का विकास' में भी 'कहानी-कला' का विश्लेषण मिलता है।[2] और उन्होंने कहानियों का वर्गीकरण भी किया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

१– देखिए 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० ३९
२– देखिये 'हिन्दी साहित्य का विकास' का कहानी वाला अंश

- कहानी
  - कथा प्रधान
    - चरित्र प्रधान
    - घटना प्रधान
    - कार्य-प्रधान
  - वातावरण प्रधान
  - प्रभाव प्रधान
  - विविध कहानिया
    - हास्यपूर्ण कहानियां
    - ऐतिहासिक कहानियां
    - प्रकृतिवादी कहानियां
    - प्रतीकवादी कहानियां

कहानी-कला पर व्यावहारिक दृष्टि से सोचने पर यह विभाजन कुछ असंगत-सा ही प्रतीत होगा । क्योंकि कथा प्रधान कहानी में भी उत्कृष्ट कहानीकार कथानक पर उतना ही ध्यान देता है जितना कि वातावरण प्रधान कहानी में । इसके लिए यशपाल की 'मंगला' में लेखक वातावरण पर ध्यान न दे और 'रोज' में कथानक पर तो क्या ये दोनों कहानियां प्रथम कोटि की बन सकती थी ? निश्चित ही नहीं । अब तो इस प्रकार का विभाजन पाश्चात्य आलोचना में भी नहीं होता । कहानी तो कथा, वातावरण, शिल्प और परिवेश सभी का एक परिपाक है; अतः इस आधार पर उनका विभाजन असंगत ही है ।

डा० लाल ने यह ग्रंथ कहानी पर नहीं लिखा है यह विश्लेषण तो प्रच्छन्न सन्दर्भ के रूप में ही किया गया है ।

कहानी के शिल्प और परिवेश पर—उसके कला-पक्ष पर हिन्दी में दो ही ग्रंथ प्राप्य हैं:—

(१) डा० जगन्नाथ शर्मा कृत 'कहानी का रचना विधान' और

(२) डा० ब्रह्मदत्त का 'हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन' ।

डा० जगन्नाथ शर्मा ने इस ग्रंथ में कहानी के शिल्प और परिवेश का वैज्ञानिक और सूक्ष्म विश्लेषण किया है । उन्होंने अपने इस ग्रंथ में कथानक और शिल्प दोनों को ही समान महत्व दिया है । वे लिखते हैं,-"कहानी-रचना की प्रेरणा यदि ऐसे अनुभव, विश्वास अथवा चिन्तन पर आश्रित है जिसका मूलाधार जीवन का कोई तथ्य अथवा सत्य है, अथवा तद्विषयक कोई कल्पना है तो फिर कथानक की गति स्पष्ट एक रस, एक गति, सरल और

माधी होगी। कारण कार्य और परिणाम की योजना उतनी आवश्यक नहीं होगी जितनी कि उस सत्य अथवा तथ्य को किसी सुनिश्चित आसन अथवा पीठिका पर बैठाना। लेखक का सारा ध्यान केवल इसी बात म लगेगा कि जो तथ्य अथवा सत्य प्रभावोत्पादकता का मुख्य कारण बनाया जा रहा है, उस एसी परिस्थिति के बीच खड़ा किया जाय जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो। इसलिए ऐसी कहानियों मे वह परिस्थिति होगी और प्रभावान्विति का कारण रूप वह जीवन का सत्य होगा।"[1]

शिल्प और रचना-कौशल का यह मनोवैज्ञानिक महत्व हिन्दी म पहली बार प्रतिपादित हुआ। डा० शर्मा क इस ग्रन्थ मे कहानियों का विभाजन भी अधिक तर्कसगत है और उनकी विभिन्न अवस्थाओं का विकास मनोवैज्ञानिक सत्य लिए हुए है। कहानी का विकास भावना और मनोवेग की गति के समानान्तर होना चाहिए— दोनो की गति मे जब तक यह समानान्तरता का उन्मेष नहीं होता कहानी मृतप्राय हो सी रहती है।[2]

इस भांति कहानी-विधा पर यह ग्रंथ अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

डा० ब्रह्मदत्त न अपने 'हिन्दी कहानियो का विवेचनात्मक अध्ययन' म हिन्दी-कहानियो के ऐतिहासिक विकास का निरूपण प्रस्तुत किया है। कहानी-कला पर जो उनके विचार हैं उनमे अधिकतर पाश्चात्य विद्वानो की ही परिभाषायें और विभाजन दिये हुए हैं। लेखक भारतीय रुचि और हिन्दी की कई सौ श्रेष्ठ कहानियो क द्वारा अपने मौलिक प्रतिमान बनाने मे असम रहा है। कहानियो के प्रतिमान अभी भी हिन्दी में अनिश्चित-से ही हैं, अत श्रेष्ठ साहित्य के प्रतिमानो को ही कहानियों के आधारभूत प्रतिमान मानकर उनका निस्संग और निरपेक्ष विश्लेषण कर देना भी ग्रंथ और ग्रंथकार की साधारण सफलता नहीं कही जायेगी। इस मान्यता के आधार पर आलोच्य ग्रंथ की उपादेयता भी असदिग्ध ही है।

कृतिपरक और कृतिकारपरक आलोचना

विधाओं की आलोचना के साथ-साथ कृति विशेष और कृतिकार—विशेष पर भी अनेकों ग्रंथ लिखे गये।

१— कहानी का रचनाविधान डा० जगन्नाथ शर्मा, पृ० ५०

२— वही, पृ० ५२

वस्तुत. एक कृति का उसकी समग्र विशेषताओं—उसकी शक्ति और सीमाओं के साथ एक निरपेक्ष और सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना एक महत्वपूर्ण कार्य है। हिन्दी में इस शीर्षक के अंतर्गत आने वाली अनेकों पुस्तकें लिखी गई। किन्तु ऐसी पुस्तकें अधिकतर विद्यार्थियों के उपयोग के लिए ही हैं और अत्यन्त सामान्य कोटि की हैं। ऐसे ग्रन्थ अल्प संख्या में ही हैं जो हिन्दी के किसी जिज्ञासु पाठक अथवा लेखक की बौद्धिक तृषा को शान्त करने में सक्षम हों। कुछ महत्वपूर्ण कृतिपरक आलोचनायें ये हैं :— 'साकेत एक अध्ययन'— डा० नगेन्द्र, 'नूरजहाँ : एक अध्ययन'— डा० भगवतशरण उपाध्याय, 'प्रगतिवाद एक अध्ययन'—डा० धर्मवीर भारती, 'कामायनी का सरल अध्ययन, सत्यकाम विद्यालंकार, 'स्कन्द गुप्त'—एक अध्ययन— चन्द्रगुप्त एक अध्ययन, प्रेमाश्रय एक अध्ययन, 'कर्मभूमि : एक अध्ययन', 'गोदान : एक अध्ययन' आदि प्रेमनारायण टण्डन द्वारा लिखित तथा भवानी शंकर द्विवेदी कृत 'प्रिय प्रवास एक अध्ययन', लक्ष्मीनारायण टंडन कृत 'गुंजन एक अध्ययन, ऐसी बीसों कृतियों पर आलोचनायें लिखी गई हैं किन्तु इनमें प्रथम पाँच पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें अत्यन्त सामान्य कोटि की हैं और विद्यार्थियों के पाठ्यानुक्रम के अनुसार लिखी गई हैं। आलोचक स्वयं भी रचयिता होता है; अत. वह भी जो कृति लिखता है उसके पीछे एक प्रेरणा कार्यरत रहती है। यह सूत्र कि जिस कृति के पीछे जितनी महान प्रेरणा होती है, वह कृति उतनी ही महान होती है; आलोचक के ऊपर भी समान रूप से लागू होता है।

कृतिपरक आलोचना-पुस्तकों की ही भाँति कृतिकारपरक आलोचना-ग्रन्थों का भी अभाव नहीं है। हिन्दी के पचासों कवियों पर अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं। कुछ महत्वपूर्ण कृतिकारपरक आलोचना-ग्रन्थ ये हैं — डा० इन्द्रनाथ मदान कृत 'प्रेमचन्द—एक विवेचन' 'जयशंकर प्रसाद : चिन्तन और कला', डा० रामरतन भटनागर कृत— 'सूरदास : एक अध्ययन' 'तुलसीदास एक अध्ययन', 'केशवदास एक अध्ययन', 'कबीरदास एक अध्ययन', 'जायसी एक अध्ययन' परमेश्वरदीन वर्मा कृत 'विद्यापति एक 'अध्ययन, पद्मावती शबनम कृत' मीरा एक अध्ययन', अशोककुमार सिंह कृत, 'उद्धवशतक परिमिक्ति', गंगाप्रसाद सिंह कृत 'पदमाकर की साधना', कमल कुलश्रेष्ठ कृत 'मलिक मोहम्मद जायसी', गुणानन्द जुयाल कृत 'विद्यापति का अमर काव्य', तारकनाथ वाली कृत 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'महादेवी वर्मा', 'युगदृष्टा कबीर', दुर्गाशंकर मिश्र कृत

'सेनापति और उनका काव्य' आदि।

किन्तु ये सब कृतियाँ भी अत्यन्त सामान्य कोटि की हैं, इनमें हम आलोचना की वह गहराई नहीं मिलती जो कि हम एक आलोचक से अपेक्षा करते हैं।

दो महत्वपूर्ण इतिहास कृतियाँ

इतिहास पर कई कृतियाँ होते हुए भी अभी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अभाव ही है और आज भी ऐसी कृतियाँ नहीं हैं जिनमें शुक्ल जी के पश्चात् इस क्षेत्र में हुई समस्त गवेषणायें समाहित हों। एक हजार वर्ष से भी अधिक हिन्दी भाषा-भाषियों की महती सांस्कृतिक राजनैतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में इतने विशाल और प्राचीन साहित्य को मात्र ८१० पृष्ठों में ही आज तक सीमित रखना असमीचीन ही नहीं अपितु लज्जाजनक है। फलस्वरूप हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों की एक संस्था 'भारतीय हिन्दी परिषद' ने इस दिशा में कार्य करने की महती योजना बनाई है — "कोई एक लेखक सभी विषयों पर विशेषज्ञता की दृष्टि से विचार नहीं कर सकता। इसी कारण अधिकांश इतिहास-लेखकों में उपर्युक्त कठिनाई से बचकर निकल जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी को ध्यान में रखकर भारतीय हिन्दी परिषद ने एक मँझाले आकार के ऐसे इतिहास की योजना बनाई थी जो विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के सहयोग से प्रस्तुत किया जाय और जिसमें नवीनतम खोजों और व्याख्याओं का समुचित उपयोग हो सके।"[1]

वस्तुतः परिषद ने यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया है और उसका 'हिन्दी-साहित्य', द्वितीय खंड प्रकाश में भी आ गया है। इस कृति में हिन्दी-साहित्य के आरंभ से लेकर १८५० ई० (१९०० वि०) तक का हिन्दी-साहित्य का इतिहास दिया गया है। ग्रंथ १३ अध्यायों में विभक्त है जिनके लेखक अपने विषय के प्रकाण्ड पंडित हैं। ग्रंथ की राजनीतिक पृष्ठभूमि के लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लेखक डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना, नाथ पंथी साहित्य के लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, रासो काव्यधारा के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त, वीर काव्य के लेखक डा० टीकम

१— हिन्दी-साहित्य' द्वितीय खंड, प्रस्तावना पृ० ३

सिंह तोमर, संत-काव्य के लेखक डा० रामकुमार वर्मा, सूफी प्रेमाख्यान साहित्य के लेखक पं० परशुराम चतुर्वेदी, रामकाव्य के लेखक डा० व्रजेश्वर वर्मा, रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र के लेखक डा० भगीरथ मिश्र, नीति तथा जीवनी-साहित्य के लेखक डा० भोलानाथ तिवारी, जैन साहित्य के लेखक श्री अगरचंद नाहटा, राजस्थानी साहित्य के लेखक श्री उदयसिंह भटनागर, मैथिली साहित्य के लेखक डा० उदयनारायण तिवारी एवं श्री मन्नारायण द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य के लेखक सैयद मसी हुज्जमा, पंजाबी-साहित्य के लेखक डा० हरदेव बाहरी हैं।

सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य लेखकों ने १८५० ई० तक के उस एक हजार वर्ष के सम्पूर्ण काल को एक अविभाज्य इकाई के रूप में ग्रहण किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं:— "इतिहास-लेखकों ने इस काल को साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर अनेक काव्यों और शाखाओं में विभक्त किया है, परन्तु उस विभाजन के विषय में सदैव मतैक्य नहीं माना जाता। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां प्रायः १८५० ई० तक चली आती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ही उसमें एक ऐसी स्थिरता दिखाई देती है जो पुराने युग के अंत और नवीन युग के आगमन की द्योतक है।"[1]

डा० धीरेन्द्र वर्मा का उपर्युक्त वक्तव्य इन ग्रन्थ के लिए ही लागू हो सकता है; क्योंकि इस ग्रन्थ के लेखकों ने ही अपने कई ग्रन्थों में विभाजन स्वीकार किया है। निश्चित ही विभाजन के विषय में सदैव मतैक्य नहीं पाया जाता, किंतु यह भी सत्य है कि विभाजन के आधारों को भी अतार्किक और असंगत निरूपित नहीं किया जा सकता। आचार्य शुक्ल ने जो काल विभाजन के आधार दिये हैं कि उन्हें भी तो किसी लेखक ने अवैज्ञानिक नहीं सिद्ध किया। आचार्य शुक्ल ने काल विभाजन के जो आधार दिये हैं वे इस भांति हैं:— "जिस काल खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी वह एक अलग काल मान लिया गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ढंग के ग्रंथ बहुत अधिक प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की सत्ता उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी

१— 'हिंदी-साहित्य' द्वितीय खंड, प्रस्तावना, पृ० ४

जायेगी चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।"[1] यद्यपि आचार्य शुक्ल के विभाजन के आधार उपर्युक्त छोटे आधारों के अतिरिक्त लोक में प्रचलित मानसिक, राजनैतिक और सामाजिक मान्यतायें भी हैं जिनका कि उन्होंने जिक्र नहीं किया। इतिहासकारों ने इन मान्यताओं के विरोध में कोई तर्क नहीं दिये। १८५० के पूर्व भी भारतीय संस्कृति ऐसी कितनी ही अवस्थाओं में से होकर गुजरी थी कि जिनमें हम पार्थक्य की कई रेखायें खींच सकते हैं। सं० १७०० वि० सं० निश्चित ही हमारी संस्कृति में एक ठहराव आया है— वह कुछ मन्दा हुई है।

किन्तु यह प्रयोग भी अपने आप में निश्चित ही स्तुत्य है। यह तो दृढ़ सत्य है कि युगीन विभाजन के उपरान्त भी हिन्दी-साहित्य में एक अविच्छिन्नता है और यह १८५० तक या यदि लोकसाहित्य का समुचित अध्ययन किया जाय तो यह अविच्छिन्नता आज भी स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होगी।

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व इसमें है कि जनपदीय बोलियों के साहित्य का हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक आधार पर उसके विकास का निरूपण किया गया है। हाँ, राजस्थानी और मैथिली साहित्य के साथ साथ मालवी, भोजपुरी, बुन्देली आदि के विकास पर भी इसमें एक एक अध्याय और होता तो निश्चित ही ग्रन्थ की उपादेयता और अधिक सिद्ध होती।

इस इतिहास के पूर्व घोषणानुसार दो खंड और प्रतीक्षित हैं। प्रथम खंड में 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' की भूमिका के रूप में हिन्दी प्रदेश का पूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक इतिहास रहेगा और तृतीय खंड १८५० ई० के बाद के साहित्य से सम्बन्धित होगा।

हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास

भारतीय हिन्दी परिषद' के 'हिन्दी साहित्य' से भी महान् योजना 'काशी नागरी प्रचारिणी' की हिन्दी-साहित्य के वृहत इतिहास की योजना है। इस योजना के अनुसार 'हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास' सत्रह भागों

१– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३

में प्रकाशित होगा। प्रत्येक भाग के भिन्न-भिन्न सम्पादक और लेखक होंगे। प्रत्येक भाग के लेखक और उसका सम्पादक उस विषय–विशेष का न केवल विशेषज्ञ और मर्मज्ञ होगा अपितु वह उस विषय-विशेष का निर्विवाद रूप से अधिकारी–विद्वान भी होगा। इन सत्रह भागों के सम्पादक इस भांति होंगे।

(१) 'हिन्दी-साहित्य की पीठिका' के सम्पादक डा० राजबली पाण्डेय।

(२) 'हिन्दी-भाषा का विकास' के डा० धीरेन्द्र वर्मा।

(३) 'हिन्दी-साहित्य का उदय और विकास' १४०० वि० तक के डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

(४) भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००-१७०० वि० के पं० परशुराम चतुर्वेदी।

(५) भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००-१७०० वि० के पं० चन्द्रबली पाण्डेय।

(६) श्रृंगार काल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि० के डा० नगेन्द्र।

(७) श्रृंगार काल रीतिमुक्त के पं० ।

(८) 'हिन्दी-साहित्य का अभ्युत्थान' (भारतेन्दु-काल) १९००-५० के डा० विनयमोहन शर्मा।

(९) 'हिन्दी-साहित्य का परिष्कार' (द्विवेदी काल) १९५०-७५ के डा० रामकुमार वर्मा।

(१०) 'हिन्दी-साहित्य का उत्कर्ष काल' (काव्य) १९७५-९५ वि० के पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

(११) 'हिन्दी-साहित्य का उत्कर्षकाल' (नाटक) १९७५ से ९५ वि० के श्री जगदीशचन्द्र माथुर।

(१२) 'हिन्दी-साहित्य का उत्कर्षकाल' (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५-९५ के डा० श्रीकृष्णलाल।

(१३) 'हिन्दी-साहित्य का उत्कर्षकाल' (समालोचना-निबन्ध) १९७५-९५ वि० के श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु।

(१४) 'हिन्दी साहित्य का अद्यतनकाल' १९९५-२०१० वि० के डा० रामअवध द्विवेदी।
(१५) 'हिन्दी में शास्त्र तथा विज्ञान' डा० विश्वनाथप्रसाद
(१६) 'हिन्दी का लोक साहित्य' के म० प० राहुल सांकृत्यायन तथा
(१७) 'हिन्दी का उन्नयन' के सम्पादक डा० सम्पूर्णानन्द होंगे।

निश्चित ही जब यह महती योजना कार्यान्वित हो जायगी तब हिन्दी साहित्य का एक बहुत बड़ा अभाव पूरा हो जायगा। अभी तो जिस विधि से इसका प्रथम भाग और षष्ठ भाग प्रकाश में आया है उसमें सहज ही इस योजना का महत्व समझा जा सकता है।

प्रथम भाग हिन्दी-साहित्य की पीठिका के रूप में डा० राजबली पाण्डेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो चुका जिसके प्रथम खंड भौगोलिक, राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति के लेखक डा० राजबली पाण्डेय हैं। द्वितीय खंड 'साहित्यिक आधार तथा परम्परा' के लेखक डा० भोलाशंकर व्यास हैं तृतीय खंड 'धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परम्परा' के लेखक प० बलदेव उपाध्याय हैं चतुर्थ खंड कला तथा पंचम खंड—वाह्य सम्पर्क तथा प्रभाव इन दोनों खंडों के लेखक पं० भगवतशरण उपाध्याय हैं।

इसके विषयों और उनके लेखकों की उपयुक्त तालिका देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लेखक न केवल भूगोल, राजनीति, संस्कृति, दर्शन और इतिहास के ही प्रकांड पंडित हैं वरन इनकी पहुँच साहित्य में भी उतनी ही गहरी है। फलस्वरूप ग्रंथ में राजनीति, भूगोल, इतिहास आदि से तात्पर्य वह विज्ञान नहीं जिसमें लेखक सिद्धान्तों, जड़ प्रकृति और स्थित आँकड़ों का ही लेखा-जोखा नहीं है, अपितु स्थिति विशेष द्वारा लोक के मन पर उसके अन्तर चेतन की भीतरी पत पर जो प्रभाव पड़ते हैं उसका विश्लेषण ही लेखकों का मूल उद्देश्य है। डा० पाण्डेय ने ठीक कहा है—"किसी भूगोल शास्त्री अथवा वैज्ञानिक के लिए भौगोलिक स्थिति प्रकृतिमात्र है। किन्तु साहित्यिक के लिए उसके अनुभव का क्षेत्र है जिसके ऊपर उसकी प्रतिक्रिया होती है और जिसको वह अर्थ और मूल्य प्रदान करता है।'[1]

७८३ पृष्ठों का यह ग्रंथ निश्चित ही अपने आप में एक पूर्णता लिए

१— हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ६

हुए है। डा० पाण्डेय ने अपने प्रगाढ़ ऐतिहासिक अध्ययन के माध्यम से हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य का अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु डा० भोलाशंकर व्यास ने सिद्ध सामंत युग का विभाजन प्रवृत्तिगत न कर भाषागत विभाजन किया है, हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों एवं विद्वानों को यह विभाजन कहां तक उपयुक्त लगेगा नहीं कहा जा सकता।[1] डा०भगवतशरण उपाध्याय का विश्लेषण अत्यधिक वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय है; वे समाज को केन्द्र में लेकर चले है जो साहित्य के इतिहासकार के लिये एक आवश्यक बात है। हिन्दी-साहित्य का वृहत इतिहास षष्ठ भाग रीति-काल, रीतिबद्ध काल डा० नगेन्द्र के सपादकत्व में प्रकाशित हो चुका है। पूर्व घोषणानुसार इस भाग का नाम श्रृङ्गारकाल (रीति बद्ध) न रखकर रीतिकाल; रीतिबद्ध काव्य रखा गया है। डा० नगेन्द्र ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा है— 'अनेक कारणों से हमने परम्परा सिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है। श्रृङ्गारकाल (रीतिबद्ध)नहीं। यों तो दोनों में कोई मौलिक भेद नही है फिर भी श्रृङ्गार की अपेक्षा रीति शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है।'[2]

वस्तुतः श्रृङ्गार में युग की वह रीति और रूढ़ी नहीं आती है जो कि चिन्तामणी त्रिपाठी से लेकर दो सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक बिना किसी अवरोध तक प्रवहमान रही। डा० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में इस ग्रंथ के लेखक भी रीतिकाल के ख्याति प्राप्त विद्वान रहे है। ये विद्वान डा० नगेन्द्र, डा० भागीरथ मिश्र, डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० ओमप्रकाश, डा० सत्यदेव चौधरी, डा० मनमोहन गौतम, डा० बच्चन सिंह, डा० अम्बाप्रसाद सुमन, डा० महेन्द्रकुमार है।

५,७५ पृष्ठो के इस ग्रंथ में रीतिकाल की रीतिबद्ध धारा का सम्यक विश्लेषण हो गया है। कवि और आचार्यो के सम्बन्ध में इससे पूर्व इतने अधिकृत रूप से नहीं लिखा गया। डा० नगेन्द्र ने जो अपने इस ग्रंथ में गुण बताये है वे गुण वास्तव में कोई आत्मश्लाघा न होते हुए यथार्थ ही है। वे लिखते हैं:—

"यहां यह भी निवेदन करना अनुचित न होगा कि हमारे इस विनम्र

१– हिन्दी-साहित्य का वृहत इतिहास खंड २, अध्याय २

२– हिन्दी-साहित्य का वृहत इतिहास षष्ठ खंड संपादकीय वक्तव्य

प्रयास में कतिपय गुण भी हैं—जैसे (१) हिन्दी रीति काव्य की प्रवृत्तियों का ऐसा विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा, (२) रीति-काव्य के कला वैभव का इतना माग विश्लेषण इसके पूर्व नहीं हुआ। (३) रीति-आचार्यों का इतना सटीक और सप्रमाण परीक्षण पूर्ववर्ती किसी इतिहास ग्रंथ में नहीं है। (४) प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसे अनेक रीति-कवियों के जीवन परिचय तथा कवित्व एवं आचार्य कर्म का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसका अन्यत्र उल्लेख मात्र है या उल्लेख भी नहीं है।

इस भांति हिन्दी-साहित्य के वृहत् इतिहास का षष्ठ भाग रीति-काल रीतिबद्ध काव्य निश्चित ही अभी तक के इतिहास ग्रंथों में तथा इस विषय पर लिखे गये ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ है।

१२

आलोचना की नवीन दिशा

हिन्दी-साहित्य शनैः शनैः वादों से मुक्त हो रहा है और उसमे स्वतन्त्र चेतना अपने सम्पूर्ण वेग मे पुष्पित हो रही है । अब हिन्दी का आलोचक अपने आपको किसी वाद विशेष का अनुगामी अथवा व्याख्याकार कहने में सम्मान नही समझता और पाठक तो वादगत वृत्तियो से घृणा ही करने लगे हैं। किन्तु इसका कारण यह नही कि हिन्दी-साहित्यकार अथवा उसका प्रबुद्ध पाठक-वर्ग किसी ठोस, बौद्धिक एवं वस्तुनिष्ठ चिन्तना से पलायन करना चाहता है अथवा वह अपनी ही केंचुली मे उलझा रहकर एवं अपने आप को निरपेक्ष और निस्संग कहकर किसी विचारधारा पर विचार करना ही नही चाहता है। घोर व्यक्तिवादी सत्य भी लेखक मे उस भावना की अनिवार्यता मानता है कि वह शेष विश्व से अनिवार्यतः अनुस्यूत है ।[1] और फिर आलोचक तो जीव और जगत को अपने विवेक की सीमा मे समग्रता लिये हुए होता है। वह केवल पाठकवर्ग के मानस पर काव्य-जन्य प्रभावों का विश्लेषण ही नही करता वह इस तथ्य से भी पाठक को सावधान करता है कि किस प्रकार का साहित्य किस भांति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसमे किस प्रकार के दृष्टिकोण का उन्मेष कर रहा है और वह दृष्टिकोण उसके लिए अथवा समाज के लिए हितकर है अथवा अहितकर। इस भांति उत्कृष्ट प्रकार की निरपेक्ष आलोचना कृति मे ध्वनित उन आस्थाओ और विश्वासों

1– What is literature by Jean Paul Sartre

का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करती है और पाठक के सम्मुख लेखकों के विचारों और विश्वासों का स्पष्ट उदघाटन करती है जिनकी स्वीकृति द्वारा पाठक स्वयं को और अपने समाज को स्वस्थ जीवन प्रदान करने में सक्षम हो। डा० नगेन्द्र ने इस सन्दर्भ में आलोचना शास्त्र को व्याप्ति प्रदान करते हुए उसकी बड़ी सुन्दर परिभाषा की है।

"काव्यशास्त्र वस्तुतः काव्य सम्बंधी तथ्यों अथवा नियमों का आकलनमात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसंधान एवं उपलब्धि है।"[1]

'अत: इस व्यक्त मानव-सत्य का अनुसंधान न तो वह अपने अन्तश्चेतना की किसी निगूढ़तम पर्त में दबी हुई कुण्ठाओं का आधारभूत मानकर ही कर सकता है और न किसी सामाजिक धारणा विशेष की लौहकारा में बन्दी रह कर ही। उसे तो इन दोनों से ऊपर उठकर विशुद्ध मनुष्यता के धरातल पर आना होगा। उसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य उस सीमा तक भी अभीष्ट नहीं कि वह उच्छृंखलता का स्वरूप धारण करे और वह समाज की मर्यादा को भंग कर अराजकता में परिणित हो जाय। आज की हमारी नवीन आलोचना में इस तत्व के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व दोनों में बराबर हिन्दी के सुधी आलोचकों द्वारा एक सतुलन स्थापित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। डाक्टर जगदीश गुप्त ने इस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का मार्मिक विश्लेषण करते हुए लिखा है

"समाज की चरम सार्थकता सामूहिक रूप में मानव-व्यक्तित्व के विकास में निहित है, क्योंकि व्यक्ति उसकी अनिवार्य इकाई है। समाज का कोई भी आदर्श, चाहे वह पूँजीवादी हो चाहे अधिनायकवादी अथवा कुछ और, जो भी इस मौलिक तत्व की उपेक्षा करेगा वह भावी कल्याण के नाम पर उसके अकल्याण की परिस्थितियों का संगठन करेगा। यदि व्यक्ति स्वयं विवेकशील नहीं है तो सामाजिक परिवेश में उसकी स्वतंत्रता किसी न किसी रूप में मर्यादित अवश्य होनी है।"[2]

१– आलोचना–१४, 'हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र (सम्भावनायें) डा० नगेन्द्र

२– आलोचना–१६–साहित्य सृजन नियतिवाद के विरुद्ध उद्घोष

इस विवेक सम्पन्न व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करने में हिन्दी के किसी भी वर्ग के आलोचक को कभी भी कोई हिचक नहीं रही । आज क्या तो हिन्दी का आलोचक और क्या उसके द्वारा निर्मित और रुचि परिष्कृत पाठक पाश्चात्य जगत की इन दो अति समाजशास्त्रीय विचारणाओं के प्रति पूर्णतः जागरूक है । वस्तुतः ये दोनों ही व्यक्ति और समाज में एक गहरी खाई पैदा कर रहे हैं और दूसरे में असामञ्जस्य उत्पन्न कर रहे हैं जो आज के साहित्य के लिए अत्यन्त घातक और प्रगतिशील ही सिद्ध हो रहे हैं । इस सन्दर्भ में डा० रांगेय राघव का वक्तव्य द्रष्टव्य है :

"सिद्धांत के रूप में जो इतना सहज है उसकी अभिव्यक्ति निम्न-लिखित रूपों में उपस्थिति प्राप्त करती है :

(१) वे लोग जो वर्ग संघर्ष के माध्यम से साहित्य और मनुष्य को यांत्रिक बनाते हैं वे रूढ़िवादी दृष्टिकोण से देखते हैं ।

(२) वे लोग जो आत्मवाद के नाम पर व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बनाकर वे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखते हैं ।

पहला सम्प्रदाय जड़वादी है, दूसरा वास्तविकता को झुठलाने वाला । पहला अपनी बात को अन्तिम सत्य मानता है, दूसरा संशयवादी है । पहला रूसी साम्यवाद को ज्यों का त्यों भारत पर लागू करता है, दूसरा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या से ही बरगला उठता है । पहला समाजीकरण में व्यक्ति को अस्वीकृत करता है, दूसरा व्यक्ति के नाम पर समाजीकरण का तिरस्कार करता है । पहले शताब्दियों से चले आये मनुष्य की अपूर्व गाथा को यन्त्रवत् देखता है, दूसरा आज के विकास को अस्वीकार करके किसी प्रकार का भी तारतम्य स्वीकार नहीं करना चाहता । पहला कुत्सित समाजशास्त्री है, दूसरा समाजशास्त्र को नहीं मानता । इन दोनों का रास्ता ही ठीक है ।"[1]

हिन्दी-आलोचनाशास्त्र आचार्य शुक्ल से लेकर आज तक यही मध्यम मार्ग अपनाता रहा है । जो हिन्दी को परम्परा के रूप में संस्कृत का उन्नत समीक्षा-शास्त्र मिला, आधुनिक हिन्दी-आलोचनाशास्त्र उसी का विकसित स्वरूप है । उसमें न तो व्यक्ति के महत्व को—उसकी इयत्ता को ही अस्वीकार किया और न समाज को ही व्यक्ति से सर्वथा अलग कर उसके स्वातन्त्र्य का

१– आलोचना–१४, साहित्य का स्थायी मूल्य, डा० रांगेय राघव,

हरण किया। यही कारण है कि आज हिन्दी के पास उसका अपना सशक्त आलोचनाशास्त्र है जो न तो पश्चिम की अतिवादी चिन्ताओं के आधार पर ही साहित्य का मूल्यांकन करता है और न उसे अपनी उन गलित परम्पराओं से ही मोह है जो साहित्य को मात्र शिल्प तक ही सीमित कर देता है।

केवल कतिपय तथा कथित प्रगतिवादी एवं कुछ अभिव्यक्तिवादी आलोचकों (जिन्हें कि आज का लब्ध बोध पाठक घृणा करता है) के अतिरिक्त हिन्दी के समस्त सुधी आलोचक इन अतिवादी विचारणाओं को त्यागकर आलोचना में एक सम्यक्ता, सन्तुलन और उदात्त मानवीय दृष्टिकोण की अवतारणा के पक्ष में ही हैं। हिन्दी का अधुनातन आलोचना साहित्य आज विभिन्न आदर्शों के घात संघात एवं मतवादों के तुमुल कोलाहल के बीच भी ऐसे प्रतिमानों का निर्माण कर रहा है जो पाठक को एक ऐसा साहित्य पढ़ने को प्रेरित करे जिसके द्वारा वह एक स्वस्थ, सजीव एवं गतिशील समाज की रचना करने में सक्षम हो। वह ऐसे साहित्य को—उसकी उन विशेषताओं को प्रकाश में लाने में पाठक की सहायता करे जिससे कि वह उच्चादर्शों के प्रति आस्थावान बने उसमें श्रद्धा और शील जो कि बीज के रूप में उसमें निहित रहते हैं वे पल्लवित और पुष्पित हों और वह मानव कल्याण वनी हो।

मानगत स्थैर्य

प्राय यह कहा जाता है कि आज के युग की नैतिकता को गत युग के नैतिक मानों से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। और इसी सूत्र को आलोचकगण साहित्य और संस्कृति पर लागू कर देते हैं। वे भी मोटे रूप में यथार्थ से अधिक दूर नहीं हैं। क्योंकि युग और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन होता है और आज जब कि हमारा समाज एक संक्रान्ति काल से गुजर रहा है इन प्रतिमानों के परिवर्तन की गति और भी क्षिप्र हो गई है। फलस्वरूप साहित्य जो कि उसके रचयिता व्यक्ति और उसको प्रभावित करने वाला समाज तथा युगीन परिस्थितियों में अविच्छिन्न रूप से अनुस्यूत है उसको परखने के प्रतिमानों में भी परिवर्तन आना आवश्यक है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि

साहित्य के प्रतिमानों में स्थिरता की बात नितान्त असंगत और अतार्किक है। साहित्य के प्रतिमान तो देश-काल और युगीन परिस्थितियों में बदलते रहते हैं और जब तक इनके प्रकाश में साहित्य का मूल्यांकन नहीं करते तब तक का किसी कृतिकार अथवा उसकी किसी कृति विशेष के साथ निरपेक्ष होकर न्याय नहीं कर सकते।

किन्तु साहित्यालोचन के लिए उपर्युक्त कथित यथार्थ साहित्य को तद्युगीन सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की पार्श्वभूमि मूल्यांकित करना, अपने आपमें एक ऐसा प्रतिमान बन गया है जो स्थिरता प्राप्त करता जा रहा है। कतिपय घोर व्यक्तिवादियों के अतिरिक्त जो कि प्रायः व्यक्ति की अन्तश्चेतना की काल्पनिक वर्जनाओं और कुण्ठाओं के आधार पर साहित्य का विश्लेषण करते हैं प्रायः सभी आलोचक इस प्रतिमान को एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

हाँ, शिल्पगत प्रतिमान इस स्थैर्य के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। उसके कथ्य का परिवेश तो जितना नूतन और मौलिक होगा पाठक उतना ही उस कृति में आनन्द लेगा। किन्तु उसके इस प्रतिपादन की नूतनता और मौलिकता में अनुक्रम, अंग-संगति और बोधगम्यता अनिवार्य है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कृतिकार जब अपनी आत्मानुभूतियों और मन्तव्यों को अभिव्यक्ति देता है तब उसे नाना सौन्दर्य-प्रसाधनों से नए प्रतीकों नवीन उपमानों और नवल बिम्बों (इमेजेज) में उन्हें एक नई रमणीयता प्रदान करता है। यह रमणीयता न केवल 'ब्रह्मानन्द सहोदर' ही होती है अपितु उसमें सत्व का उद्रेक भी करती है। साहित्यकार का यह क्रम अनादि है।

आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात की परीक्षा करे कि कृतिकार अपने कथ्य को यह रमणीयता प्रदान करने में समर्थ हुआ है अथवा नहीं। आज का आलोचक इस तत्व के प्रति जागरूक है। और इस भांति साहित्य को मापने का यह मान भी स्थायित्व ग्रहण करता जा रहा है।

साहित्य के वे मान जिनमें कि आज हमें स्थैर्य के दर्शन हो रहे हैं, साहित्य का प्रयोजन प्रमुख है। साहित्य का प्रयोजन क्या है? आज हमारे आलोचक ऐसे साहित्यकारों से पूर्णतः सावधान हैं जो यह मानते हैं कि

साहित्यकार के लिए प्रयोजन की कोई सीमा रेखा नहीं है और न होना चाहिए। साहित्य सृष्टि के ऊपर किसी प्रकार का अंकुश या नियंत्रण होने से साहित्य राजनीति का अनुगामी बन जायगा। साहित्य तो सृष्टि की अन्त प्रेरणा से स्वत स्फूर्त होता है। साहित्य का प्रयोजन स्वयं साहित्य है।[1]

हमारा आलोचक साहित्य का यह निरा कलावादी दृष्टिकोण स्वीकार नहीं करता। वह तो साहित्य का मूल प्रयोजन लोकमंगलकारी आनन्द ही स्वीकार करता है। यह तो गोस्वामी जी का निश्चित मत है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

इस भांति काव्य-सृजन का प्रथम उद्देश्य तो 'सब कह हित होई' ही है वस्तुत अनहित के उद्देश्य को कोई भी विवेकपूर्ण कलाकार अपनी कला से बहिष्कृत नहीं कर सकता। हमारे सारे दर्शन और जीवन के विचार, केवल इसी मूलाधार पर टिके हुए हैं और वह मूलाधार—मनुष्य का ही कल्याण है। हमारे सारे पुरान और मध्यकालीन धर्म भी इसी सत्य पर आश्रित हैं। महाभारत-कार की जिजीविषा वस्तुत इसी सत्य को ध्वनित करता है।[2] यही कारण है कि आज भी साहित्य का वट उतना ही हरा, वैसा ही पल्लवित और उतना ही पुष्पित है जितना कि आज से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व था।

अत हिन्दी का आलोचक साहित्य में इस जीवन्त सत्य में अपनी आस्था प्रकट करता है। वह साहित्य को कभी भी अप्रयोजनीय नहीं मानता।

इन सब प्रतिमानों के अतिरिक्त साहित्य के लिए एक और अनिवार्य तत्व है और वह है साधारणीकरण। यद्यपि हमारे प्रयोगवादी साहित्यकार इसे भी कम महत्व देने लगे हैं किन्तु इनके अतिरिक्त प्रायः हिन्दी के समस्त सुधी आलोचक साहित्य का इसे अनिवार्य तत्व मानते हैं और लेखक की सफलता और असफलता का मूल प्रतिमान साधारणीकरण ही है।

लेखक किसके लिए लिखता है ? क्यों असंदिग्ध रूप से एक ही हैं

१— कल्पना, दिसम्बर' ५८—साहित्य में आदर्श संघर्ष श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र
२— आलोचना—१४, साहित्य का स्थायी मूल्य—डा० राघव राघव

वह पाठक के लिए लिखता है। वह चाहता है कि उसकी कृति लक्ष-लक्ष हाथों में जाये और वे भी उसे पढ़कर और देखकर उसके साथ अपना तादात्म्य करें, वे भी तद्रूप हो जाँय। मैं उसे साहित्य का आधारभूत सिद्धान्त मानता हूं। जब कृतिकार और सहृदय, दोनों की अनुभूतियां या वासनात्मक भावनायें, साधारणीकृत अवस्था में एक दूसरे में लय हो जाती है, तभी यह मानने में कोई सकोच अथवा बाधा नही होगी कि कवि और भावक का पूर्ण तादात्म्य रसानुभूति के स्तर पर हो गया है। जितने अंशों मे पाठक लेखक के साथ हैं उतने ही अश मे वह कृति सफल है। आज का हिन्दी-आलोचक साधारणीकरण के लिए यह परमावश्यक मानता है कि काव्यगत भावों में यथेष्ठ सचाई, गहराई और ज्वलनशीलता रहे तथा उनकी अभिव्यंजना भी मर्मस्पर्शी रहे। जिससे भावक मे कृति के अनुरूप वासनात्मक भाव-स्रोत सबलता पूर्वक उद्वेलित हो सकें। यह तत्व ऐसा है कि सहज ही कृति के आनन्द को सार्वजनीन बना देता है। पाश्चात्य साहित्य में भी इसी बात का द्योतक है।

आज जो नई कविता के पाठक नहीं मिलते उसका मूल कारण यही है कि वह काव्य के इस आधारभूत सिद्धान्त साधारणीकरण पर खरी नहीं उतरती। जब कृति में उसका रचयिता सर्वथा अलग हो उसका व्यक्तित्व ही उसमें नहीं हो तब उससे रागात्मक सम्बन्ध संस्थापित करने की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। कोई कृति साहित्य अथवा कला की सीमा में तभी आयेगी जब कि उसमें प्रेषणीयता का तत्व रहेगा। नई कविता के पक्षधर कभी-कभी शुक्ल जी की 'लोक सामान्य भाव भूमि' पर प्रहार करते है और अपनी कविता को बौद्धिक रूप से उत्कृष्ट बतला कर उसे जन सामान्य की समझ के बाहर निरूपित करते है और प्रायः पाठकों की रुचि का परिष्कार करने और उन्हें प्रशिक्षित करने का दावा करते है जो अत्यन्त अतार्किक और असगत है। हिन्दी का पाठक जहा सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला, और महादेवी के काव्य का आनन्द लेने में सक्षम है वहाँ इन नये कवियों की अराजकतावादी वस्तु और उनका अव्यवस्थित शिल्प उनकी ग्राह्य शक्ति की कसौटी नहीं हो सकती। यह कहकर मैं भावक की निरी शून्यता की वकालत नही कर रहा हूँ। क्योंकि सहृदयता के सहयोग के बिना काव्य के आस्वादित होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसीलिए अभिनव गुप्त ने कवि एव प्रमाता दोनो के अनुभवों के साधारणीकरण का निरूपण किया है।

आचार्य शुक्ल से लेकर प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सभी इस साधारणीकरण को काव्य का आधारभूत सिद्धान्त मानते हैं जो आज आलोचना सिद्धान्तों मे अपना एक प्रमुख स्थान रखता है।

सामाजिक एव युग सापेक्ष्य

हिन्दी-आलोचना व्यक्ति स्वातन्त्र्य को प्रमुखता देते हुए भी वह फ्रायड और मार्क्स की अभिव्यक्तिवादी धाराओं से सर्वथा भिन्न है। आज का आलोचक कृतिकार की परीक्षा सामाजिक स्थितियो, उसकी व्यवस्था और युगीन परिस्थिति के प्रकाश मे ही करता है। समाज जहा कतिपय स्थायी मूल्यो द्वारा स्थायित्व ग्रहण करता है वहा उसे युगानुरूप कुछ मूल्यो का और निर्माण करना पड़ता है और यदि पारम्परिक जीवन–मूल्य युगीन स्थितियो के अनुसार ह्रासोन्मुखी है तो एक प्रगतिशील समाज उन मूल्यो को त्यागने मे भी नहीं हिचकता है। हमने अनेकों सामन्तीय युग के मूल्यो का त्याग दिया, क्योंकि वे हमारे समाज को आगे बढ़ने मे बाधा डालने लगे और वर्तमान युग मे चरण मिलाकर चलने मे पगु सिद्ध हुए। अत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आलोचना के क्षेत्र मे भारतीय समाजवाद की प्रतिष्ठा के पश्चात बराबर इस परम्परा का विकास सर्वश्री डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि मे देखा जा सकता है। डा० नगेन्द्र ने ही हिन्दी-साहित्य मे प्रथम बार रीतिकाल की कविता और कवि देव की कविता मे और समाज की पार्श्वभूमि मे आधुनिक आलोचको द्वारा उपस्थित एक कवि का सागोपाग विश्लेषण मिलता है। यह इस बात का द्योतक है कि आज आलोचक युग और समाज के प्रति अपना दायित्व समझता है। अन्यथा हिन्दी मे सस्कृत के विद्वानो ने अपने पारम्परिक मान बना लिए थे और बिना उस युग विशेष और समाज विशेष की परिस्थितिया को जिसमे कि कृतिकार पैदा हुआ है बिना ध्यान दिये ही उन बाटो से उसे तौल दिया करते थे।

आज का आलोचक कृतिकार की कला का मूल्याकन करते समय जहा कृतिकार की मन स्थितिया का अध्ययन करता है वहीं उस युग और समाज की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक उपलब्धियों का भी उन मन स्थितियो के प्रकाश मे विश्लेषण करता है। यद्यपि वे स्थितिया होती हैं

जिनकी प्रक्रिया स्वरूप ही उसकी मनःस्थितियों का निर्माण होता है और वह कृति विशेष की रचना में संलग्न हो जाता है।

युग और समाज का सम्यक् अध्ययन न होने पर आलोचक प्राचीन साहित्यकारों का सम्यक, निरपेक्ष तथा निष्पक्ष अध्ययन प्रस्तुत नहीं कर सकते क्योंकि न केवल उनके लिए युग और समाज का उतना गहराई से अध्ययन ही वाञ्छनीय है अपितु उस कवि विशेष की जब तक कि उसका अध्ययन और मनन करे उसे उस प्राचीन युग का आलोचक प्राणी मानना होगा और उस युग की साहित्य की आत्मा को परखना होगा। इसके लिए अत्यन्त प्रगाढ़ ऐतिहासिक एवं सामाजिक मेधा की परमावश्यकता रहती है। वस्तुत. आलोचक को न केवल उस कृति विशेष का ही सम्यक अध्ययन होना चाहिये अपितु उसके लिए धर्मशास्त्र, इतिहास, राजनीति, सदाचारशास्त्र दर्शन सभी का उस युग विशेष के पार्श्व में प्रगाढ़ अध्ययन होना अनिवार्य है।[1] इस प्रकार का अध्ययन भी आज हमारे आलोचना-जगत में सर्वश्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० राजबली पाण्डेय, डा० नगेन्द्र आदि द्वारा पुष्कल मात्रा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

विचार और शिल्प की अभिन्नता

केवल शिल्प को लेकर हिन्दी-आलोचना में बहुत चर्चा हुई है। सम्पूर्ण अभिव्यंजनावाद बहुत को सर्वथा अस्वीकार कर मात्र शिल्प पर आधारित है और आज का आधुनिक साहित्य भी वस्तु और विचारणा की अवहेलना कर बहुत कुछ एक अराजकतावादी शिल्प को प्रश्रय दिये हुए है। इतने एकांगी-ऐसे हठवादी तो हमारे संस्कृत के प्राचीन समीक्षाशास्त्री भी नहीं थे। वे किसी न किसी रूप में काव्य-वस्तु से समझौता कर ही लेते थे।

वस्तुत. साहित्य के लिए वस्तु और शिल्प दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण है वस्तुत एक के अभाव में दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हिन्दी का प्रबुद्ध आलोचक इसी मत का पक्षधर है जहाँ वह नये प्रतीकों, नवीन उपमानों और नवीन बिम्बों (Images) का काव्य में मुक्त हृदय से स्वागत करता है वहीं वह वस्तु और शिल्प को अन्योन्याश्रित मानता है। यदि रचयिता इन दो वस्तुओं में से किसी एक को कम महत्व देता है

1— Essays in criticism, Page 3.

और दूसरे को अधिक तो निश्चित रूप से उसकी रचना काव्य की उदात्त भूमि की सीमा से कुछ दूर हो जायगी। इस सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का दृष्टिकोण विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने लेखक की इस दुविधा का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक और सटीक विश्लेषण किया है। वे लिखते हैं —

"अनेक चरित्रों, चरित्र रेखाओं, दृश्य चित्रणों, संवादों, वर्णनों और अन्य उल्लेखों के माध्यम में साहित्यकार अपने जीवन-अनुभव और जीवन-मन्तव्य को व्यक्त करता है। इनकी व्याख्या और परीक्षा ही काव्य की वास्तविक व्याख्या और परीक्षा है। नाना अलंकारों और प्रसाधनों से वह अपनी इस रूप-सृष्टि से सजाता और अलंकृत करता है जिसमें कि उन रूपों की प्रेषणीयता बढ़ जाती है इस सम्पूर्ण (यह सम्पूर्ण विशेष ध्यान देने योग्य है) सार्थक रूप सृष्टि को ही काव्य, कला या साहित्य कहते हैं। आज के कई समीक्षक 'रूप' और 'मूल्य' की अलग अलग भूमिकाओं पर काव्य की परीक्षा करना चाहते हैं। परन्तु यह प्रयास वैसा ही है जैसे स्वर्ण-कुण्डल में सोना निकालने की चेष्टा करना।"[1]

इस भांति वस्तु और शिल्प की अभिन्नता सहज ही जिसे हमारा आज का प्रबुद्ध आलोचक का स्वीकार करता है।

सौन्दर्य-बोध

लोक और साहित्य एक दूसरे में अविच्छिन्न रूप में अनुस्यूत हैं। अतः साहित्य की समग्र सृष्टि जब तक समाज द्वारा अनुमोदित नहीं होगी तब तक उसकी सार्थकता सन्दिग्ध ही है। कवि की भावभूमि समाज द्वारा ही निर्मित होती है। उसकी संवेदन-शक्ति समाज में होने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन—उसके प्रत्येक स्पन्दन की अनुभूति करती है और उसकी व्यापक युगीन चेतना से मिश्रित कर तथा भावों के विभिन्न प्रसाधनों से सुसज्जित कर एवं पुनः उसे सहज प्रेषणीय बनाकर ये अनुभूतियां समाज तक पहुंचती हैं और उसे प्रत्येक के लिये सहज उपलब्ध कर देती हैं। इस भांति कवि-कर्म अपने सम्पूर्ण रूप में एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा वैयक्तिक चेतना को सामूहिक चेतना में परिणित करने की यदि किसी में क्षमता है तो वह कवि में ही है। यह जीवन की विविध परिस्थितियों एवं उसकी विभिन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं में भी नया रंग भरता है और उसे एक नया सौन्दर्य

[1]— नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० ७

प्रदान करता है। वह इन्हें ऐसे प्रेरक रूप मे समाज के सामने प्रस्तुत करता है कि उन घटनाओं की विकृतियो को भूलकर उनमे अपनी शक्ति के अनुसार हम भी नया रग भरे और हमारे समाज को अधिक प्राणवान बनायें। उसका यह कृतित्व इतनी उदनति भूमि पर स्थित रहता है कि उसका सौन्दर्य पाठक तक पहुंचकर उसके रूप और सौन्दर्य को और अधिक सुलभ कर देता है और उसमे से निराशा, पलायन, कुरुपता, निरुत्साह सर्वथा तिरोभूत हो जाते है।

किन्तु यहा एक प्रश्न और उठता है कि साहित्यकार की निजी अनुभूति निराशावादी, दु खान्त पलायनवादी है तो क्या उसके भावक मे वह निराशा और पलायन का उन्मेष नही करेगी। इसका उत्तर अस्तित्ववादी सार्त्रे ने बहुत अच्छा दिया है। एक दुःख का रुदन जो कि दु ख को उद्दीप्त करता है, दुःख का प्रतीक है किन्तु एक शोक-गीत दु ख भी है और उसके अतिरिक्त कुछ और भी है।[1] वस्तुतः साहित्य मे अवतरित होकर रचयिता का निराशावादी, पलायनवादी एव अन्य प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो मे एक गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है और वे अपना अस्तित्व खोकर भावक मे एक नये भाव का सचार करती है जो अपने आप मे अधिक प्राणवान होता है। वस्तुतः ये वैयक्तिक दु खानुभूतिया सामाजिक धरातल पर सामाजिक सवेदना के रूप मे ही प्रकट होगी और उसका सम्पूर्ण प्रभाव कोई दूसरा ही होगा। ऐसे प्रसगो मे प्राय. यह होता है कि साधारण लेखक समाज के सघर्षों से पलायन कर आत्ममुखी हो जाता है और उसकी यह आत्मोन्मुखता उसे निराशावादी बना देती है। फलस्वरूप वह अपने साधारण से दुःख को ऊहात्मक स्वरूप देने लगता है और वैयक्तिक वेदना को कभी विश्व वेदना मे तो कभी सामाजिक पीडा मे अनुस्यूत करने लगता है। इस प्रकार के भाव हृदय में निराशाजन्य भावो का उन्मेष करते है और सघर्षरत मानव को उससे विमुख करते है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सीमा मे समाज को अधिक स्वस्थ, उसे अधिक सुन्दर और प्राणवान् बनाने की सतत चेष्टा करता रहता है। साहित्यकार इस चेष्टा को और अधिक गति प्रदान करता है। और इस सौन्दर्य को अपने साहित्य द्वारा अधिक तीव्र करने का प्रयत्न करता है। किन्तु ऐसे साहित्यकार जो कि अपनी कुण्ठाओं को साहित्य मे अभिव्यक्त करते हैं वे एक असामाजिक कार्य करते है और साहित्य के महत्व और मानवतावादी प्रयोजन को अस्वीकार करते हैं।[1]

1— What is literature, by–Jean Paul Sartre, Page 3–4,

काव्य का आनन्द वैयक्तिक आनन्दानुभूति है। साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक वैयक्तिक क्रम ही है। किन्तु उसके उपरान्त भी यह आनन्द किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं है। यह अपने आप में सामाजिक है। साहित्यकार अपनी रचना से जिस भाँति एक भावक को आनन्दाविभोर करता है *जिस भाँति वह 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की प्राप्ति करता है* ठीक उसी भाँति समाज के अनेक व्यक्तियों को यह अनुभूति हो सकती है।

कवि की दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उदार होती है। वह साधारणता और लघुता में भी सौन्दर्य सधान करने की क्षमता रखती है। यदि उसमें यह सौन्दर्य-दृष्टि नहीं होती तो कदाचित् ही वह रचयिता का स्थान ग्रहण करने में सक्षम हो पाता। वस्तुतः जहाँ किसी सृजन का अभिधान आता है उसके साथ प्रच्छन्न रूप से सौन्दर्य तो निहित रहता ही है। मैं तो कवि और अन्य मनुष्यों में केवल उसकी इस सौन्दर्य-सधान की क्षमता के आधार पर ही विभाजन रेखा खींचता हूँ। हम जिसे एक सामान्य, कुसुम एवं मोटी वस्तु कहकर टाल देते हैं कवि उसी में सौन्दर्य सधान कर हमारे सामने इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह सौन्दर्य केवल उसी का न रहकर प्रत्येक व्यक्ति का बन जाता है। वह वस्तु नष्ट हो जाती है किन्तु काव्य में अवतरित होकर उसका सौन्दर्य स्थायीत्व ग्रहण कर लेता है। कतिपय आलोचक सौन्दर्य की अनुभूति को सर्वथा वैयक्तिक अनुभूति मानते हैं। क्योंकि आखिर सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्यानुभूति क्यों होती है? हम किसी वस्तु को अचानक सुन्दर और असुन्दर क्यों कह देते हैं? सौन्दर्य कोई वस्तु नहीं—कोई सिद्धान्त नहीं—कोई मनोग्रंथ नहीं। यह तो उसकी पीढ़ियाँ प्राचीन स्वस्थ संस्कारों से निर्मित सभियों की अरूप आनन्दमय अनुभूति की चिर विकासशील शक्ति है जिसे उसके इतिहास, दर्शन साहित्य, सदाचार शास्त्र तथा इन सबसे निर्मित उसकी संस्कृति का समर्थन भी प्राप्त है। यह शक्ति ही सौन्दर्य है। इसमें ऐन्द्रिय सुख भी सम्मिलित है और वह भी उतना ही पारम्परिक जितना कि उसके युगों और संस्कारों प्राचीन स्वस्थ संस्कारों द्वारा निर्मित रुचि इस भाँति सौन्दर्य की अनुभूति वैयक्तिक है वहीं इसका आधार सामाजिक और सांस्कृतिक है। अतः सौन्दर्य बोध वहीं होगा जहाँ वह सौन्दर्य समाज-स्वीकार्य है।

यों तो इंग्लैण्ड में लब्ध प्रतिष्ठ दार्शनिक डा० रसेल को गणित में भी उतना ही सौन्दर्य अनुकूल होता है जितना कि संगीत में, वस्तुकला में, चित्र-

कला आदि में ।[1] किन्तु क्या यह सौन्दर्य-बोध लोकानुमोदित सौन्दर्य-बोध है। क्या इसकी प्रतीति लोकसामान्य भावभूमि पर की जा सकती है, उत्तर है नहीं। सौन्दर्य-सधान की वस्तु व्यक्ति के जितने निकट होगी-उसका परिचय उस व्यक्ति से जितना अधिक होगा उतना ही उसे उतनी ही मात्रा में उसका सौन्दर्य-बोध भी होगा। किसी विभिन्न वस्तु को विभिन्न रूप से प्रतिपादन कर देना भावक के लिए एक बोझ ही है।

हमारी आज की आलोचना उपर्युक्त विश्लेषित दिशा में ही प्रवहमान है। उसका भावी स्वरूप इन्हीं प्रतिमानों का विकसित रूप होगा जिसके द्वारा एक ऐसे महान साहित्य का निर्माण और अधिक मात्रा में होगा जिसके द्वारा हमारे समाज को और अधिक प्राणवान बना सकेंगे। वह सदाचारी उसमें अनात्म से लड़ने की और शक्ति का सचार होगा।

1– Mysticism and Logic, P. 20

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ ग्रंथ

(१) रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
(२) मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद
(३) नन्ददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य
(४) लाला भगवानदीन	बिहारी और देव
(५) कृष्णबिहारी मिश्र	मतिराम ग्रंथावली
(६) पट्टाभि सीतारमैया	कांग्रेस का इतिहास भाग १-२
(७) शिवनाथ	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(८) सम्पादक डा० नगेन्द्र	हिन्दी की अर्वाचीन प्रवृत्तियां
(९) डा० रामविलास शर्मा	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना
(१०) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	रस मीमांसा
(११) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग १
(१२) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग २
(१३) रामदहिन मिश्र	काव्य-दर्पण
(१४) विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वाङ्मय विमर्श
(१५) डा० नगेन्द्र	विचार और विवेचन
(१६) डा० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति
(१७) नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी-साहित्य बीसवीं सदी
(१८) रामचन्द्र शुक्ल	गोस्वामी तुलसीदास
(१९) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अशोक के फूल
(२०) डा० एस०पी० खत्री	इतिहास तथा सिद्धान्त आलोचना
(२१) सुमित्रानन्दन पंत	पल्लव
(२२) नन्ददुलारे वाजपेयी	नया साहित्य नये प्रश्न
(२३) महादेवी वर्मा	छायावाद
(२४) सुमित्रानन्दन पंत	आधुनिक कवि पंत

(२५) रामकुमार वर्मा	आधुनिक कवि डा० रामकुमार वर्मा
(२६) जयशंकरप्रसाद	काव्य और कला
(२७) गंगाप्रसाद पाण्डेय	छायावाद और रहस्यवाद
(२८) महादेवी वर्मा	रश्मि
(२९) शांतिप्रिय द्विवेदी	युग और साहित्य
(३०) महादेवी वर्मा	आधुनिक कवि
(३१) डा० रामविलास शर्मा	संस्कृति और साहित्य
(३२) शचीरानी गुर्टू	हिन्दी के आलोचक
(३३) निराला	प्रबन्ध-प्रतिमा
(३४) डा० भगवतस्वरूप मिश्र	हिन्दी-आलोचना:उद्‌भव और विकास
(३५) शांतिप्रिय द्विवेदी	ज्योति-विहग
(३६) शांतिप्रिय द्विवेदी	संचारिणी
(३७) सं० महादेवी वर्मा	महाप्राण निराला
(३८) डा० बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग,१तथा२
(३९) लक्ष्मीनारायण	काव्य में अभिव्यंजनावाद
(४०) लक्ष्मीनारायण	जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त
(४१) रामनरेश वर्मा	वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
(४२) रामेश्वर शर्मा	राष्ट्रीय स्वधीनता और प्रगतिशील-साहित्य
(४३) पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	मैं इनसे मिला
(४४) इलाचन्द्र जोशी	विवेचना
(४५) इलाचन्द्र जोशी	विश्लेषण
(४६) अज्ञेय	त्रिशंकु
(४७) सं० अज्ञेय	तार सप्तक
(४८) डा०रामविलास शर्मा	प्रगति और परम्परा
(४९) डा० रामविलास शर्मा	प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें
(५०) शिवदान सिंह चौहान	साहित्य की परख
(५१) डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त	नया साहित्य, एक दृष्टि
(५२) अमृतराय	साहित्य और संयुक्त मोर्चा
(५३) अमृतराय	नयी समीक्षा
(५४) सीताराम चतुर्वेदी	समीक्षा शास्त्र

(५५)	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका
(५६)	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	कबीर
(५७)	डा० नगेन्द्र	भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा
(५८)	नन्ददुलारे वाजपेयी	सूर-सौरभ
(५९)	डा० नगेन्द्र	रीतिकाव्य की भूमिका
(६०)	डा० सत्येन्द्र	कला,कल्पना और साहित्य
(६१)	डा० सत्येन्द्र	गुप्त जी की कला
(६२)	डा० सत्येन्द्र	प्रेमचन्द कहानी-कला
(६३)	बाबू गुलाबराय एम० ए०	सिद्धान्त और अध्ययन
(६४)	विनयमोहन शर्मा	दृष्टिकोण
(६५)	विनयमोहन शर्मा	कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियां
(६६)	विनयमोहन शर्मा	साहित्य-कला
(६७)	स० शचीरानी गुर्टू	सुमित्रानन्दन पंत
(६८)	सुमित्रानन्दन पंत	ग्राम्या
(६९)	हजारीप्रसाद द्विवेदी	विचार और विमर्श
(७०)	बाबू गुलाबराय एम०ए०	काव्य के रूप
(७१)	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	भूषण ग्रंथावली
(७२)	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	बिहारी
(७३)	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	बिहारी की वाग्विभूति
(७४)	रामनरेश वर्मा	वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
(७५)	पद्मसिंह शर्मा	बिहारी सतसई की भूमिका
(७६)	कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकार मंजरी
(७७)	कन्हैयालाल पोद्दार	रस मंजरी
(७८)	श्यामसुन्दरदास	हिन्दी भाषा और साहित्य
(७९)	श्यामसुन्दरदास	साहित्यालोचन
(८०)	डा०रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
(८१)	डा० सूर्यकान्त शास्त्री	हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
(८२)	कृष्णशंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास
(८३)	डा०रामकुमार वर्मा	हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

(८४) राहुल सांकृत्यायन	हिन्दी काव्यधारा
(८५) हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी-साहित्य का आदि युग
(८६) हजारीप्रसाद द्विवेदी	नाथ-सम्प्रदाय
(८७) डा० रांगेय राघव	गुरु गोरखनाथ
(८८) डा० धर्मवीर भारती	सिद्ध-साहित्य
(८९) परशुराम चतुर्वेदी	भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा
(९०) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	पद्मावत
(९१) सरला शुक्ल	जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य
(९२) कमल कुलश्रेष्ठ	भारतीय प्रेमाख्यान काव्य
(९३) डा० माताप्रसाद गुप्त	तुलसीदास
(९४) डा० माताप्रसाद गुप्त	तुलसी
(९५) डा० बल्देवप्रसाद मिश्र	तुलसी-दर्शन
(९६) डा० राजपति दीक्षित	तुलसीदास और उनका युग
(९७) कामिल बुल्के	रामकथा की उत्पत्ति और विकास
(९८) डा० दीनदयालु गुप्त	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
(९९) डा० मुंशीराम शर्मा	भारतीय साधना और सूर साहित्य
(१००) ब्रजेश्वर वर्मा	सूरदास
(१०१) डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित	कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत
(१०२) डा० गोवर्धनलाल शुक्ल	परमानंददास और उनका साहित्य
(१०३) स० डा० नगेन्द्र	हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास खण्ड ४
(१०४) विश्वनाथप्रसाद दीक्षित	घनानन्द और आनन्दघन
(१०५) डा० विजयेन्द्र स्नातक	राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य
(१०६) डा० शशिभूषण	श्री राधा का क्रमिक विकास
(१०७) डा० भागीरथ मिश्र	हिन्दी-रीति-साहित्य
(१०८) डा० नगेन्द्र	रीति शृंगार
(१०९) डा० ओमप्रकाश	(पूर्वार्द्ध) हिन्दी अलंकार साहित्य
(११०) डा० ओमप्रकाश	(उत्तरार्द्ध) हिन्दी काव्य और उसका साहित्य

(१११) डा० केशरीनारायण शुक्ल — आधुनिक काव्य धारा
(११२) शिवदानसिंह चौहान — हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष
(११३) डा० देवराज उपाध्याय — आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान
(११४) डा० सोमनाथ गुप्त — हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
(११५) डा० एस० पी० खत्री — नाटक की परख
(११६) डा० नगेन्द्र — आधुनिक हिन्दी नाटक
(११७) डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा — प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
(११८) प्रेमचन्द — साहित्य का उद्देश्य
(११९) डा० कृष्णलाल — हिन्दी साहित्य का विकास
(१२०) डा० जगन्नाथ शर्मा — कहानी का रचना विधान
(१२१) डा० ब्रह्मदत्त — हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन
(१२२) डा० धर्मवीर भारती — प्रगतिवाद एक अध्ययन
(१२३) डा० नगेन्द्र — साकेत एक अध्ययन
(१२४) डा० इन्द्रनाथ मदान — प्रेमचन्द एक विवेचन।
(१२५) स० डा० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) प्रका० भा० हि० परिषद
(१२६) डा० राजबली पाण्डेय — हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास खण्ड १
(१२७) डा० रामविलास शर्मा — भारतेन्दु-युग

हिन्दी पत्र-पत्रिकायें (जिनके प्राचीन अंक सन्दर्भित हैं)

(१)	सरस्वती	(मासिक)
(२)	इन्दु	(मासिक)
(३)	प्रतीक	(त्रैमासिक)
(४)	साहित्य सन्देश	(मासिक)
(५)	वीणा	(मासिक)
(६)	आलोचना	(त्रैमासिक)
(७)	कल्पना	(मासिक)
(८)	विशाल भारत	(मासिक)
(९)	हंस	(मासिक)
(१०)	नया सवेरा	(सप्ताहिक)
(११)	नई चेतना	(मासिक)
(१२)	सम्मेलन पत्रिका	(त्रैमासिक)
(१३)	नागरी प्रचारणी पत्रिका	

संस्कृत-साहित्य के सन्दर्भ ग्रन्थ

[१] तैत्तिरीयोपनिषद

[२] महाभारत

[३] भरत-नाट्यशास्त्र

[४] अभिनवभारती-नाट्यशास्त्र व्याख्या-गायकवाड ओरियंटल सीरीज खण्ड १, २ तथा ३।

[५] विश्वनाथ-साहित्यदर्पण--शालिगराम शास्त्रीकृत विमला --द्वितीय संस्करण

[६] कुन्तक-वक्रोक्तिजीवितम्-एडीटड बाई० डा० सुशीलकुमार डे

[७] ,, ,, --आचाय विश्वेश्वर कृत हिंदी अनुवाद

[८] ईश्वरकृष्ण-साख्यकारिका --डा० आद्याप्रसाद मिश्र कृत हिंदी व्याख्या साख्यतत्वकौमुदी सहित।

[९] क्षेमेन्द्र-औचित्यविचार चर्चा-कवि कण्ठाभरण-काव्यमाला सस्करण

[१०] भामह-काव्यालकार।

[११] रुद्रट-काव्यालकार

[१२] वामन-काव्यालकार सूत्र-कामधेनुवृत्ति

[१३] दण्डी-काव्यादर्श

[१४] वेदान्तसूत्र-बादरायण-शांकरभाष्य सहित

[१५] सर्व दशन सग्रह-माधवाचाय-कावेल कृत अंग्रेजी रूपान्तर

[१६] कालिदास-मालविकाग्निमित्रम्

[१७] माघ शिशुपालवधम

BIBLIOGRAPHY OF ENGLISH BOOKS & PERIODICALS REFFERED IN THE THESIS

Books.

1 The Discovery of India.	Jawaharlal Nehru.
2 First Decade (of Indepen- dence)	USIS.
3 Lyrical Ballads.	Wordsworth.
4 The Renaissance in India.	Arvind Ghosh.
5 The Mannual of ethics.	Mackenzi.
6 History of Aesthetics.	Bosan.
7 History of Sanskrit literature	Dr. S. N. Das Gupta.
8 Essays in Criticism.	Mathew Arnold.
9 principles of Literary Cri- ticism.	I. A. Richards.
10 Romanticism.	Aber Crombe.
11 The Outline of Art.	William Orpen.
12 Gospel of Ramakrishna.	M.
13 The Works of Oscar Wilde.	Collins, London Publishers.
14 A History of English Cri- ticism.	George Sandsbury.
15 The Poetic Image.	C. D. Lewis.
16 Critical approaches to Lite- rature.	David Daiches.
17 A History of Modern Criticism.	Rene Wellek.
18 Aesthetics,	Croce.
10 Philosophy of Croce.	Wilden Carr.
20 Literature and Art.	Karl Marx and Engles.
21 What is Art	Tols-Toy.
22 Literature and Psychology.	Lucas.
23 Encyclopaedia of Social Sciences Vo. II.	

24	The Relations of poet today Dreaming (Collected Papers)	Freud
25	Collected Essays in Literary Criticism	Herbert Reed
26	A small encyclopaedia of Social Sciences	
27	Psychology of C J Jung	Dr Jalon Jacopi
28	Psychology and Literature	C J Jung
29	Studies in dying Culture	Caudwell
30	Illusion and Reality	Do
31	Manifesto of the Communist Party	Marx and Engles
32	Novel and the People	Raephox
33	Dialectical Materialism	Stalin
34	Feurbach	Engles
35	Elementary Course in Philosophy	Politzer
36	Biographical history of Philosophy	
37	The Social philosophers	Edited-Collins Publishers
38	The Social philosophers	-Do- -Do-
39	The Holy Family	Engles
40	Dialectics of Nature	Engles
41	On the History of philosophy	Zedenov
42	Indian Economics	Jathar and Beri
43	*India today*	Frank Moraes
44	Selected Prose	T S Eliot
55	What is literature	Jean Paul Sartre
46	Existentionalism and Humanism	-do-
47	Biography of Mahatma Gandhi	Roma Rolland
48	Empiro Criticism	Lenin
49	Poetics and Rhetoric	Aristotle

50 The Nirgun School Hindi Poetry. Dr. P. D. Barthwal-

PERIODICALS.

1- Indian Historical Quarterly.
2- Essays in Criticism, (A Quarterly Journal of Literary Criticism).
३- Times of India (Freud Centeuary Number).